विश्व इतिहास के विलुप्त अध्याय

पुरुषोत्तम नागेश ओक

श्री ओक की इतिहास पर खोजपूर्ण रचनाएं

भारत का द्वितीय संग्राम अर्थात् आज़ाद हिन्द फौज की कहानी

भारतीय इतिहास की भयंकर भूलें

ताज महल मन्दिर भवन है

भारत में मुस्लिम सुल्तान भाग - (2 खण्ड)

हास्यास्पद अंग्रेज़ी भाषा

कौन कहता है अकबर महान था?

विश्व इतिहास के विलुप्त अध्याय

ताजमहल तेजोमहालय शिव मन्दिर है

आगरा का लाल किला हिन्दू भवन है

दिल्ली का लाल किला लाल कोट है

फतहपुर सीकरी हिन्दु नगर है

लखनऊ के इमामबाड़े हिन्दू भवन हैं

वैदिक विश्व राष्ट्र का इतिहास - (4 खण्ड)

क्या भारत का इतिहास भारत के शत्रुओं द्वारा लिखित है ?

क्रिश्चियनिटी कृष्ण नीति है

The Taj Mahal Is A Temple Palace

World Vedic Heritage

Some Blunders Of Indian Historical Research

Some Missing Chapters Of World History

Who Says Akbar Was Great

Agra Red Fort Is A Hindu Building

Christianity Is Chrisn-nity

विश्व इतिहास के विलुप्त अध्याय

लेखक : पुरुषोत्तम नागेश ओक

हिन्दी साहित्य सदन
नई दिल्ली - 05

अनुक्रम

आमुख

इस पुस्तक का उद्देश्य विश्व को इतिहास के सम्बन्ध में आयी हुई शिथिलकारी तन्द्रिलावस्था से जागृत और सचेत कर यह बताना है कि सीखने और भुला देने के लिए अगाध भण्डार विद्यमान है।

विश्वभर में आज जो इतिहास पढ़ाया, प्रस्तुत किया जा रहा तथा अनुमान किया जा रहा है, उसमें अनेक भ्रान्त धारणाएँ हैं, जिनमें से कुछ तो ऐसी हैं जिनके कारण विगत घटनाओं को बिल्कुल उलटे रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। इसका एक दृष्टान्त पश्चिमी विद्वानों द्वारा प्रचारित यह प्रचलित जन-विश्वास है कि आर्य एक जाति है, और आर्यों ने भारत पर आक्रमण किया था तथा इस देश को ही अपना घर, निवासस्थान बना लिया था। ये दोनों ही, इतिहास सम्बन्धी भ्रान्त, विपरीत धारणाएँ हैं। आर्य कोई जाति नहीं, अपितु हिन्दू जीवन-पद्धति हैं, और आर्य धर्म को हिन्दुओं ने ही अखिल विश्व में फैलाया था, अर्थात् भारतीयों ने विश्व के विभिन्न भागों में निष्क्रमण किया था।

एक अन्य बड़ा भ्रमजाल उस मुस्लिम-वर्ग के सम्बन्ध में है जिसे सूफ़ी वर्ग कहते हैं और जिनको अथक परिश्रम से महान् सन्त-रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। उनके जीवन की निकट से अतिसूक्ष्म और निष्पक्ष परीक्षा करने पर उनमें से अधिकांश लोग उस संदशनी का दूसरा भाग प्रतीत होंगे जो हिन्दू (भारतीय) सभ्यता का गला घोंटने में विदेशी मुस्लिम राज-सत्ता का साथ दे रहे थे।

अत्यन्त सावधानीपूर्वक प्रचारित तीसरा भ्रमजाल शेरशाह, फ़िरोज़-शाह और अकबर जैसे भारत में विदेशी शासकों की प्रकल्पित महानता के बारे में है। विचारों और कर्मों की दृष्टि से विदेशी होने का उनका तथ्य यह कहकर अत्यन्त सतर्कतापूर्वक दबाया जा रहा है कि वे भारत में ही

स्थायी रूप से निवास करने लगे थे। ऐसा कुतर्क प्रस्तुत करते समय वे इस अनुभूति की भी उपेक्षा कर देते हैं कि यदि कोई अन्य देशीय दस्यु-दल स्वयं को किसी ग्राम में स्थायी रूप से निवास-योग्य बनाकर चहुँ ओर की निकट-वर्ती सीमाओं पर स्थित घरों को लूटने और महिलाओं का सतीत्व भंग करने में सफल हो जाए, तो क्या वह नागरिकता का हक़दार हो जाता है ?

यह भी अज्ञात है कि चिरकालीन, विस्मृत विगतकाल में हिन्दू लोगों का अर्थात् आर्यों का एक विश्व-साम्राज्य था और उस समय विश्व संस्कृत भाषा बोलता था। यही कारण है कि विश्व के अधिकांश लोग स्वयं को आर्य सम्बोधित करते हैं, और लैटिन व फ़ारसी जैसी संस्कृतनिष्ठ भाषाएँ बोलते हैं।

यूरोपीय और फ़ारसी व पश्तो जैसी अन्य भाषाओं को भारोपीय भाषाएँ कहना शाब्दिक विरूपता, असंगति है। क्योंकि, यदि, भयंकर भूल करने वाले पश्चिमी विचारकों के अनुसार आर्य लोग किसी बाह्य-स्थान से, भारत सहित, समस्त विश्व में फैल गए थे, तो यूरोपीय भाषाओं और फारसी व पश्तो को आर्य भाषाओं के नाम से सम्बोधित किया जाना चाहिए था न कि भारोपीय नाम से। चूँकि वे सब भाषाएँ संस्कृत-मूलक हैं, अतः उनका नाम-करण इण्डो-आर्यन न होकर, भारतीय अथवा आर्य अथवा संस्कृत भाषा होना चाहिये। इन तीनों नामों का एक ही अर्थ है।

इससे यह स्पष्ट है कि निराधार धारणाओं की अयुक्ति-युक्तता, स्पष्ट और विधि-सम्मत प्रकार से विचार करने वाले सभी मनुष्यों के समक्ष उजागर हो जाती है।

वर्तमान ऐतिहासिक धारणाओं में एक अन्य गम्भीर दोष मध्यकालीन ऐतिहासिक भवनों के मूलोद्गम के सम्बन्ध में है। कम-से-कम भारत में तो सभी मध्यकालीन मकबरे, मस्जिदें, किले, स्तम्भ, पुल, नहरें, भवन और सड़कें मुस्लिम-पूर्व हिन्दू-मूल की हैं, और फिर भी उनमें से प्रत्येक का निर्माण-श्रेय इस या उस विदेशी सुल्तान को दिया गया है। इस दोष ने हिन्दू शिल्पकला को जिहादी-कला का विश्वास दिलाकर वास्तुकला के विद्यार्थियों के दिमागों की सफाई करने का दोष भी उत्पन्न कर दिया है। इण्डो-आर्यन शब्दावली के समान ही, इण्डो-सारसेनिक (भारतीय जिहादी)

शब्दावली भी अयुक्तियुक्त है। यहाँ भी 'सारसेनिक' प्रत्यय समाप्त कर दिया जाना चाहिये, और (भारतीय) भवनों को मात्र शुद्ध भारतीय, हिन्दू ऐतिहासिक भवन ही कहा जाना चाहिये। उन भवनों के मुस्लिम मूलोद्‌गम के बारे में भ्रान्ति का कारण यह है कि हिन्दू मन्दिरों और भवनों पर मकबरे और मस्जिदों के रूप में मुस्लिमों का आधिपत्य रहा और वे इनका दुरुपयोग करते रहे हैं। यह बात 'ताजमहल एक हिन्दू राजभवन है', 'फतेहपुर सीकरी एक हिन्दू नगर है' और 'आगरे का लालक़िला हिन्दू भवन है' तथा 'दिल्ली का लालक़िला हिन्दू लालकोट है' जैसी सुप्रसिद्ध पुस्तकों में प्रमाणित की जा चुकी है। वर्तमान पुस्तक में हमने एक अध्याय सम्मिलित किया है जिसमें स्पष्ट प्रदर्शित किया है कि आक्रमणकारी तैमूर-लंग ने स्वयं ही स्वीकार किया है कि इस्लामी विजय और आधिपत्य के पूर्व पुरानी दिल्ली की तथाकथित जामा-मस्जिद एक हिन्दू मन्दिर थी।

ऐसी सब भयंकर भूलें अनेक कारणों से ही इतिहास में पक्की तौर पर जड़ें जमा बैठी हैं। ऐसा एक कारण सहज, प्राकृतिक रूप में विनाश है। समय की निर्बाध गति के साथ-साथ जिस प्रकार प्रत्येक आने वाली पीढ़ी अपने प्रपितामह के नाम को भूलने लगती है, उसी प्रकार प्राचीन इतिहास भी विस्मृत होता जाता है। इतिहास का सदोष हो जाने का अन्य कारण विदेशी आधिपत्य है; जैसे भारत पिछले हज़ार वर्ष तक आंग्ल-इस्लामी शासन का गुलाम रहा है। विदेशी शासक अपने अधीन प्रजा के इतिहास को जान-बूझकर तोड़ते-फोड़ते, विनष्ट, विकृत करते हैं। ऐसा क्यों और कब होता है, इस तथ्य का स्पष्टीकरण भी इस पुस्तक के एक अध्याय में दिया गया है। एक तीसरा कारण यह है कि गुलाम जनता के लिए, जो पहले ही क्रमिक रूप में निर्धन और घरों से निर्वासित कर दी गई होती है, शारीरिक दृष्टि से असम्भव और मनोवैज्ञानिक रूप से निरर्थक हो जाता है कि वह पूर्णतः लुट गई अपनी सम्पत्ति का कोई अभिलेख रख सके। इतिहास के विनाश अथवा उसकी विकृति के लिए उत्तरदायी चौथा कारण तलवार और मशाल लिये बर्बर अरब-लोगों द्वारा व्यापक नर-संहार और सम्मानित राष्ट्रों द्वारा युद्ध था। इन सब घटनाओं के कारण एक प्राचीन विश्व हिन्दू-

साम्राज्य और विश्व भाषा के रूप में संस्कृत के योगदान के चिह्न नष्ट धूमिल होते रहे हैं।

इन सब कारणों से भारतीय और विश्व-इतिहास-ग्रन्थों में अनेक मिथ्या बातें प्रविष्ट हो गई हैं, जिन्होंने ऐतिहासिक सत्य की जड़ें खोखली कर दी हैं और इतिहास को सत्य से बहुत दूर ला पटका है। इस ग्रन्थ द्वारा मैं प्रचलित ऐतिहासिक धारणाओं के बहुत सारे दूरगामी दोषों को जनता के सम्मुख प्रस्तुत कर रहा हूँ।

पाठकों से निवेदन है कि वे इन दोषों को भलीभाँति समझ लें। समझ लेने के पश्चात् वे इन तथ्यों का प्रचार-प्रसार करें। भारत स्थित सारे ऐतिहासिक भवन इस्लाम-पूर्व भारतीय क्षत्रियों की सम्पत्ति हैं इस सत्य को सर्वज्ञात कराना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। पुरातत्त्व विभाग द्वारा उन भवनों पर जो ऐतिहासिक सूचनापट लगाए गए हैं वे भ्रान्तिपूर्ण होने के कारण उन्हें बदलवा लेना जनता का कर्तव्य है। विद्यालयों में अध्यापकगण आँखें मूंदकर जो पुरानी भ्रान्तिपूर्ण धारणाएँ दोहरा रहे हैं उस परिपाटी को भी समाप्त करना आवश्यक है। इतना दोष-भरा इतिहास बिना किसी रोक-टोक के सदियों से चल रहा है, इसका कारण यह है कि सामान्य जन इतिहास के प्रति लापरवाह हैं और अधिकारी व्यक्ति स्वार्थ और भय से ग्रस्त हैं। हम इस झूठे इतिहास को कितने दिन सहते रहेंगे, इसका विचार प्रत्येक पाठक करे।

पु० ना० ओक
अध्यक्ष
भारतीय इतिहास पुनर्लेखन संस्थान

एन-१२८, ग्रेटर कैलास-१,
नयी दिल्ली-११००४८

: १ :

भारतीय इतिहास की विडम्बना

"ताजमहल मन्दिर भवन है" शीर्षक स्तब्धकारी पुस्तक डंके की चोट सिद्ध करती है कि अन्ततोगत्वा, ताजमहल पाँचवीं पीढ़ी वाले मुग़ल बादशाह शाहजहाँ की आत्मश्लाघापूर्ण संरचना न होकर एक अति प्राचीन हिन्दू मन्दिर-राजभवन संकुल है जिसे मुमताज़ के मकबरे के रूप में उपयोग हेतु बलात् छीन लिया गया था।

ताजमहल-सम्बन्धी मेरे शोधग्रन्थ के पश्चात् विकृत इतिहास के विभिन्न दोषों पर मैं और भी ग्रन्थ लिख चुका हूँ। इन पुस्तकों को पढ़ने और मेरे अनेक भाषणों को सुनने के पश्चात् लोगों को ऐसा प्रतीत होने लगा है कि यदि व्यापक रूप में अध्ययन किया जा सके, तो ये उपलब्धियाँ और कार्य-पद्धति न केवल भारतीय, अपितु विश्व इतिहास के अध्ययन और अव-बोधन में भी क्रान्ति ला सकेंगी।

यह ठीक ही कहा गया है कि किसी नयी उपलब्धि का मूल्य एक नया सिद्धान्त स्थापित करने अथवा किसी पुरातन सिद्धान्त का खण्डन करने में उतना नहीं है जितना कि प्रचलित धारणा को युगों-प्राचीन घिसे-पिटे रास्ते से हटाकर नये मार्ग पर चला सकने में है। यथार्थ रूप में तो यही वह महान् कार्य है जिसको इतिहास के क्षेत्र में प्रोफ़ेसर ओक ने कर दिखाया है। उन्होंने ऐतिहासिक धारणा को शताब्दियों के घिसे-पिटे मार्ग से पृथक् कर दिया है।

किसी भी आक्रमण का सर्वप्रथम प्रहार इतिहास पर ही होता है। इस बात को हम अपने ही अनुभव से सत्यापित भी कर सकते हैं। इस समय हमारी सीमाओं का उल्लंघन पाकिस्तान और चीन द्वारा किया जा रहा है। हमारे देश की धरती पर आक्रमण करने से पूर्व ही उस भू-खण्ड पर अपना

दावा सिद्ध करने के लिए शत्रु झूठे नक्शे बनाता है। वह हमारी सीमाओं पर अपना दावा सिद्ध करने के लिए अगला काम यह करता है कि सीमाओं पर लगे स्तम्भों को गिरा देता है। हम इस प्रकार स्पष्ट रूप में देखते हैं कि आक्रमण करने के क्षण से अथवा आक्रमण की तैयारी करने के क्षण से भी पूर्व से ही शत्रु-देश आक्रमण के शिकार देश का इतिहास नष्ट करना प्रारम्भ कर देता है। हम, इन परिस्थितियों में भलीभाँति अनुभव कर सकते हैं कि मुहम्मद बिन कासिम (सन् ७१२ ई०) से लेकर ब्रिटिश लोगों के बहिर्गमन (सन् १९४७ ई०) तक निरन्तर आक्रमणों की १२०० वर्षीय दीर्घावधि में भारतीय इतिहास को कितनी अधिक क्षति पहुँचायी गयी होगी, कितना अधिक तोड़ा-मरोड़ा गया होगा।

दासता की एक हजार वर्ष से अधिक की इस अवधि में हमारे इतिहास को न केवल तोड़ा-मरोड़ा गया है, अपितु इसके अनेक अंशों को बिल्कुल गायब—विलुप्त कर दिया गया है। हमारे इतिहास के अनेक अध्याय विलुप्त हो चुके हैं—विशेष रूप में वे अध्याय जो प्राचीन हिन्दुओं के विश्व-व्यापी साम्राज्य से और उनकी भाषा—संस्कृत के विश्वव्यापी प्रभुत्त्व से सम्बन्धित थे।

इतिहास के अति व्यापक तोड़-मरोड़ और विकृति के रूप में हम उन मध्ययुगीन भवनों का उल्लेख कर सकते हैं जिनको अकबर, हुमायूँ अथवा सफ़दरजंग के मकबरे कहा जाता है। यही बात अहमदाबाद और तुग़लकाबाद जैसी नगरियों की भी है। ये सभी मुस्लिम-पूर्व काल की हिन्दू कृतियाँ हैं, किन्तु दीर्घ मुस्लिम-आधिपत्य की घड़ी में इनका निर्माण-श्रेय इस या उस सुलतान अथवा दरबारी अथवा भिश्तियों, कुम्हारों और भंगियों जैसे निम्न-स्तरीय व्यक्तियों को दे दिया गया। क्या यह विचार कर सकना कठिन है कि जिन्होंने अपने निरन्तर आक्रमणों से हिन्दुस्तान पर झूठे दावे किए, उन्होंने ही इस देश के भवनों और नगरों पर भी झूठे दावे प्रस्तुत कर दिए? भारतीय और विश्व-इतिहास की ऐसी विकृतियों और विलुप्तियों के सम्बन्ध में विशेषोल्लेख हम अगले अध्यायों में करेंगे।

चूँकि आक्रमण का पहला शिकार इतिहास ही होता है, इसलिए स्वाभाविक रूप में बुद्धिगम्य बात यही है कि किसी भी देश को स्वाधीनता-

प्राप्त करने पर सर्वप्रथम कार्य अपने इतिहास का पुनर्लेखन करना ही होना चाहिये। दुर्भाग्यवश, भारत में इतिहास-पुनर्लेखन के सम्बन्ध में गम्भीरतापूर्वक कोई सद्-प्रयत्न किए गये प्रतीत नहीं होते। तथ्य तो यह है कि 'धर्म-निरपेक्षता' और प्रशासनिक अनिवार्यता के नाम में भूतकाल की घटनाओं की सत्यता को कम करके दिखाने अथवा उसकी प्रखरता को कम करने के अनेक प्रयत्न किये गये हैं। इसे ऐतिहासिक अथवा राजनीतिक गल्प-कथा के रूप में तो अंगीकार किया जा सकता है, किन्तु 'इतिहास' के रूप में तो यह बिल्कुल मूल्यहीन, अयोग्य वस्तु है। इसी कारण हमें 'इतिहास' की परिभाषा जानना आवश्यक हो जाता है।

संस्कृत भाषा का 'इतिहास' शब्द इस सम्बन्ध में अत्यधिक अर्थपूर्ण है। 'इति' का अर्थ है 'ऐसा-ऐसा', 'ह' का अर्थ है 'निश्चयपूर्वक' और 'आस' का अर्थ है 'हुआ'। इस प्रकार, यह शब्द किसी देश के विगतकाल के तथ्यात्मक और तिथिक्रमानुसार यथार्थ विवरण का द्योतक है। इस परिभाषा के विपरीत तथापि, मध्यकालीन भारत में परम्परागत रूप में जो कुछ सिखाया गया है और सम्पूर्ण विश्व में आज भी सिखाया जा रहा है वह 'इतिहास' न होकर 'इतिहा-नास' अर्थात् 'इस-इस प्रकार की बात कभी नहीं हुई' है। इस प्रकार, अत्यन्त स्पष्ट है कि तथ्यात्मकता के स्थान पर तथ्य-विरोधी बातों के समान ही इतिहास-विरोधी सभी बातें हैं जो भारतीय इतिहास के रूप में सम्पूर्ण विश्व में प्रचारित-प्रसारित की जा रही हैं। इस प्रकार, यह न तो 'भारतीय' है और न ही 'इतिहास' है।

अतः भारतीय इतिहास की विडम्बना यह है कि भारत की गुलामी की अति दीर्घावधि में भारतीय इतिहास को बिल्कुल उलट-पुलट दिया गया है। यह परिणमनीय विवेकशून्यता न केवल हमारी नितान्त निर्भयता का दुष्परिणाम है, अपितु ग्रीकों, अरबों, तुर्कों, ईरानियों, कज़ाकों, उज़बेकों, मंगोलों, अबीसीनियनों, पुर्तगालियों, फ्रांसीसियों और अंग्रेजों जैसे आक्रमणकारियों और शत्रुओं द्वारा लिखित विवरणों पर आत्मघाती विश्वास जमाने का दण्ड भी है।

अन्य कोई भी आत्म-सम्मानी देश ऐसी किसी स्थिति को सहन नहीं करेगा जिसमें उसके बच्चों को उसी के देश के शत्रुओं और गुलाम बनाने

वाले व्यक्तियों द्वारा लिखित इतिहास के ग्रन्थों, अध्यायों और प्रसंगों को हृदय से स्मरण करना पड़े और उन्हीं को उद्धृत करना पड़े। दुर्भाग्यवश हम भारत में वही भारतीय इतिहास पढ़ाते हैं और उसी की अनुमति दे बैठे हैं जो सब प्रकार से हमारे शत्रुओं द्वारा ही लिखा गया है। यह दुष्कर्म पाप कर्म विश्व के अन्य किसी भी भाग में नहीं किया जाता। उदाहरण के लिए इज़रायल देश इज़रायल का ऐसा कोई भी इतिहास नहीं पढ़ाएगा जो अरबों द्वारा लिखा गया हो, किन्तु हम भारतीय लोग अरबों द्वारा लिखित भारतीय इतिहास पढ़ाते हैं और वह भी अत्यन्त गौरव से। यही तो भारतीय इतिहास की घोर विडम्बना है।

इसका परिणाम यह है कि उस इतिहास को पढ़कर स्नातक बनने वाले हमारे प्रशासक अरब-पक्षपाती और ईरान-पक्षपाती नीति का अनुसरण करते हैं यद्यपि यही लोग आधुनिक विश्व में सर्वाधिक द्वेषी, दुर्बल, पिछड़े, विश्वासघाती, धर्मान्ध और महत्त्वहीन समुदाय हैं।

इस प्रकार अविकृत, विशुद्ध, अमिश्रित और आधिकारिक इतिहास के लेखन और शिक्षण का विशेष महत्त्व स्पष्ट हो जाता है क्योंकि विश्व के समस्त कार्य-कलापों पर किसी भी राष्ट्र का और उस राष्ट्र के नागरिकों का दृष्टिकोण इस बात पर निर्भर करता है कि उन्होंने अपना इतिहास किस प्रकार पढ़ा है—सीखा है। अतः, हमारा अगला अध्याय इस कटु-सत्य पर प्रकाश डालेगा कि विदेशी, शत्रु के तिथिवृत्त-लेखकों ने भारतीय इतिहास का कितना अधिक सर्वनाश किया है।

भारत का इतिहास भारत के शत्रुओं द्वारा ही लिखा गया है

यदि इतिहास की परिभाषा भूतकाल के तथ्यात्मक और तिथिक्रमागत यथार्थ घटना-विवरणों का लेखा-जोखा हो, तो भारतीय इतिहास अर्द्ध-सत्यों, मनमौजी काल्पनिक धारणाओं और नितान्त मन-गढ़न्त झूठों का अव-मिश्रण है। यह इन परिस्थितियों में अवश्यंभावी ही था क्योंकि मुहम्मद-बिन-कासिम के सन् ७१२ ई० के आक्रमण से प्रारम्भ कर सन् १९४७ ई० तक भारत, १२३५ वर्षों तक विदेशी गुलामी में जकड़ा रहा है।

अतिक्रमण का सर्वप्रथम शिकार इतिहास ही होता है। इस बात को अपने समकालीन अनुभव से भी परखा जा सकता है। कश्मीर से कच्छ तक और अक्षयचिह्न से असम तक भारत की सीमाओं का उल्लंघन पाकिस्तान और चीन द्वारा किया जाता रहा है। अतिक्रमण की घड़ी से अथवा उससे भी पूर्व तैयारी के रूप में ही सीमा के खम्भों को गिराकर और झूठे नक्शे बनाकर शिकार-देश के इतिहास को तोड़ना-मरोड़ना व विनष्ट करना प्रारम्भ कर देता है। त्रैराशिक सिद्धान्त को लागू करने पर हम स्वयं से प्रश्न करें कि यदि अस्थायी अतिक्रमण से भी इतिहास को इतनी हानि पहुँच सकती है, तो हम अनुमान लगाएँ कि १२३५ वर्षों में भारतीय इतिहास को कितना अधिक धक्का लगा होगा ? स्पष्टतः उत्तर यह है कि भारतीय इतिहास का तोड़ा-मरोड़ा जाना और विनाश सीमातीत रूप में भयावह है। गणितीय निष्कर्ष सिद्धान्त से हमें ज्ञात होता है कि यह जन-विश्वास सही है कि प्रचलित ऐतिहासिक ग्रन्थ घोरतम रूप में सदोष और अपूर्ण हैं।

उपर्युक्त निष्कर्ष का एक उप-सिद्धान्त यह होगा कि एक देश किसी विदेशी-शासन के अधीन जितनी अधिक लम्बी अवधि तक रहेगा, उस

पराधीन देश का इतिहास भी उतनी ही अधिक मात्रा में क्षतिग्रस्त हो जायेगा। अतः, स्वाधीनता-प्राप्ति के तुरन्त बाद इतिहास-पुनर्लेखन को आर्थिक-संरचना से भी अधिक प्राथमिकता मिलनी चाहिये क्योंकि गलत इतिहास पर पले-पोसे कर्मचारी प्रत्येक पग पर लड़खड़ाते और गलत निर्णय करने लगते हैं। उनकी सम्पूर्ण विचारधारा ही अस्पष्ट और पथ-भ्रष्ट होती है। किसी सम्पूर्ण समाज को सदोष इतिहास की मादक घूँट पिलाने का सत्यनाशी कुफल प्रज्ञावान व्यक्तियों द्वारा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए, विदेशी सम्बन्धों में देखा गया है कि त्रुटिमय इतिहास से विपरीत बुद्धि व्यक्ति यदि किसी स्वतन्त्र राष्ट्र के भाग्य का निर्णय—नेतृत्व करते हैं तो वे रवात मे रियाद तक उन्हीं के जूतों को चाटने की वृत्ति रखते हैं जो उनको ठुकराते हैं क्योंकि उनको घोर 'मुस्लिम सहायता' में विश्वास करना, घुट्टी की तरह, सिखाया गया है।

विदेशी शासन के अन्तर्गत इतिहास न केवल तोड़ा-मरोड़ा जाता है, अपितु दिशा-परिवर्तित भी हो जाता है। कई बार, इतिहास में इतना उलट-फेर कर दिया जाता है कि प्रत्येक प्रस्तुत व्यवहार-वचन का, प्रत्यक्ष कही हुई बात का प्रायः उलटा भाव ही सत्य होता है।

भारतीय जीवन और संस्कृति में इस 'मुस्लिम सहायता'—मुस्लिम योगदान—का प्रश्न लो। अबीसीनिया से अफ़गानिस्तान तक के अशिक्षित, निरक्षर बर्बरों द्वारा, हज़ार वर्ष में किये गये बलात्कार और लूट-पाट, आतंक और यातनाएँ क्या 'योगदान' हैं? अथवा 'वैर-साधन' है? ऐसे भयानक योगदान से छुटकारा प्राप्त करने के लिए भारत को जो भी कीमत चुकानी पड़े, चुकाएगा। हमें ऐसे योगदान की कोई आवश्यकता नहीं, अपितु हम उसे समाप्त करना चाहते हैं।

आइए, हम प्रायः सिद्धान्त के रूप में ही प्रस्तुत किए जाने वाले एक अन्य प्रश्न पर भी विचार करें कि क्या भारतीय इतिहास का कोई मुस्लिम दृष्टिकोण हो सकता है अथवा होना चाहिये? हिन्दुस्तान के इतिहास का मुस्लिम दृष्टिकोण न तो कोई हो सकता है और न ही कोई होना चाहिये। भारतीय इतिहास के मुस्लिम दृष्टिकोण की चर्चा करना उतना ही व्यर्थ, बेहूदा है जितना कोसिगिन विरचित संयुक्त राज्य का इतिहास अमेरिका में

पढ़ाना, हिटलर द्वारा लिखित इंग्लैंड के इतिहास को ग्रेट ब्रिटेन में निर्धारित करना और जर्मन लोगों को स्टालिन की लिखी हुई ज़र्मनी के इतिहास की पुस्तक पढ़ाना। यदि चिकित्सक श्री वृक को श्री मेमना जी प्लास्टिक-चिकित्सा करने के लिए सौंप दिये जाएँ, तो क्या वे परवर्ती की शरीर-रचना कनखियों से मात्र इसलिए नहीं देखेंगे कि कब इनको जल्दी-जल्दी निगल लिया जाय !

मैं यहाँ पर इस्लाम अथवा किसी मुस्लिम की बात न करके इतिहास के प्रति मुस्लिम दृष्टिकोण की चर्चा कर रहा हूँ। दृष्टान्त के रूप में, मैं कहूँगा कि भारत (हिन्दुस्थान) का इतिहास लिखने के लिए आँग्ल-मुस्लिम छाप व झुकाव वाले भ्रामक भारतीय विद्या भवन छाप के अन्तर्गत लिखने वाले किसी सरकार अथवा मजूमदार की अपेक्षा, मैं कलकत्ता के डॉक्टर जीलानी जैसे अरब-मुस्लिम को अधिक सक्षम मानकर विश्वास करूँगा।

इतिहास विदेशी शासन की दीर्घावधि में तोड़-मरोड़ दिया जाता है क्योंकि देशवासियों के मुँह बन्द रखे जाते हैं और वे गूँगे हो जाते हैं, तथा विदेशी शासक अपनी अधीनस्थ जनता पर मनगढ़न्त इतिहास थोप देते हैं। फिर, सम्पूर्ण प्रशासनिक एवं शैक्षिक तन्त्र-व्यवस्था उस विरूपित इतिहास के माध्यम से परतन्त्र समाज का मानस दिग्भ्रमित करने में लगा दी जाती है। विद्यालयों, महाविद्यालयों अथवा प्रतिस्पर्धात्मक नियुक्ति परीक्षाओं के प्रश्न-पत्र इस तथ्य का विशिष्ट उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। प्रश्न, प्रायः, अधिकांश रूप में सिर्फ़ किसी शेरशाह, फ़िरोज़शाह, अकबर, औरंगज़ेब, क्लाइव, बैंटिन्क अथवा वारेन हेस्टिंग्ज से ही सम्बन्धित होते हैं। जिस देश में हज़ारों वर्षों से करोड़ों हिन्दू निवास करते हों, वहाँ प्रायः सभी इतिहास-प्रश्नों का मात्र विदेशियों से ही सम्बन्धित रहना वीभत्स रूप में हृदय दहलाने वाली बात है। ऐसी बात अन्यत्र सुनी नहीं जाती। इससे भी अधिक दुःखदायी घटना यह है कि यह शैक्षिक बुद्धि-विपरीतता आज भी चल रही है यद्यपि हमें स्वाधीन हुए चौथा दशक चल रहा है। इस मनोवृत्ति ने हमारे प्रशासकों के दिमागों को भी ग्रसित और अपंग कर दिया है—यह इसी तथ्य से प्रत्यक्ष है कि वे इस देश को हिन्दुस्थान और उसके परम्परागत भगवा ध्वज को देश का राष्ट्र-ध्वज सरकारी रूप से घोषित करने में कँपकँपी

अनुभव करने लगते हैं। यह सब प्रदर्शित करता है कि हमारे ऐतिहासिक अहम् की गर्दन में विदेशी आधिपत्य का कितना भारी पत्थर चारों ओर लटका हुआ है !

भारतीय परीक्षकों को मुख्य रूप से राणा प्रताप और शिवाजी के बारे में, मराठा-शक्ति व सिक्खों तथा राजस्थान और नेपाल के अनेक शासकों के उदय के बारे में ही प्रश्न पूछने चाहिये। मुस्लिम शासकों के सम्बन्ध में, बड़ी ईमानदारी से, प्रत्येक द्वारा किए गए अत्याचारों, जनता को दिये गये अर्थ-दण्ड-प्रकारों, और धर्म-परिवर्तन के लिए उपयुक्त भीषण यातनाओं व आतंकों के बारे में ही प्रश्न पूछे जाने चाहिये। क्योंकि, यही वह बात है जो उनमें से प्रत्येक ने, चाहे वे आदिलशाह या कुतुबशाह हों, बहमनी, गुजराती सुलतान या दिल्ली के मुग़ल शासक हों, की है। किन्तु ऐसा कुछ न करके, उनके कुकर्मों को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है मानो गुलाब के फूल हिन्दुस्थान को अत्यन्त उदारतापूर्वक भेंट किये गये हों।

विदेशी मुस्लिमों द्वारा पिछले हज़ार वर्षों तक ऐसा विकृत इतिहास प्रचारित-प्रसारित किया जाना सहज, स्वाभाविक ही था। ब्रिटिश शासन के सौ वर्षों में ऐसे विकृत इतिहास का जारी रखना भी समझा जा सकता है क्योंकि अनिच्छुक तीसरे पक्ष के रूप में उनमें वह अन्तर्भावना, प्रेरणा विद्यमान नहीं थी जिससे प्रचलित इतिहास का प्रस्तुतीकरण अथवा प्रशिक्षण बहुत अधिक मात्रा में बदला जाता। क्योंकि वे भी विदेशी थे, इसलिए उन्होंने भी विकृति और तोड़-मरोड़ में अपना दमड़ी भर योगदान कर दिया। इस प्रकार, एक के बाद एक, दो विदेशी शासनों के अधीन होने पर, हिन्दुस्थान ने अपनी ऐतिहासिक दृष्टि को एक तो मुस्लिम-मोतियाबिन्द से और दूसरे ब्रिटिश भेंगेपन से दूषित कर लिया है। इन दोनों का घोर शल्योपचार करने से ही हिन्दुस्थान का इतिहासरूपी नेत्र सामान्य दृष्टि, ज्योति को प्राप्त कर पायेगा।

पूर्ण निष्पक्षता से कहा जा सकता है कि ब्रिटिश लोग काफी सभ्य थे। उनकी शासन-प्रणाली में बलात् शील-भंग और लूटपाट को कभी नहीं अपनाया गया। इतिहास को उन्होंने थोड़ा-बहुत मात्र राजनीतिक आवश्यकता-वश उल्टा-पुल्टा हो सकता है, किन्तु कभी भी कट्टरता और आन्तरिक,

अन्धाधुन्ध धार्मिक वैमनस्य के कारण नहीं। अन्वेषकों के रूप में, उन्होंने मुस्लिम तिथिवृत्तों में तोड़-मरोड़ और विसंगतियों को खोज निकालने का ईमानदारी से यत्न किया। अफ़गानों, अरबों, ईरानियों, कज़कों, उज़बेकों, तुर्कों और अबीसीनियनों द्वारा लिखित उन हज़ारों तिथिवृत्तों का पर्याप्त निष्पक्ष विवेचन का उदाहरण स्वर्गीय सर एच० एम० इलियट के अष्ट-खण्डीय अध्ययन में मिलता है। इसके प्राक्कथन में उन्होंने ठीक ही पर्यवेक्षण किया है कि भारत में मुस्लिम-युग का इतिहास "एक निर्लज्ज और जान-बूझकर किया हुआ धोखा है।"

किन्तु महान् सूक्ष्म दृष्टि के होते हुए भी सर एच० एम० इलियट एक घोर चूक करने के दोषी हैं। वह कदाचित् अवश्यम्भावी था क्योंकि उनका मस्तिष्क व हृदय विदेशी ही थे। उन्होंने अपने अष्ट-खण्डीय अध्ययन का शीर्षक रखा है—'भारत के अपने ही इतिहास-लेखक द्वारा लिखित भारत का इतिहास।' वह बड़ी भारी चूक है क्योंकि किसी भी प्रकार विचार करने पर शम्से-शीराज़ अफ़ीफ़, बदायूनी, खफ़ीखान, फ़रिश्ता, अबुल फ़ज़ल, बाबर, जहाँगीर, गुलबदन बेगम और तैमूरलंग जैसे लेखकों को भारतीय नहीं कहा जा सकता। वे प्रत्येक प्रकार से न केवल विदेशी थे, अपितु उनके हृदय में हिन्दुस्थान व हिन्दुत्व के प्रति घोर घृणा थी। इन लेखकों ने स्वयं को कभी भारतीय माना ही नहीं। वे तो सदैव अरब, अफ़गान, तुर्क, फारसी या अबीसीनियन कहलाने में गर्व अनुभव करते थे। इतना ही नहीं, वे हिन्दुस्थान के लोगों को सदैव 'चोर, लुटेरे, डाकू, बदमाश, काफ़िर, गुलाम, पाजी, कुत्ता, रंडी, और नाचने वाली' के भद्दे नामों से ही सम्बोधित करते रहे। अभी कुछ समय पूर्व जब पाकिस्तान के भुट्टो ने भारतीयों को 'कुत्ता' कहकर पुकारा था, तब उसने मात्र वही शब्दावली दोहरायी थी जो उसे हिन्दुस्थान के मुस्लिम तिथिवृत्तों में प्रत्येक स्थान पर लिखी हुई मिली थी। अतः, वास्तव में तो उन तिथिवृत्तों को 'भारत के अपने ही इतिहास-लेखकों द्वारा लिखित भारत का इतिहास' न मानकर 'भारत के कट्टर शत्रुओं द्वारा लिखित भारत का इतिहास' ही मानना चाहिये। प्रसंगवश, यही बात ब्रिटिश दृष्टिकोण से लिखी गई इतिहास-पुस्तकों पर भी प्रयोज्य है, यद्यपि अधिक सभ्य होने के कारण वे इतनी बुरी

अथवा झूठी नहीं हैं। किन्तु यदि हम ब्रिटिश अवधि के सम्बन्ध में पूछे गये प्रश्नों को स्मरण करें तो स्पष्ट दृष्टिगोचर होगा कि परीक्षाओं के प्रश्न-पत्रों में इस बैंटिक के सुधारों अथवा उस कार्नवालिस की जीतों के लिए ही चर्चा की होती है। वे आसानी से वारेन हेस्टिंग्स के अत्याचारों को अथवा क्लाइव की विश्वासघाती घटनाओं को कम कर देते हैं।

किन्तु स्पष्ट है कि मुस्लिम तिथिवृत्तों द्वारा पहुँचायी गयी क्षति अधिकाधिक होती जा रही है क्योंकि यह हज़ार वर्षों में की गई थी और क्योंकि हिन्दुस्थान इस्लामी कलमबन्ध से अभी भी बोझिल चला आ रहा है। जिस लेखन-शैली पर मुस्लिम-दिमाग़ पुष्ट और हिन्दू-मानस अपंग और निरादरित हुआ है, इसका उदाहरण किसी भी मध्यकालीन तिथिवृत्त से प्रस्तुत किया जा सकता है। वदायूनी ने पर्यवेक्षण किया है—"हिज़री सन् ९९८ में, राजा टोडरमल और राजा भगवानदास, जो पीछे लाहौर में ही रह गये थे, जल्दी से नरकावास और यन्त्रणाघर पहुँच गये (अर्थात् मर गये), तथा सबसे निचले गड्ढे में जाकर साँपों और बिच्छुओं का भोजन हो गये। अल्लाह उन दोनों को खूब चोट पहुँचाए।" (मुँतखाबुत तवारीख़) के अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ ३८३, खंड II के आधार पर)।

संक्षेप के कारण, अब मैं भारतीय इतिहास के कुछ विशिष्ट विपर्यास प्रस्तुत करूँगा। मुस्लिम शासक, निरपवाद रूप में, यद्यपि क्रूर-सम्भोगी रहे हैं, तथापि उनको न्यायप्रिय, दयालु, ज्ञान-संरक्षक आदि के रूप में चित्रित किया गया है। इस तथ्य की भलीभाँति परख, "कौन कहता है अकबर महान् था?"—शीर्षक पुस्तक से की जा सकती है। मुस्लिम शासकों ने किसी भवन, क़िले, पुल, मकान, नहर, मकबरे अथवा मस्जिद को नहीं बनवाया। वे सब हिन्दू-संरचनाएँ हैं। "ताजमहल हिन्दू राजमहल है", "आगरे का लालक़िला हिन्दू भवन है", तथा "फतहपुर सीकरी हिन्दू नगरी" शीर्षक जैसी पुस्तकों में यह तथ्य सिद्ध किया जा रहा है। किसी भवन को बनाना तो दूर, मुस्लिमों ने हिन्दू भवनों को विनष्ट किया और क्षति पहुँचायी। अतः मध्यकालीन ऐतिहासिक भवनों के दर्शनार्थियों को एक मार्गदर्शक सिद्धान्त स्मरण रखना चाहिये कि समस्त संरचना हिन्दू है, और विध्वंस मुस्लिम। यदि इन तथाकथित सूफ़ी 'सन्तों' की जीवनियों की

सूक्ष्म-मीमांसा की जाये, तो ज्ञात होगा कि भारतीय जीवन और संस्कृति का गला घोंटने के लिए वे शासक विदेशी इस्लामी धर्मोन्मादी जनता के साथ संसी का काम कर रहे थे। देखिये, सलीम चिश्ती के बारे में बदायूनी क्या लिखता है (बदायूनी की तवारीख़—खण्ड II, पृष्ठ ११३)—"परम पुनीत शेख ने बादशाह (अकबर) को अपने सभी निजी भागों में प्रवेश की अनुमति दे दी थी, और उसके पुत्रों व भतीजों ने चाहे कितना ही कहा कि 'हमारी पत्नियाँ हमसे विमुख, पृथक् होती जा रही हैं,' शेख का उत्तर यही था कि 'संसार में औरतों की कमी नहीं है। चूंकि मैंने तुम लोगों को अमीर बनाया है, अन्य पत्नियाँ कर लो, क्या फ़र्क पड़ता है' ?" मनसरेंट कहता है कि, "शेख मुसलमानों की सभी दुष्टताओं और अशोभनीय दुराचरण से कलंकित था।" यह सम्पूर्ण साक्ष्य उच्छृंखल मुस्लिम साम्प्रदायिकता की हज़ार-वर्षीय अवधि में सावधानीपूर्वक दबाकर, छुपाया गया है। (शाहजहाँ जैसे के) स्वर्ण युगों के कथनाग्रह और शान्तिप्रिय शासनों की कहानियाँ सफ़ेद झूठ हैं। शाहजहाँ का मात्र ३१ वर्षीय शासनकाल ४८ युद्ध-अभियानों से भरा पड़ा था; उसने सभी हिन्दू मन्दिर ध्वस्त किये, अपने सभी प्रतिद्वन्द्वियों को क़त्ल किया, और एक भी भवन का निर्माण नहीं किया। क्या ऐसा शासन स्वर्णिम होता है ? फ़िरोज़ाबाद, तुग़लकाबाद, अहमदाबाद और हैदराबाद जैसे नगरों का निर्माण-श्रेय इस या उस सुलतान को दे दिया गया है, यद्यपि वे प्राचीन हिन्दू नगर ही हैं। उनका निर्माण-श्रेय फ़िरोजशाह अथवा अहमदशाह को देने का अर्थ यह है कि अल्लाहाबाद की स्थापना तो स्वयं अल्लाह ने ही की होगी। हज़ार वर्षों तक अधीनस्थ हिन्दुस्थान पर मुस्लिम साम्प्रदायिकता की प्रचण्डता ने सभी साक्ष्योंको विनष्ट अथवा दबा दिया है, और सच्चे इतिहास के स्थान पर झूठे, जाली वर्णन प्रस्तुत कर दिये हैं। अनेक बार झूठे भवन-निर्माण के दावे प्रस्तुत करने के ऊल-जलूल, मनघढ़न्त कहानियाँ पेश कर दी जाती हैं; यथा सिकन्दर लोधी को एक मोठ का दाना मिला—उसने वज़ीर को दिया कि मस्जिद बना लो। इसलिए मस्जिद मोठ नाम पड़ गया—आदि। विश्व का इतिहास—समाज ऐसी परले दर्जे की बेहूदगी को विशद इतिहास के रूप में स्वीकार करे—इसी तथ्य से विश्व-इतिहास के मानस को हुई घोर क्षति का अनुमान

लगाया जा सकता है। भारत सामर्थ्यवान राष्ट्र तभी बन सकता है जब विगत १२३५ वर्षों के साम्प्रदायिक—हेरफेर को इतिहास से बाहर निकाल फेंके। यह तभी सम्भव होगा जब हिन्दुत्व अपनी ही भूमि में अपनी प्रभुसत्ता प्रदर्शित करने का निश्चय करेगा। 'हिन्दू साम्प्रदायिकता' शब्द विदेशी मुस्लिम शासन-काल में घढ़ा गया था और विदेशी ब्रिटिश शासनकाल में इसे और भी पक्का कर दिया गया था। हिन्दुस्थान में मुस्लिम, ईसाई अथवा अन्य कोई साम्प्रदायिकता हो सकती है, जबकि हिन्दुत्व तो राष्ट्रवाद के अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं। इस तथ्य को जितनी जल्दी समझा और व्यवहार में लाया जायेगा, भारतीय इतिहास पर उपयुक्त राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय ध्यान आकर्षित करने के लिए उतना ही श्रेयस्कर होगा।

इतिहास की परिभाषा और उसका अभिप्राय

किसी भी विषय का अध्ययन करने से पूर्व, श्रेयस्कर कार्य यही है कि उस विषय की परिभाषा और उसका अभिप्राय पाठक के समक्ष पूर्णतया स्पष्ट हो।

यदि व्यक्ति अध्ययन-गत विषय की परिभाषा के सम्बन्ध में सुस्पष्ट विचार नहीं रखता है, तो सम्भावना है कि वह असंगत, निरर्थक बातों से ही इधर-उधर भटक जाए। यदि व्यक्ति विषय-विशेष के अभिप्राय के सम्बन्ध में स्पष्ट विचार नहीं रखता हो, तो सम्भावना है कि व्यक्ति या तो उस विषय के किसी अंश या भाग तक ही सीमित रहेगा अथवा उस विषय की उचित सीमाओं का भी उल्लंघन कर जाएगा। दोनों ही स्थितियों में, ऐसा व्यक्ति अपने विषय के साथ पूर्ण न्याय नहीं कर पाएगा।

अतएव, आइए, हम सर्वप्रथम यह परिभाषा करें कि इतिहास क्या है। पश्चिमी भाषाओं में (इतिहास का पर्यायवाची) 'हिस्ट्री' शब्द ग्रीक भाषा के 'हिस्टोरिया' शब्द से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ 'जाँच-पड़ताल' है। यह प्रत्यक्षत: अतिभ्रामक धातु है क्योंकि ज्ञान की प्रत्येक शाखा के लिए ही यह 'जाँच-पड़ताल' सामान्य बात है। तथ्य तो यह है कि जबसे किसी भी शिशु का जन्म होता है, तबसे वह सदैव जिज्ञासु होता है और अपने चारों ओर दिखने वाले संसार की बहुत सारी बातों के बारे में जानने को उत्सुक रहता है, किन्तु उस कारण यह तो नहीं कहा जा सकता कि वह शिशु उस विधा से इतिहास का अध्ययन कर रहा है, स्वयं किसी इतिहास की शिक्षा पा रहा है। अत:, मात्र पश्चिमी शब्द 'हिस्ट्री' के शब्द-व्युत्पत्तिशास्त्र के अनुसार अर्थ का ज्ञान मात्र रखने वाले व्यक्ति को तो यह ज्ञान हो ही नहीं

सकता कि शब्द 'हिस्ट्री' वास्तव में क्या चित्र,. अवस्था, ज्ञान प्रस्तुत करता है !

इसके विपरीत, 'हिस्ट्री' के लिए ही प्रयुक्त संस्कृत शब्द—इतिहास—अधिक प्रबोधक, ज्ञान प्रस्तुतकारक है। इतना ही नहीं, हम यहाँ तक कह सकते हैं कि 'हिस्ट्री' जो भी कुछ है, वह भी 'इतिहास' शब्द की परिपूर्ण परिभाषा में सन्निहित है। उसमें तीन शब्दांशों का समूह एकत्र है। 'इति' का अर्थ 'ऐसा-ऐसा' अर्थात् 'अमुक घटना या बात का होना' है। 'हा' का देश के भूतकाल का संक्षिप्त और सम्पृक्त लेखा होता है, इसलिए यह सत्ता-धिकार, पद तक ही स्वयं सीमित रह पाता है । इतिहास में सदैव उन्हीं का वर्णन होता है जो शक्ति-सम्पन्न होते हैं। मध्यकालीन युगों में शासक-गण ही वे व्यक्ति थे जिनके पास सामान्यत: शक्ति हस्तगत होती थी। कई बार, जब किसी राजा के स्थान पर एक या अधिक दरबारी लोग अधिक शक्ति-सम्पन्न हो जाते थे, तब इतिहास का केन्द्र-बिन्दु भी सम्राट् के स्थान से हट-कर शक्ति-सम्पन्न दरबारी व्यक्ति पर चला जाता था। इंग्लैंड में जब शनै:-शनै: एकराजाधिकार की शक्ति समाप्त होने लगी, तब इंग्लैंड के इतिहास ने भी अपना केन्द्र-बिन्दु एकाधिपत्य से हटाकर ब्रिटिश संसद और लोकप्रिय रूप में निर्वाचित मन्त्रिमण्डल में स्थापित कर लिया। रूस में जब ज़ार लोग सर्वहारा वर्ग के सम्मुख सत्ता में परास्त हो गये, तब रूसी इतिहास ने अपना सम्बन्ध साम्यवादी दल और सम्पूर्ण सत्ता का पूर्ण उपभोग करने वाले इसके शक्तिशाली नेताओं से स्थापित कर लिया।

इन सभी उपर्युक्त उदाहरणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राष्ट्रीय इतिहासों को सत्ता के आसनों अथवा केन्द्रों के संक्षिप्त, संसक्त और सुसंगत लेखे होने पड़ते हैं। ऐसी सत्ता किसी अधिनायक अथवा सम्राट् के रूप में एक व्यक्ति में, अथवा लोकप्रिय निर्वाचित मन्त्रि-परिषद् के नाम से पुकारे जाने वाले कुछ अग्रणी व्यक्तियों के समूह में, अथवा सैनिक अधि-कारियों के एक वर्ग या कुछ प्रभावी नागरिकों के वर्ग अथवा एक राष्ट्रीय सभा में केन्द्रित हो सकती है। जिस अनुपात में सत्ता एक केन्द्र से दूसरे केन्द्र में स्थापित होती है, इतिहास भी स्वत: उसी अनुपात में एक स्थान से दूसरे स्थान में केन्द्रित हो जाता है।

अतः, मैं जब लोगों को यह शिकायत करते हुए पाता हूँ कि मध्य-कालीन इतिहास-ग्रन्थों में, उदाहरण के लिए देखें तो, केवल राजाओं और युद्धों अथवा मात्र दरबार-स्थित कुछ शक्तिशाली गुटों की ही चर्चा की गई है—और न कि सामान्य जनता की, तब मैं अनुभव करता हूँ कि उनकी शिकायत अयुक्तियुक्त, अनुचित है। जैसाकि वे लोग सामान्य रूप में घोषित करते रहते हैं—यदि वे भी ऐसे इतिहास-ग्रन्थों की रचना करने का अर्थ 'निश्चयपूर्वक' है, और 'आस' का मन्तव्य 'घटित' है। भूतकाल में जो भी कुछ निश्चयपूर्वक हुआ—कहा जा सकता हो, वही 'इतिहास' है। इस प्रकार, इतिहास की परिभाषा 'विगतकालीन घटनाओं के तथ्यात्मक और तिथिक्रमानुसार वर्णन' के रूप में की जा सकती है।

हम, इस प्रकार, किसी भी व्यक्ति अथवा संस्था अथवा वस्तु अथवा देश का इतिहास रख सकते हैं—अर्थात् उसके प्रारम्भ से आद्यतन की उसकी जीवन-गाथा का संग्रह कर सकते हैं। हमें स्मरण होगा कि यथार्थ रूप में यही वह बात है जो हम इतिहास से वास्तव में समझते भी हैं।

चूँकि किसी भी देश का निर्माण, उसका अस्तित्व असंख्य व्यक्तियों और संस्थाओं से होता है, इसलिए स्वाभाविक—सहज-प्राकृतिक बात है कि उस देश के इतिहास में इसके सभी व्यक्तियों और संस्थाओं का इतिहास सम्मिलित ही रहेगा। किन्तु प्रत्यक्ष रूप में स्पष्ट ही है कि इस प्रकार का कोई भी इतिहास अत्यन्त विशाल आकार के कारण अति कष्टसाध्य, बोझिल और अव्यवहार्य हो जाएगा। साथ ही यह अरोचक और अनुपयोगी भी हो जाएगा। लाखों-लाखों साधारण व्यक्तियों की दैनन्दिन अरुचिपूर्ण दिनचर्या का संकलन किया जाना भी कठिन होगा अथवा राष्ट्रीय विशद और संगत वर्णन में ठीक बैठना भी एक समस्या हो सकती है।

इस सम्पूर्ण कार्य में तो काँट-छाँट की भारी आवश्यकता होगी। फिर प्रश्न यह होता है कि हम कमी-बेशी कहाँ करें? फिर, हम चयन और संग्रह का कार्य कैसे करें? इस प्रश्न का उत्तर भी हमें प्राप्त हो सकता है यदि हम उन राष्ट्रीय इतिहासों को सम्यक दृष्टि से देखें, जिनका समस्त विश्व में लेखन और अध्ययन-अध्यापन होता है।

यदि हम मध्यकालीन युगों के इतिहासों का अध्ययन करें, तो हम देखते

हैं कि उनमें राजाओं और युद्धों का ही उल्लेख किया गया है। यदि हम १८वीं शताब्दी से २०वीं शताब्दी तक इंग्लैण्ड और अमरीका जैसे देशों के इतिहासों का अध्ययन करें, तो हम पाते हैं कि उनमें मुख्यत: उनकी राष्ट्रीय संसदों और लोकप्रिय मन्त्रि-परिषदों के कारनामों के बारे में ही वर्णन किया गया है। सन् १९१७ ई० के परवर्ती-युग के रूसी-इतिहास में अधिकांशत: सर्वहारा-वर्ग की और अखण्डित साम्यवादी दल की ही चर्चा की गई है। इससे हमें यह सूत्र प्राप्त होता है कि चूँकि इतिहास किसी भी यत्न करें जिनमें उन प्राचीन युगों के सामान्य लोगों के जीवन पर प्रकाश डाला जाय, तो वे स्वयं को अत्यन्त असहायावस्था में प्राप्त ऐसा व्यक्ति पाएँगे जो राजाओं और उनके दरबारियों के कामों का ही वर्णन करने में व्यस्त हो। यह स्थिति अ-परित्याज्य है। राष्ट्रीय इतिहास-ग्रन्थ सत्ता के केन्द्रों के अतिरिक्त अन्य कोई वर्णन नहीं हैं, और यदि कोई इतिहास-लेखक किसी भी युग का इतिहास लिखने को उद्यत होता है, तो चाहे उसकी राजनीतिक विचारधारा जो भी क्यों न हो, उसे उन्हीं लोगों के कार्य-कलापों तक ही सीमित रहना पड़ेगा जिनके पास तत्कालीन काल-खण्ड में राष्ट्रीय शक्ति का केन्द्र था। यह अन्य प्रकार हो ही नहीं सकता। अत: इस बात से किसी की भावना को ठेस नहीं पहुँचनी चाहिये कि मध्यकालीन इतिहास-ग्रन्थों में सामान्यत: राजाओं और दरबारियों अथवा युद्धों-मात्र का ही उल्लेख किया गया है। हिटलर के जर्मनी देश अथवा स्टालिन के रूस देश के इतिहास को मुख्यत: इन्हीं दो अधिनायकों, तानाशाहों के इर्द-गिर्द घूमते रहना पड़ेगा—चाहे अन्य कारण न भी हों, तो मात्र इसीलिए कि अन्य लोगों का कोई विशेष अस्तित्व नहीं था अथवा राष्ट्रीय भाग्य-निर्माण करने में अन्य लोग कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सके। इस प्रकार, राष्ट्रीय इतिहास-ग्रन्थ मुख्यत: उन्हीं लोगों के इर्द-गिर्द घूमते रहते हैं जो राष्ट्र का भवितव्य-निरूपण करते हैं, चाहे वह एक व्यक्ति हो अथवा एक वर्ग या समूह, अथवा एक विधान-मण्डल।

चूँकि हम एक राष्ट्रीय इतिहास-ग्रन्थ में उस सबका उल्लेख नहीं कर सकते जो कोई भी ऐरा-गैरा नत्थू खैरा अपने जीवन के क्षण-क्षण में करता रहता है, इसलिए हमें वह वर्णन उन्हीं लोगों तक सीमित रखना पड़ता है

जो सत्ता-सम्पन्न, शक्तिशाली होते हैं। किन्तु चाहे कुछ भी हो, सत्ताधारियों से सम्बन्धित कारनामों की चर्चा करते समय भी इतिहास में ठीक उसी प्रकार सत्य का, पूर्ण सत्य का और केवल सत्य का ही उल्लेख होना चाहिये जिस प्रकार विधि-न्यायालय में साक्षियों के रूप में विद्यमान व्यक्तियों को शपथपूर्वक कहना पड़ता है। अपना नाम सार्थक करने वाला यथार्थ इतिहास किसी वर्ग-विशेष के हितों अथवा उसकी माँगों के लिए उसको प्रसन्न करने हेतु तथ्यों को कभी दबाएगा नहीं, उनमें मिलावट करेगा नहीं और उनकी देखी-अनदेखी भी करेगा नहीं।

ऐतिहासिक वर्णनों में प्रयुक्त भाषा भी महत्त्वपूर्ण है। उस प्रयुक्त भाषा से किसी भी दी हुई स्थिति की सम्पूर्ण मनोवेदना सम्मुख प्रस्तुत हो जानी चाहिये। जिस प्रकार किसी रंगमंच के नाटक में हम आशा करते हैं कि प्रत्येक अभिनेता अपने विशिष्ट अभिनय के अनुकूल ही अपने वार्तालाप का स्वर साधकर बातचीत करेगा, अथवा जब कोई व्यक्ति किसी घटना का उल्लेख करते समय उस घटना के अंश के अनुसार ही अपना स्वर धीमा या तेज़ करता है, तब—उसी प्रकार, एक इतिहासकार को भी एक क्रूर-कर्म का वर्णन सख्त भाषा में करना चाहिये। इसी प्रकार, कला के सम्बन्ध में मृदु-भाषा में और सुन्दर-वाणी में उल्लेख करना चाहिये। इसी प्रकार, घटना-क्रम के अनुसार वर्णन-क्रम परिवर्तित होता जाना चाहिये। चूँकि इतिहास एक वर्णनात्मक और तथ्यात्मक साहित्य है, इसलिए इसकी भाषा में सभी साहित्यिक गुण होने चाहिये। इतना ही नहीं, किसी घोर, वीभत्स अपराध की निन्दा करते समय जिस प्रकार एक न्यायाधीश अपने निर्णय में कठोर भाषा का प्रयोग करता है, अथवा असहाय महिलाओं, बच्चों या कंगालों की दुर्दशा का वर्णन करते समय दयापूर्ण शब्दों, स्नेह-सिक्त, अश्रु-स्निग्ध वाक्यों का उपयोग करता है, उसी प्रकार यदि कोई इतिहास-लेखक घटनाओं के उपयुक्त अपनी भाषा को निरूपित नहीं कर पाता, तो वह एक सच्चा इतिहासकार नहीं है।

प्रसंगानुकूल इससे हमें यह अनुभूति हो जाती है कि इतिहास का वर्गीकरण अवश्य ही साहित्य की श्रेणी में किया जाना चाहिये। सामान्य वृत्ति, कम-से-कम समकालीन भारत में तो यही है कि मात्र कवियों, लघु-कथा-

लेखकों, नाटककारों, और उपन्यासकारों तथा कदाचित् कभी-कभी निबन्ध-कारों को ही साहित्यकारों की श्रेणी में गिना जाए। यह तो एक प्रकार से 'साहित्य' के विस्तार को संकुचित, सीमित करना है। किसी भी पुरातत्त्वीय उत्खनन अथवा किसी विशेष प्रलेख की व्याख्या से सम्बन्धित तकनीकी जटिलताओं वाले ऐतिहासिक विवरणों को चाहे 'साहित्य' की श्रेणी में न भी गिना जाए, तथापि सामान्य इतिहास-ग्रन्थों को तो साहित्य की एक अति महत्त्वपूर्ण शाखा होनी चाहिये। यही सिद्धान्त ज्ञान की अन्य शाखाओं को भी प्रयोज्य होना चाहिये। इस प्रकार, जब गेलिलियो ने यह स्पष्ट किया कि पृथ्वी गोलाकार क्यों है अथवा दो अ-समान भार वाले पदार्थ समान ऊँचाई से नीचे गिराए जाने पर भूमि पर एकसाथ क्यों पहुँचते हैं—तब उसका यह ज्ञान-प्रकाशन, प्रसारण साहित्य था, चाहे उसकी परवर्ती उप-लब्धियाँ ही जटिल वैज्ञानिक खोजों का आधार बनी हों। औसत दर्जे की शिक्षा प्राप्त मनुष्य की बुद्धि में जो कुछ सहज पैठ सकता है, वह साहित्य है। इतिहास इस परख पर खरा उतरता है। औसत दर्जे की शिक्षा प्राप्त किया हुआ व्यक्ति इतिहास में रुचि अनुभव करता है, और इसको ग्रहण करने में सक्षम है।

इतिहास की परिभाषा और उसके विस्तार तथा इतिहास की भाषा के सम्बन्ध में हम एक बार स्पष्ट कल्पना कर लें, तो यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि इतिहास-लेखकों को, और सामान्यत: शिक्षा-शास्त्रियों को किसी भी प्रकार इतिहास को भयभीत करने, मिलावटी-रूप प्रस्तुत करने, अथवा उसको तोड़ने-मरोड़ने हेतु राजनीतिज्ञों, सम्प्रदायवादियों अथवा धर्मान्ध लोगों का हस्तक्षेप सहन नहीं करना चाहिये। अत:, इतिहास की अन्तिम रूप में परिभाषा यह की जा सकती है कि यह भिन्न-भिन्न समयों पर किसी देश की राष्ट्रीय-सत्ताशक्ति का उपभोग करने वाले व्यक्तियों के विगत कारनामों का प्रभावी भाषा में बताया गया एक तथ्यात्मक और तिथिक्रमा-नुसार वर्णन है। यह इससे अधिक और इससे कम कुछ भी नहीं होना चाहिये। इससे सच्चे इतिहासकार का यह दायित्व हो जाता है कि वह सत्य बात को कह सकने का साहस बटोरे, और एक आक्रमणकारी को आक्रमण-कारी तथा दुराचारी को दुराचारी कहे—ऐसा करते समय इस बात की परवाह करने की कोई आवश्यकता नहीं कि वह अपने कर्मों को उचित ठहराने के लिए किस धर्म की दुहाई देता है।

इतिहासलेखकों ने किस प्रकार जनता को धोखा दिया है !

ज्ञान की अन्य किसी विधा में—शाखा में जनता को इतनी अधिक लम्बी अवधि तक और अनवरत रूप से ठगा नहीं गया है जितना भारतीय इतिहास की विधा में।

ऐतिहासिक स्थलों की यात्रा करने वाले विद्यार्थियों, सरकारी कर्मचारियों और पर्यटकों की पीढ़ियों को इतिहास के नाम पर मनगढ़न्त साहित्य दिया जाता रहा है। इन मिथ्या बातों को जनता में प्रचारित करने वाले वे ही व्यक्ति हैं जिनको जनता 'इतिहास-लेखकों' के रूप में अगाध प्रेम करती रही है और अटूट विश्वास उनमें जमाए रही है। कुछ लोगों ने यह कपट-कृत्य जानबूझकर किया है, कुछ ने अनजाने में किया है और कुछ लोगों ने कायरता-वश किया है क्योंकि उनमें जनता के समक्ष यह घोषित करने का साहस नहीं था कि उन सबों को इतिहास के नाम में धोखा दिया जा रहा था।

उदाहरण के लिए, दिल्ली में कुतुबमीनार के नाम से पुकारे जाने वाले २३८ फुट ऊँचे स्तम्भ का मामला लीजिए। इसके मूलोद्‌गम के बारे में सभी तथाकथित इतिहास-लेखक और सामान्य जनता समान रूप में अनिश्चित हैं, फिर भी जनता के सम्मुख जो इतिहास-ग्रन्थ प्रस्तुत किए जाते हैं उनमें नितान्त झूठी बातों को सत्य-कथन के रूप में साग्रह प्रस्तुत किया जाता है। कुछ लोगों का कहना है कि इसे कुतुबुद्दीन ऐबक ने, जो दिल्ली पर सन् १२०६ ई० से १२१० ई० तक राज्य-शासन करने वाला गुलाम मुस्लिम शासक था, बनवाया था। अन्य लोग कहते हैं कि इसे ऐबक के दामाद और उत्तराधिकारी अल्तमश ने बनवाया था। अन्य विचार यह है कि अलाउद्दीन

खिलजी ने इसे अथवा कम-से-कम इसके कुछ भाग को तो अवश्य ही बनवाया था। चौथा मत यह है कि फ़िरोजशाह तुग़लक ने इस स्तम्भ को अथवा इसके कुछ भाग को बनवाया होगा। पाँचवाँ मत यह भी है कि उपर्युक्त चार शासकों में से एक ने अथवा एक से अधिक किन्हीं भी शासकों ने अकेले अथवा संयुक्त रूप से इस स्तम्भ का निर्माण कराया होगा।

सबसे आश्चर्यकारी तथ्य यह है कि कोई भी इतिहास-ग्रन्थ अत्यन्त निष्ठापूर्वक, सत्यता से समस्त मामला स्पष्ट नहीं करेगा और जनता को विश्वास में लेकर साफ़-साफ़ शब्दों में यह नहीं कहेगा कि इस बात के लिए कोई आधार नहीं है कि कुतुबमीनार को कुतुबुद्दीन अथवा इल्तमश अथवा अलाउद्दीन अथवा फ़िरोज़शाह अथवा इनमें से दो अथवा अधिक ने बनवाया था क्योंकि ऊपर जिन चारों मुस्लिम बादशाहों के नाम इस मीनार का निर्माण-श्रेय दिया है, उनमें से किसी ने भी इसके निर्माण के बारे में मौखिक अथवा लिखित दावा नहीं किया है।

प्रत्येक इतिहास में सरलतापूर्वक यही कहा जाएगा कि कुतुबमीनार को कुतुबुद्दीन अथवा इल्तमश अथवा अलाउद्दीन या फ़िरोज़शाह अथवा इनमें से दो अथवा अधिक ने बनवाया था। तथाकथित सभी इतिहास-लेखक जानते हैं कि उनके कथन झूठे और निराधार हैं, क्योंकि उनमें से किसी भी बादशाह ने स्वयं यह दावा नहीं किया है कि उसने यह स्तम्भ बनवाया था। इस प्रकार के मामले में प्रत्येक ईमानदार और कर्तव्यशील निष्ठावान इतिहास-लेखक का यह कर्तव्य है कि वह जनता को सभी पाँचों विचार बता दे और साथ में यह भी कह दे कि इन विचारों के लिए कोई भी प्रमाण, उपलब्ध नहीं है। फिर भी, ऐसे तथाकथित इतिहास-लेखकों में से किसी एक ने भी ऐसा काम नहीं किया है।

इतिहास-लेखकों को स्पष्टतः इस कुतुबमीनारी-कथा में विद्यमान विसंगतियों का ज्ञान है क्योंकि अखिल भारतीय इतिहास संगठन के वार्षिक समारोह के एकान्त में उनके कुछ साथी लोग इन परम्परागत कथनों में असंगतियों से सम्बन्धित शोध-पत्र पढ़ चुके हैं।

जब इतिहास-लेखकों को इस बात की जानकारी है कि कुतुबमीनार का मूलोद्गम विवाद का विषय है, और उपर्युक्त पाँच मतों में से एक के लिए

भी कोई ठोस आधार विद्यमान नहीं है, तब क्या यह उनका कर्तव्य नहीं है कि वे किसी भी निर्णायक मत की घोषणा करने से संकोच करें ? क्या यह भी उनका कर्तव्य नहीं है कि वे सभी तथ्य जनता के समक्ष प्रस्तुत कर दें, और फिर वे यदि स्वयं भी इच्छुक हों, तो किसी भी विशेष मत के बारे में अपनी रुचि का उल्लेख भी कर दें। किन्तु वे जब इतने महत्त्वपूर्ण तथ्यों को जनता से छुपाते हैं, जब इतनी आवश्यक जानकारी को जनता के सम्मुख प्रकट नहीं होने देते, तब क्या अपने पावन कर्तव्यपालन की अवहेलना करने के लिए ऐसे तथाकथित इतिहास-लेखकों को सार्वजनिक रूप में दोषी नहीं ठहराया जाना चाहिये ? क्या उनपर महाभियोग नहीं लगाया जाना चाहिये ? जबकि जनता इतिहास-लेखकों को उनके भारी-भारी वेतन देती है, उनकी पुस्तकों के मूल्य चुकाती है, इतिहास संगठन के समारोह-सत्रों में उपस्थित होने के लिए भत्ते और अवकाश प्रदान करती है, तथा परीक्षक बनाने व विश्वविद्यालय की वरिष्ठ-सभा की सदस्यता ग्रहण करने की अनुमति जैसी अन्य सुविधाएँ उनको उपलब्ध कराती है, तब क्या जनता को यह आशा नहीं करनी चाहिये कि उनका सिर नीचा नहीं किया जाएगा और ऐसी महत्त्वपूर्ण जानकारी उनसे छुपाकर नहीं रखी जाएगी ?

इस बात पर यह विचार प्रस्तुत किया जा सकता है कि सभी विकल्पों का उल्लेख करना असम्भाव्य होगा क्योंकि उससे प्रत्येक विषय बहुत लम्बा हो जाएगा। यह सत्यता नहीं है। मैं ऊपर प्रदर्शित कर चुका हूँ कि किस प्रकार उपर्युक्त सभी पाँचों मतों को दो या तीन छोटे वाक्यों में, सम्पृक्त रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

फिर यह प्रश्न भी किया जा सकता है कि इतिहासकार से यह कहने में क्या आशय है कि वह सभी विभिन्न मतों को जनता के सम्मुख प्रस्तुत करे ? इसके उत्तर में मैं यह कहना चाहता हूँ कि जनता के सम्मुख सभी तथ्यों का रखा जाना अत्यधिक महत्त्व की बात है। इस बात के दृष्टान्त के लिए आइए हम एक उदाहरण लें। कल्पना करें कि किसी व्यक्ति ने तीसरी कक्षा तक पढ़ने के बाद शैक्षिक अध्ययन समाप्त कर दिया है। हम यह भी कल्पना करें कि उसकी तीसरी की पुस्तक में कुतुबमीनार पर एक पाठ भी था। यदि उस पाठ के लेखक ने व्याजोक्तिपूर्ण स्वर में कह दिया है कि यह स्तम्भ

कुतुबुद्दीन द्वारा ही बनाया गया था, तो वह विद्यार्थी अपने मन में आजीवन यही छाप बनाए रहेगा कि कुतुबुद्दीन ही उस मीनार का रचयिता, निर्माता था। वह यह भी नहीं जानेगा कि उसके विचार के लिए कोई भी आधार नहीं था। बाद में, यदि मेरे जैसा कोई अन्वेषक उस विचार पर विवाद करे, तो वह व्यक्ति इसे अव्यवहार्य सिद्धान्त-वादिता की अवहेलना कहकर रद्द कर देगा और ऐसा करते हुए वह यह भी तकलीफ़ नहीं करेगा कि मैं अपने विचार के समर्थन में जो तर्क और साक्ष्य दे रहा हूँ, उन्हें तो कम-से-कम एक बार पढ़ लिया जाय। इस प्रकार, साक्ष्य का दमन राष्ट्रीय दृष्टिकोण में अनावश्यक सख्ती का दुष्परिणाम होता है।

इस प्रकार के व्याजोक्तिपूर्ण और आधारहीन कथनों से दूसरा भयंकर खतरा यह है कि यह उन गुंजायशों को समाप्त कर देता है जो अन्वेषण के लिए मुक्त होनी चाहिये थी। इस प्रकार, उदाहरण के लिए, यदि तीसरी कक्षा से स्नातकोत्तर स्तर तक कुतुबमीनार के सम्बन्ध में पढ़ने वाले सभी विद्यार्थी बारम्बार उन पाँचों मतों को इस पद-टीप के साथ पढ़ते हैं कि वे पाँचों मत केवल अनुमान ही हैं, तो अनेक जिज्ञासु व्यक्ति कुतुबमीनार के वास्तविक मूलोद्गम का पता लगाने के लिए तत्पर हो जाएँगे। अनेक लोग इसके इतिहास को संग्रह करने में अथवा अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों को प्रकाश में लाने में सफल हो सकेंगे। किन्तु कुतुबमीनार के सम्बन्ध में सभी ऐतिहासिक पुस्तकों में व्याजोक्तिपूर्ण और आधारहीन कथन इतिहास में सूक्ष्म-अन्वेषण करने से प्रतिभावान अन्वेषकों को रोकते हैं। उन सब को यह समझा दिया जाता है कि कुतुबमीनार का मूल तो असंदिग्ध रूप में सिद्ध किया जा चुका है, और अब उसमें किसी भी प्रकार का शोधकार्य आवश्यक नहीं है। यह घोर शैक्षिक क्षति है जिसका उत्तर इतिहास-लेखकों से अवश्य ही लेना चाहिये।

किन्तु यही सबकुछ नहीं है। हमने जो कुछ कुतुबमीनार के बारे में कहा है, वही बात उन सभी मध्यकालीन ऐतिहासिक नगरियों, मस्जिदों, मकबरों, किलों, अन्य आवसीय भवनों, पुलों, नहरों और तालाबों के बारे में भी प्रयोज्य है जिनका निर्माण-श्रेय मुस्लिम शासकों को दिया जाता है। ताजमहल का ही उदाहरण लो! इसके निर्माण की लागत ४० लाख से

६ करोड़ रुपये तक और इसकी निर्माणावधि १० वर्ष से २२ वर्ष के बीच आँकी जाती है; ईसा अफन्दी से अहमद महन्दीस, आस्टिन-द-बोरड्योक्स, जीरोनीमो वीरोनिओ अथवा बुरी तरह अश्रु बहाते हुए स्वयं शाहजहाँ में से कोई भी व्यक्ति इसका रूप-रेखांकनकार हो सकता है। इस प्रकार की घोर अनिश्चितता ताजमहल के प्रत्येक विवरण की विशिष्टता है, जिसमें मुमताज़ की मृत्यु और उसको दफ़नाने की तारीखें भी सम्मिलित हैं।

और फिर भी जैसा कुतुबमीनार के मामले में है, वैसा ही ताजमहल के बारे में भी इतिहास ने व्यावहारिक रूप से सभी तथ्य देते हुए यह एक पद-टीप जोड़ दिया है कि सभी समान रूप में निराधार और काल्पनिक हैं। भारत सरकार के पर्यटन और पुरातत्त्व विभागों के प्रकाशकों सहित सभी इतिहास-पुस्तकें एक ही विनम्र और निराधार मत प्रस्तुत करती हैं तथा यह घोषित करती हैं कि ताजमहल के सम्बन्ध में वही अन्तिम शब्द है। इसका दुष्परिणाम इतना भयावह है कि प्रत्येक व्यक्ति इसी धारणा को हृदयंगम किये रहता है कि ताजमहल के बारे में कोई भी अनिश्चितता नहीं है। इतना ही पर्याप्त है कि वे सब इकट्ठे होते और उन सब टिप्पणियों को मिलाते जो उनमें से प्रत्येक ने किसी भी विशेष विवरण के बारे में संग्रह की हैं, अथवा जो कुछ उनको पढ़ाया गया है, अथवा जो उन्होंने पढ़ा है अथवा सुना है, तो वे शीघ्र ही अनुभव कर लेते कि वे तो एक बड़े भारी कपट-जाल के शिकार हो गये हैं। यह तो ठीक वैसी ही घटना हुई है कि कोई ठग विभिन्न नामों, कामों पर अलग-अलग घर से धन और वस्तुएँ जमा करता फिरे। जब वह गिरफ्तार हो जाता है और धोखा खाए सभी व्यक्ति एक स्थान पर एकत्र होते हैं, तभी उनको यह अनुभूति हो पाती है कि उन सभी लोगों को धोखा देने के लिए उस ठग ने कितनी भिन्न-भिन्न बात प्रत्येक व्यक्ति से अलग-अलग की हैं। यथार्थ रूप में तो यही बात भारत के प्रत्येक मध्यकालीन ऐतिहासिक मकबरे, मस्जिद, क़िले और नगरी के बारे में घटित हो रही है। उनके मूल के सम्बन्ध में अनाप-शनाप कहानियाँ कहकर जनता को बुद्धू बनाया जा रहा है। मज़ा यह है कि ये सभी कहानियाँ एक-दूसरे से पर्याप्त भिन्न हैं। यदि जनता इतनी सावधान मात्र हो कि प्रत्येक मध्य-कालीन नगरी और भवन के बारे में सभी वर्णनों का संग्रह करे, तो उसे

स्पष्ट ज्ञात हो जाएगा कि उसे किस प्रकार बुद्धू बनाया गया है और धोखा दिया गया है।

हम एक तीसरा उदाहरण भी लें। वह इस भवन के बारे में है जिसे इतिहास में अकबर का मकबरा कहकर शेखी बघारी जाती है। यह आगरा के उत्तर में लगभग छः मील की दूरी पर सिकन्दरा में बना हुआ है। यह सात-आठ मंजिला हिन्दू राजभवन है, फिर भी इसे विनम्रतापूर्वक, निराधार ही घोषित किया जा रहा है कि इसका निर्माण अकबर के मकबरे के रूप में किया गया था। इतिहास-लेखकों ने जनता से यह तथ्य छुपाकर रखा है कि कहीं भी अकबर ने अथवा उसके किसी भी दरबारी इतिहास-लेखक ने यह दावा किया है कि अकबर ने अपने जीवन-काल में ही अपना मकबरा बनवा लिया था, फिर भी इतिहास-लेखकों का एक वर्ग है जो विनम्रतापूर्वक, निराधार और असंगत स्वर में इस भवन का निर्माण-श्रेय अकबर को देता है और कहता है कि अपनी भावी मृत्यु की आवश्यक सम्भावना-वश ही इसका निर्माण अकबर ने करा लिया था। इतिहासकारों का एक अन्य वर्ग है जो जहाँगीरनामा के धूर्त, अपूर्ण और अस्पष्ट कथनों में विश्वास करके यह मत प्रकट करता है कि इस भवन का निर्माण अकबर की मृत्यु के बाद जहाँगीर ने करवाया था। इतिहास-लेखकों का एक अन्य वर्ग भी है जो (राजनीतिज्ञों की भाँति) समझौते की बात करता हुआ अपना मत प्रकट करता है कि इस भवन का कुछ भाग अकबर ने बनवाया था और शेष भाग जहाँगीर ने। इन तीनों मतों में प्रकट किए गये विचारों के लिए वास्तव में लेशमात्र भी आधार नहीं है। तथ्य तो यह है कि यदि गूढ़ार्थ समझा जाय तो इस बात का पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध है कि (यदि अकबर सचमुच ही उस भवन में दफ़नाया पड़ा है तो) वह उस पूर्वकालिक हिन्दू राजभवन में गड़ा हुआ है जिसमें वह अपनी मृत्यु के समय निवास कर रहा था।

भारतीय इतिहास में झूठ का जितना विशाल अम्बार ठूँस दिया गया है और भोले-भाले विद्यार्थियों को आज भी जिसे सत्-साहित्य कहकर तोतों की भाँति विश्व-भर में रटाया जाता है, उसे हटाने के लिए कठोर प्रयत्न करने होंगे और इस कार्य में कई वर्षों का समय खप जाने की पूर्ण सम्भावना

है। वे भी अपने क्रम में उन्हीं रटी-रटायी झूठों को अन्य लोगों को भी पढ़ाते-सिखाते हैं।

विश्व को इस प्रकार भयंकर रूप में धोखा देने के लिए जिम्मेदार कौन है? निश्चित रूप में इसके उत्तरदायी ये तथाकथित इतिहास-लेखक ही हैं जिनको सामान्य जनता अपनी आँखों पर बैठाती रही है और अपने प्रिय 'इतिहास-लेखकों' के रूप में अमर्यादित, अंधाधुन्ध विश्वास उनमें प्रकट करती रही है। इनमें से कुछ तो जान-बूझकर, बहुत सारे अनजाने में और कुछ अन्य लोग मात्र कायरता-वश ही इन घोर असत्यों, विकराल झूठों को प्रसारित-प्रचारित करने में सहायक रहे हैं। अब समय आ गया है कि भारतीय जनता अपना भी मत प्रकट करे और इस चलते आ रहे धोखे को रोकने के लिए ज़ोर से आवाज़ करे। अब उपयुक्त समय है कि वे इन तथाकथित इतिहास-लेखकों से जवाब माँगें कि उन्होंने ये भूल-चूक अथवा इतिहास में विकृतियाँ क्यों होने दी हैं, अथवा क्यों जान-बूझकर उनको बिगाड़ा है?

यदि हमारे ग़लती करने वाले इतिहास-लेखकों ने विनम्र और आधारहीन कथन प्रस्तुत न किए होते और प्रत्येक मामले में सावधानतापूर्वक, सभी तथ्यों को जनता के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया होता, तो वे दुरभि-सन्धि अथवा उपेक्षा करने के आरोप से ही न बच गये होते, अपितु उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप में इतिहास के उद्देश्य की सहायता भी कर दी होती क्योंकि उससे पाठकों की अनेक पीढ़ियाँ गहनतर अन्वेषण-कार्य में प्रवृत्त हुई होतीं। अतः, विश्व को यह ज्ञात हो जाना चाहिये कि सभी मध्यकालीन ऐतिहासिक भवनों और नगरियों के सम्बन्ध में इसे भयंकर धोखा दिया जा रहा है, इसे पथभ्रष्ट किया गया है, और अब, इसीलिए, इस विश्व को माँग करनी चाहिये कि उन भवनों और नगरियों में से प्रत्येक के बारे में सभी तथ्य सामने लाये जाएँ और उनके मूलोद्गम और निर्माण के बारे में पूरी-पूरी जाँच की जाय।

: ४ :

इतिहास का पुनर्लेखन : क्यों और कैसे ?

चूँकि आक्रमण का सर्वप्रथम आघात इतिहास ही होता है, इसलिए आक्रमण की अवधि जितनी अधिक होती है, आहत—शिकार देश का इतिहास उतना ही अधिक विकृत और विनष्ट हो जाता है।

इसलिए, भारत जैसे देश का, जो विदेशी प्रभुत्व की १,२३५ वर्षीय गुलामी की दीर्घावधि बाद स्वतन्त्र हुआ, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य अपने इतिहास का पुनर्लेखन ही होना चाहिये था। यदि यह देश इस महत्त्वपूर्ण कार्य की उपेक्षा करता है, तो यह उपेक्षा-कार्य वह पूरा जोखिम उठाकर ही करता है तथा इस प्रकार की उपेक्षावृत्ति के दुष्परिणाम अति भयावह और विनाशक होंगे क्योंकि बहुत-सारे महत्त्वपूर्ण मामलों पर किसी भी राष्ट्र का दृष्टिकोण इस तथ्य पर निर्भर करता है कि उस राष्ट्र के नागरिकों को किस प्रकार का इतिहास पढ़ाया गया है।

प्रसंगवश कहा जा सकता है कि भारत के शासकों (भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस दल) ने भारत का इतिहास पुनः लिखने की आवश्यकता न समझने के कारण अथवा उस बात की परवाह न करने के कारण हमारे सम्मुख एक ज्वलन्त और दुःखद उदाहरण इस बात का प्रस्तुत किया है कि जो देश अपने इतिहास के पुनर्लेखन की परवाह नहीं करता है वह किस प्रकार अपने पूर्व-कालिक शासकों का मनोवैज्ञानिक रूप में गुलाम फिर भी बना ही चला आ रहा है।

उदाहरण के लिए, नाम से स्वतन्त्र भारत अभी भी भारतीय नागरिक सेवा (आई० सी० एस०) द्वारा नियन्त्रित प्रशासन से चिपटा हुआ है, इसमें अभी भी वह प्रान्तीय स्वायत्तता जारी है जिसे ब्रिटिश लोगों ने फूट डालने के लिए प्रारम्भ किया था, इसमें आज तक भी सभी स्तरों पर अंग्रेजी भाषा

और अंकों का उपयोग किया जा रहा है, तथा विश्व-राजनीति में असुरक्षित राष्ट्र के रूप में उदीयमान होने के भय से ब्रिटिश लोगों की अंगुलि छोड़ने में डर के कारण यह अभी भी ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल (कामनवेल्थ) का एक सदस्य बना हुआ है। इसके सभी राजदूत अंग्रेजियत के शिकार हैं, इसकी सम्पूर्ण जनता प्रातःकाल सर्वप्रथम चाय और कॉफ़ी का पान करती है, यह अभी भी अंग्रेज अथवा उसीकी भाँति दिखायी देने वाले व्यक्ति (जैसे जर्मन, रूसी व्यक्ति आदि) से आशंकित होती है, इस देश की सशस्त्र सेनाएँ अंग्रेजी-सिपाही की नक़ल करने में अभी भी गर्व करती हैं, और जैसा 'नागालैण्ड' के नाम से प्रतिबिम्बित होता है, यह अभी भी अपने प्रान्तों के नाम इंग्लैण्ड के अनुसरण पर रखता है। ये तो कुछ उदाहरण-मात्र हैं जिनसे सुस्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि विश्वास किया जाता है कि २०० वर्षीय पुराना ब्रिटिश राज्य शासन सन् १९४७ ई० में भारत पर से सदा के लिए समाप्त हो गया था, तथापि भारत के शासकों की मानस-तरंगों पर किस प्रकार ब्रिटेन का अभी भी अधिशासन चलता है।

किन्तु जो बात इससे भी अधिक आश्चर्यजनक, दुःखदायी और त्रास-दायक है, वह यह है कि अपनी पूर्वकालिक ब्रिटिश दासता के जुए को सहन करना जारी रखने में भारत के शासकों ने पूर्वकालिक मुस्लिम प्रभुत्त्व के ८०० वर्षीय प्राचीन गुलामी को भी रद्द नहीं किया है।

उपर्युक्त कटु सत्य का पूर्ण दिग्दर्शन हमारे प्रशासकों ने मुस्लिमों के लिए एक सामान्य नागरिक संहिता बनाने, अथवा अन्य सभी नागरिकों को प्रयोज्य नागरिक संहिता से सम्बद्ध करने के लिए किसी प्रकार का पग उठाने से भयभीत होने में, उर्दू-अरबी और फ़ारसी जैसी विदेशी भाषाओं को मान्यता व प्रोत्साहन देने की उनकी धर्मान्धतापूर्ण माँगों के सम्मुख घुटने टेकने में, पाठ्यक्रमों अथवा सरकार द्वारा प्रेरित पुस्तकों से हिन्दू देवी-देवताओं के सन्दर्भ निकाल देने के लिए सहमत होने में, मुस्लिम मन्त्रियों व अधिकारियों को नियुक्त करने की विवशता अनुभव करने में, हिन्दू बहुल जनसंख्यक हिन्दू देश में इस्लामी छुट्टियाँ स्वीकार करने में, प्रकट रूप में इस्लाम-पक्षपाती सम्मेलनों में सम्मिलित होने का दवाब अनुभव प्रकट करने में, भारत के प्रति घोर शत्रुता रखने पर भी तुर्की-ईरान व अरब देशों की

नीतियों के प्रति पक्षपात करने को बाध्य होने की भावना में, आधुनिक विश्व में उनके पिछड़ेपन, धर्मान्ध-भाव और नगण्य महत्त्व के बाद भी उनकी चापलूसी करने में, कश्मीर की मुस्लिम बहुसंख्या को दण्डवत् करने की जिज्ञासा अनुभव करने में, मुस्लिम नियम उल्लंघनकर्ताओं के विरुद्ध कोई कड़ी कार्यवाही करने में असहाय अवस्था का अनुभव करने में, पाकिस्तान द्वारा की जा रही निरन्तर छेड़खानी के विरुद्ध प्रतिकार की कोई भी कार्यवाही करने में नपुंसकता अनुभव करने में और यद्यपि भारत-विभाजन करने का मूल-विचार हिन्दुओं से मुस्लिमों को पूरी तरह पृथक् कर देने का ही था, तथापि एक पर्याप्त विशाल मुस्लिम जनसंख्या को अपने देश में पूर्ण आश्रय दिए रहने में हमारे सम्मुख प्रस्तुत कर रखा है।

हम, इस प्रकार, स्पष्ट देखते हैं कि कहने में पूर्णतया स्वतन्त्र होने पर भी भारत ने अपने पूर्वकालिक दोनों स्वामियों—मुस्लिमों और ब्रिटिशों—की मानसिक गुलामी में स्वयं को बुरी तरह, ज्यों-का-त्यों जकड़ रखा है।

इसी दासता, गुलामी के ही कारण भारत सैनिक दृष्टि से कमज़ोर और आर्थिक दृष्टि से निराश्रित बना हुआ है।

यदि भारतीय प्रशासक इस प्रकार की दासता के मनोभावों से मुक्त रहे होते, तो उन्होंने निश्चित रूप से ही सभी क्षेत्रों में विशिष्ट उन्नति की होती और भारत को सम्मानित तथा ऐसा राष्ट्र बना दिया होता जिससे भय हो। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और कूटनीति के विशाल समुद्र में आंग्ल-मुस्लिम जंजीरों से स्वयं को मुक्त करने और इच्छानुसार तैरने की भावना के प्रति भारत ने एक विचित्र अरुचि का प्रदर्शन ही किया है। यह कायरता गुलामी और दूसरे पर निर्भर रहने (की वृत्ति) की दीर्घ अवधि से उत्पन्न होती है—मार्गदर्शन और नेतृत्व के लिए ब्रिटेन, अरेबिया, तुर्किस्तान और ईरान की ओर देखने की वृत्ति के कारण उत्पन्न हुई है।

अति दीर्घकाल तक की पराधीनता भी गुलाम व्यक्ति को ऐसा बना देती है कि उसे जिन जंजीरों से बाँधकर रखा जाता है वह उन्हीं को अपने जीवन का सहारा समझने लगता है। यह है तो पर्याप्त विरोधाभासी बात, किन्तु है सत्य। पुराने ज़माने के एक बन्दी की कहानी सुनायी जाती है जिसे १५ वर्ष के लिए एक अँधेरी काल-कोठरी में बन्द कर दिया गया था और

उस कोठरी के मध्य में गाड़े हुए एक खम्भे के साथ बँधी हुई एक जंजीर से उसे बाँध दिया गया था। कारागार के नित्य नियमानुसार ही, उसके सम्मुख एक पात्र में पीने का जल और दूसरे पात्र में कुछ भोजन ऐसे रख दिया जाता था जैसे कोई पालतू जंजीर से बँधा कुत्ता हो। १५ वर्ष के बाद उस बन्दी को मुक्त कर दिया गया। वह डरते-डरते, आहिस्ता-आहिस्ता, अत्यन्त अवधानपूर्वक कारागार के फाटक से बाहर गया। अत्यधिक मन्द रोशनी की अभ्यस्त उसकी आँखें बाहर के चमचमाते सूर्य के प्रकाश को देखकर चुँधिया गयीं। निकटवर्ती सड़कों पर तेज गति से चलता हुआ यातायात उसे अत्यन्त विचित्र अनुभव होने लगा। कोई भी व्यक्ति उसको जानता हुआ अथवा उसकी परवाह करता हुआ प्रतीत नहीं हुआ। उसे प्रतीत हो रहा था कि यह सब अति विचित्र और अनजाना संसार उसके सम्मुख विद्यमान है। वह बन्दी, अब मुक्त हो जाने पर भी, अत्यन्त भयभीत अनुभव कर रहा था। उसने वाह्य-जगत् पर एक लम्बी नज़र डाली, एक गहरी साँस ली और अपनी उसी पुरानी कोठरी की तरफ़ अचानक बहुत तेज़ी से दौड पड़ा। उसने विचित्र अपरिचित व्यापक संसार में स्वतन्त्र घूमने के स्थान पर, उसी कोठरी में कुत्ते के समान आश्रय-पूर्ण और सीमित अस्तित्व को ही पसन्द किया। वन्दी जीवन ने उसके जीवन के प्रति आत्म-विश्वास को झकझोर दिया था, उसकी नींव खोखली कर दी थी। यही बात भारत के साथ घटित हुई है। नितान्त निराश्रयता, निराशा, हतभाग्य, और सम्पूर्ण आत्मविश्वास के अभाव की यह अनुभूति बन्दी व्यक्ति द्वारा अपना पुराना इनिहाम भुला देने, और स्वतन्त्रता व मुक्त जीवन की खुशियों को गँवा देने की विस्मृति का ही दुष्परिणाम थी।

अतः, यह अत्यावश्यक है कि देश के प्रत्येक नागरिक के हृदय में इतिहास की चिगारी को प्रज्वलित रखा जाय ताकि ऐसा न हो सके कि अपने सत्य इतिहास से अनभिज्ञ, पथभ्रष्ट बहुसंख्या उसी जंजीर को चूमती रहे जिसने इसे बाँध रखा था। यथार्थ रूप में तो भारत की बीमारी ही यह है। भारत का राष्ट्रीय स्वास्थ्य पुनः ठीक करने का एकमेव उपचार प्रत्येक नागरिक को मिलावटहीन—विशुद्ध इतिहास पढ़ाना है। अतः, भारत की लम्बी दासता

की अवधि में विकृत अथवा विनष्ट किया गया भारत का इतिहास पुनः लिखा जाना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण और आवश्यक कार्य हो जाता है।

बहुत समय तक गुलाम बने रहे देश (राष्ट्र) के लिए, उसके इतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता स्पष्ट कर देने के पश्चात्, अब हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि पुनर्लेखन का कार्य किस प्रकार किया जाना चाहिये।

साम्यवादियों के समान किसी एक विचारधारा के कट्टर अनुयायी, यद्यपि वे गैर-साम्यवादी बीते युग में स्वतन्त्र थे तथापि, अपने ही देश का इतिहास और विश्व के शेष भाग का इतिहास मानवता के आदिकाल से ही उन लोगों के मध्य सतत चले आये संघर्ष के रूप में लिखने का यत्न करते हैं जिनमें से कुछ के पास सब-कुछ है और शेष बहुसंख्यक भाग के पास सभी वस्तुओं का सर्वथा अभाव है। इस प्रकार की विचारधारा पर आधारित पुनर्लेखन सत्य, सम्पूर्ण सत्य और सत्य के अतिरिक्त कुछ भी नहीं तथ्य का सम्यक प्रस्तुतीकरण कभी नहीं कर सकता यद्यपि इतिहास यथार्थ रूप में यही वस्तु है।

इतिहास पुनर्लेखन के एक अन्य प्रकार को 'साम्राज्यवादी' विधि की संज्ञा दी जा सकती है। शासकगण, चाहे वे बाहरी देशों के हों अथवा स्व-देश कें, अपनी सुविधानुसार इसे स्वीकार, अंगीकार कर लेते हैं। इस तथ्य को उन मुस्लिम और यूरोपीय लेखकों के ऐतिहासिक कथनों से चरितार्थ किया जा सकता है जिनका सम्बन्ध अन्य-देशीय शासक-दल से था। वे अपने-अपने सुलतानों और बादशाहों को अथवा गवर्नरों और गवर्नर-जनरलों को एक-दूसरे से बढ़-चढ़कर प्रस्तुत करने का यत्न किया करते थे। उनके सार्वजनिक हत्याकाण्डों, लूट-पाटों और अपहरण व शीलभंग जैसे कुकर्म-मय आक्रोशों को भी महान् उदारता, बुद्धिमानी, साहस, न्याय के पुण्यकर्मों के रूप में प्रस्तुत किया गया है और विदेशी मुस्लिम तिथिवृत्त-लेखकों द्वारा दण्डित किया जाना उचित था। दासता की मनोवृत्ति वाले हिन्दू लेखकों ने भी, यद्यपि वे इन कर्मों को नेकी के कामों के रूप में सिद्ध करने में विफल रहे हैं—असमर्थ हुए हैं, उनको किसी भी काम का नहीं—निरर्थक कहकर उपेक्षा करने का यत्न किया है। इस प्रकार, मध्यकालीन मुस्लिम तिथिवृत्त इतिहास-लेखन का एक ऐसा प्रकार प्रस्तुत करते हैं जिसमें घोरतम क्रूर

कर्म भी उदार कर्मों के रूप में अथवा यदि कुछ कहा ही गया तो हानि-हीन प्रशासनिक अभ्यासों के रूप में ही प्रस्तुत किया जाता है।

किन्तु, विदेशियों की तो बात ही दूर रही, स्वयं पथभ्रष्ट देशी शासक भी अपने राष्ट्रीय इतिहास को, मात्र अपने निरंकुश विचारों की सुविधा के लिए विकृत करने लगते हैं। कई बार इतिहास को विद्रूप, विकृत करने के उनके प्रयत्नों से स्वयं उनका ही सिंहासन डोल जाता है, उनका पतन—उनका सफ़ाया हो जाता है। इतिहास के अटल तथ्यों की उपस्थिति में ऐसा अपकीर्ति-कर पश्चगमन करने का एक हास्यास्पद उदाहरण सत्ताधारी भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस द्वारा इतिहास को दूषित करने की कायरतापूर्ण कोशिशों में प्रस्तुत किया गया था।

सन् १९५० के आसपास भारत के ढीले-ढाले, सनकी कांग्रेसी शासकों ने भारत के स्वातन्त्र्य-आन्दोलन का इतिहास लिखने का व्यंग्य-वीर-काव्यात्मक प्रयत्न किया। अनेक संगठनों को आदेश भेज दिए गये कि वे जिन-जिन क्षेत्रों, प्रदेशों में हों वहाँ से सम्पूर्ण जानकारी का संग्रह कर लें। इसका परिणाम यह हुआ कि उन भारतीय देशभक्तों के सम्बन्ध में विपुल मात्रा में जानकारी का ढेर संग्रह हो गया जिन्होंने तलवारों और शमशीरों, पिस्तौलों और बन्दूकों से विदेशियों के साथ युद्ध लड़ा था। पराक्रम और शौर्य के संघर्ष की इस पृष्ठभूमि में सन् १९१५ से १९४५ पर भारत में कुलबुलाने वाले अनशनों और विरोध-स्वरूप किए गये प्रदर्शनों वाला गांधी-आन्दोलन लघु, भीरुतापूर्ण, असंगत और उपहासास्पद प्रतीत होने लगा। अतः, तुरन्त आदेश भेज दिए गये कि पहले संग्रह किए हुए कागज़-पत्रों को रद्द कर दिया जाय और इस जाँच को मात्र कातर और निष्प्रभ गांधीवादी आन्दोलन तक ही सीमित रखा जाय। यह प्रदर्शित करता है कि किस प्रकार इतिहास का प्रवाह इतना शक्तिशाली होता है कि वह उन्हीं लोगों को आघात पहुँचाता है जो इसको तोड़ना-मरोड़ना चाहते हैं।

राष्ट्र के लिए उचित बात यही है कि तथ्यात्मक इतिहास लिखा जाय जिसमें एक कुदाल को कुदाल कहा जाता है, शीलभंग को शीलभंग कहा जाता है, नर-हत्याकाण्ड को नर-हत्याकाण्ड, लूट-खसोट को लूट-खसोट, और अन्य-देशीय—विदेशी व्यक्ति को विदेशी व्यक्ति कहा जाता है।

परकीय—विदेशी की पहचान करने का आधार उसका निवास स्थान न होकर उस व्यक्ति की मनोवृत्ति होनी चाहिए। यदि वह व्यक्ति—चाहे स्त्री हो अथवा पुरुष—शपथपूर्वक कहता है कि प्रतिमाएँ तोड़ेगा, उर्दू, अरबी और फ़ारसी अथवा अंग्रेजी का प्रचार-प्रसार करेगा, मार्गों व राजमार्गों पर संगीत बजने पर आपत्ति करेगा, बाहरी देशों के नाम व वहीं की वेश-भूषा धारण करेगा, वेदों का तिरस्कार करेगा, गौओं का वध करेगा, वैचारिक-राजनीति अथवा धार्मिक प्रेरणाओं के लिए अन्य देशों की ओर देखेगा, तो वह व्यक्ति परकीय है—विदेशी है। प्रायः भ्रामक रूप में विश्वास कर लिया जाता है कि जो भी व्यक्ति भारत को अपना देश समझता है, वह व्यक्ति भारतीय है। यह तो केवल आधी परीक्षा ही है। यदि वह व्यक्ति सभी हिन्दुओं को अपनी ही धर्मास्था में परिवर्तित करना चाहता है, तो वह तनिक भी भारतीय नहीं है। इतिहास हमें इसी बात की सीख देता है। नागरिक को परखने की श्रेष्ठतर विधि मात्र निवासस्थान को देखने की अपेक्षा देश की प्रतिभाओं, उसकी संस्कृति, जीवन-पद्धति, भाषा और धर्म के प्रति आस्था, श्रद्धा देखने में है क्योंकि निवासस्थान की शर्त तो अकबर और औरंगजेब जैसे क्रूर, अत्याचारी लोग भी पर्याप्त मात्रा में पूरी करते थे।

इतिहास के इस तथ्य की अपर्याप्त समझ होने के दुष्परिणामस्वरूप ही भोले-भाले नागरिकों के दिमागों में भ्रष्ट, भ्रामक विचार जागृत हो चुके हैं। इनमें से कुछ ये हैं—भारत की मिली-जुली, मिश्रित संस्कृति है; तिरंगे जैसा इसका एक मिले-जुले रंगों वाला ध्वज होना चाहिये तथा भारत में ऐसे लोगों को भी रहने दिया जाना चाहिये—उनको सहन किया जाना चाहिये, जो अपने ही साथी नागरिकों के शीशों और उनके देवी-देवताओं की प्रतिमाओं को तोड़ने-फोड़ने में भी विश्वास करते हैं।

इतिहास का उचित तथ्यात्मक पुनर्लेखन ऐसे सभी अयुक्तियुक्त विचारों, भावों का उन्मूलन करने में सहायक होगा। अतः, जो लोग अल्पसंख्यकों को प्रसन्न करने के लिए इतिहास की ढीली-ढाली, ढुलमुल, भ्रामक और काल्पनिक धारणाओं पर नियन्त्रण रखने की सामर्थ्य रखते हैं, वे ही

लोग भारतीय इतिहास के तथ्यात्मक पुनर्लेखन का विरोध करते प्रतीत होते हैं।

इस सन्दर्भ में स्मरण रखने योग्य अन्य एक बात यह है कि इतिहास-पुनर्लेखन के प्रयत्नों की बहुत सारे व्यक्ति यह कहकर निन्दा, अवहेलना करते प्रतीत होते हैं कि इतिहास तो वैयक्तिक 'व्याख्या' की वस्तु है, अतः, इसके बारे में कोई बात अन्तिम रूप से नहीं कही जा सकती है—न ही इसकी कोई वस्तुपरकता हो सकती है। यह दृष्टिकोण गलत है, अशुद्ध है। आइए, हम भारत में सन् १८५७ ई० की उत्क्रान्ति का उदाहरण लें। तत्कालीन ब्रिटिश शासकों और उनके समर्थकों ने उस घटना को गदर कहकर तिरस्कृत किया, जबकि दूसरे पक्ष के लोगों ने उसी बात को स्वातन्त्र्य-युद्ध की संज्ञा से विभूषित कर यशस्वी बना दिया। एक सच्चे इतिहास-लेखक को उनमें से किसी भी एक विचार के कारण विस्मित, भ्रमित नहीं होना चाहिये क्योंकि उस घटना को दिया जाने वाला नाम तो दृष्टिकोण पर ही निर्भर रहेगा। एक सच्चा इतिहास-लेखक तो उस संघर्ष के मूल में घटनाओं की तिथिक्रमानुसार यथार्थता, युद्धों और हताहतों पर ही बल देगा। इस प्रकार की तथ्यपरक यथार्थता बाद में इतिहासकारों का मतैक्य स्थापित करने में सहायक हो सकती है कि वे इस संघर्ष, युद्ध और हताहतों का सम्यक् विचार करते हुए इसकी अवधि, इसमें परस्पर हुई मुठभेड़ों की संख्या कितनी थी, कितने लोग हताहत हुए थे और जिस क्षेत्र में यह संघर्ष लड़ा गया था—उसका ध्यान करते हुए इसे गदर अथवा स्वातन्त्र्य-युद्ध की संज्ञा दें। किन्तु इस प्रकार अपने मत की अभिव्यक्ति ही इतिहास का सार नहीं है। अधिक-से-अधिक इसे निरर्थक शृंगार, आडम्बर ही माना जा सकता है।

एक इतिहास-लेखक जिस भाषा का प्रयोग करता है, वह वर्णन की गयी घटना के अनुरूप ही होनी चाहिये। भारतीय ऐतिहासिक वर्णन-ग्रन्थों के रचनाकारों ने न्याय, दया, देशभक्ति, बहादुरी, शूरता, हत्याकाण्ड, शील-भंग और लूट-खसोट के कामों की अभिव्यक्ति के लिए मधुर, प्रीतिकर, अतिथि-कक्ष जैसी सदाशयता का प्रदर्शन अथवा दिखावा करने वाली भाषा का ही प्रयोग करने का यत्न किया है। यद्यपि दीर्घकालीन उपयोग के कारण एक-समान भाषा का यह प्रकार मानक, आदर्श माना जाने लगा है, तथापि

आवश्यकता के कारण किया गया यह विपथगमन नियम-भंग और दिमागी कमज़ोरी है। दीर्घावधि तक विदेशी आधिपत्य के अधीन रहने के कारण, अन्य-देशीय—विदेशी मुस्लिम शासकों और ब्रिटिश प्रशासकों के अत्याचारों और आक्रोशों की निन्दा करने के लिए कठोर भाषा का प्रयोग करके अपने शासकों को क्रुद्ध करने का, सम्भवतः, साहस भारतीय लोग उस समय नहीं कर सके। किन्तु, स्वाधीनता के बाद तो यह असंगति, असामंजस्य तनिक भी देर के लिए जारी नहीं रहना चाहिये। साहित्य का तबतक कोई अर्थ नहीं है जबतक कि अवसर के उपयुक्त स्वर को यह आवश्यकतानुसार परिवर्तित नहीं कर लेता। इसकी परख नाटकों, उपन्यासों अथवा किसी घटना का किसी सन्देशवाहक द्वारा वर्णन करते समय प्रयुक्त भाषा से भी की जा सकती है। इसी प्रकार, एक सच्चे इतिहासकार को भी उपयुक्त भाषा का प्रयोग करना चाहिये।

: ६ :

भारतीय जीवन में मुस्लिम योगदान

सामान्य लोग 'भारतीय जीवन और संस्कृति में मुस्लिम योगदान' की प्राय: चर्चा करते रहते हैं। बहुत सारी अन्य पिटी-पिटायी साहित्यिक अभिव्यंजना के समान ही इस कथन को भी यन्त्रवत् दोहराया जाता है। मध्यकालीन इतिहास अथवा समकालीन राजनीति में 'मुस्लिम योगदान' वाला यह अक्षय-वाक्यखण्ड प्रशंसार्ह रूप में प्रदर्शित करने वाली चर्चा में अथवा लेखों, पुस्तकों में इस भाव से प्राय: प्रस्तुत कर दिया जाता है कि इसके श्रोता अथवा पाठक स्वयं को अत्यन्त लघु और नगण्य समझें, तथा वक्ता के हृदय में अपने विरोधियों को नीचा दिखा सकने में सफलता प्राप्त करने के कारण उल्लास और विजय की भावना व्याप्त हो।

इसके विपरीत, यह बात तो उलटी ही होनी चाहिये अर्थात् मुस्लिम योगदान—यदि इसे यह कहकर पुकारा जा सकता हो—न केवल भारत के नाम को ही शर्मिन्दा और कलंकित कर चुका है, अपितु सम्पूर्ण मानवता को ही इसने प्रताड़ित किया है—हार्दिक व्यथा पहुँचायी है। यह इस तथ्य का एक अन्य पक्ष और उदाहरण है कि विदेशी शक्तियों की १,१०० वर्षीय दीर्घावधिक पराधीनता में भारतीय इतिहास किस प्रकार पूरी तरह उलट-पुलट दिया गया है। यह इस तथ्य को भी दर्शाता है कि किसी अपकृष्ट, तुच्छ वस्तु को किस प्रकार उत्कृष्ट, श्रेष्ठ वस्तु के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

इसके महत्त्व और सातत्य के कारण, आइए, हम इस 'मुस्लिम योगदान' के रूढ़िवादी सैद्धान्तिक दावे की तनिक सूक्ष्म समीक्षा करें।

भारतीय संस्कृति में 'मुस्लिम योगदान' का यह दावा स्पष्टत: इस तथ्य पर आधारित है कि मुहम्मद-बिन-कासिम से लेकर बहादुरशाह ज़फ़र

तक के १,१०० वर्षीय कालखण्ड में अरबों, तुर्कों, ईरानियों, अफ़गानों, अबीसीनियनों, इराकियों, कज़ाकों और उज़बेकों ने भारत पर आक्रमण किये थे और शासन किया था।

मुहम्मद-बिन-कासिम, मुहम्मद गज़नी, मुहम्मद ग़ोरी, तैमूरलंग, बाबर, नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली जैसे बर्बर और अनपढ़ (अथवा लगभग अनपढ़ लोग) घुस-पैठिए और आक्रमणकारी लोग किस प्रकार का योगदान कर सकते थे? क्या भारत को लूटना, इस देश के भवनों को ध्वस्त और विनष्ट करना, इस देश के मन्दिरों को भ्रष्ट करना और मकबरों व मस्जिदों में परिवर्तित करना, यहाँ की महिलाओं पर बलात्कार करना, अन्य बाहरी देशों में गुलामों के रूप में बेचने के लिए यहाँ के बालकों और बालिकाओं का अपहरण करना, तथा सैकड़ों की संख्या में पुरुषों की हत्या करना कोई 'योगदान' था अथवा प्रतिशोध, वैर-साधन? भारतीय महिलाओं ने लगभग प्रत्येक आक्रमण के समय 'जौहर' क्यों किया? क्या यह केवल मजाक ही था?

ये सभी आक्रमणकारी अवांछनीय और बिना बुलाए मेहमान थे, जिनको हिन्दू लोग खदेड़कर बाहर कर देना चाहते थे।

आइए, हम अपने साधारण नागरिक जीवन से ही एक उदाहरण लें। क्या यह तर्क दिया जा सकता है कि किन्हीं डाकुओं का एक दल किसी सुगठित परिवार अथवा ग्राम के शान्तिमय जीवन पर आक्रमण करके उनकी समस्त धन-दौलत को लूटकर, पुरुष-वर्ग को भीषण यातनाएँ देकर, महिला-वर्ग का शीलभंग करके, लड़कियों का अपहरण करके, लड़कों को अन्यत्र गुलामों के रूप में बेचकर और सार्वजनिक नर-हत्याकाण्ड करके उनके नागरिक जीवन में कोई बहुमूल्य योगदान करता है? क्या ऐसे दल को कोसा जाता है, किसी न्यायालय में उसपर भीषण अभियोग का आरोप लगाकर मामला चलाया जाता है और उसे दण्ड दिया जाता है, अथवा हताहतों—शिकार व्यक्तियों के जीवन में अति अनुपम, अद्वितीय 'योगदान' करने के लिए उसको परिवार अथवा ग्राम की ओर से एक प्रशस्ति-पत्र और सम्मान-पट्ट दिया जाता है?

उपर्युक्त दृष्टान्त से यह पूरी तरह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि गुण्डों,

लुटेरों और बर्बर अत्याचारियों के झुण्ड-के-झुण्ड नियुक्त करके, हथियारों से लैस होकर दारुण यातनाओं की विधि से भारत में अपना प्रवेश निश्चित करने वाले बाहरी देशों के मुस्लिम आक्रमणकारी भारत में कभी भी पसन्द नहीं किए गये थे। उन्होंने भारत को हर प्रकार से ध्वस्त, विनष्ट किया और इसे झुग्गी-झोपड़ियों की घनी बस्तियों, कच्ची-पक्की, टूटी-फूटी गन्दी मड़ैयों के मुहल्लों, दरार वाले ध्वंसावशेषों और भीषण, नितान्त दरिद्रता का देश बना दिया। मुस्लिम तिथिवृत्त-लेखक अलबरूनी ने, जो आक्रमणकारी मुहम्मद गज़नी के साथ-साथ भारत आया था, स्वयं बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में कहा है कि मुहम्मद गज़नी ने हिन्दुओं का जीवन क्षार-क्षार कर दिया था और इसे हवा में उड़ा दिया था।

भारत ने इन घुसपैठियों और आक्रमणकारियों का कभी अभिनन्दन नहीं किया। इन क्रूर दानवों के क्रूरतम जघन्य अपराधों, अत्याचारों से मुक्ति के लिए भारत सदैव हृदय से प्रार्थना करता रहा। इसीलिए, यदा-कदा उत्पन्न होकर भारत-माता का संकट-मोचन करने के लिए यत्नशील राणाप्रताप अथवा शिवाजी को भारतीय लोग ईश्वर-प्रेषित और संरक्षण देने वाला महामानव मानते रहे।

यहाँ तक तो आक्रमणकारियों से सम्बन्धित बात रही।

फिर यह तर्क दिया जाता है कि चूँकि इन बाह्य आक्रमणकारियों की एक बहुत बड़ी संख्या अपनी सन्तानों, अपने जी-हुजूरों और इस्लाम में धर्म-परिवर्तित हिन्दुओं को भारत में ही बसने के लिए छोड़ गयी थी, इसलिए कम-से-कम उनको तो इस बात का श्रेय दिया ही जाना चाहिये कि उन्होंने तो भारतीय संस्कृति में कुछ 'योगदान' अवश्य ही किया था। किन्तु यह दावा भी अयुक्तियुक्त, अनुचित है।

जैसाकि अभिलिखित इतिहास से अति स्पष्ट है, मुस्लिम स्वामियों और उनके विदेशी दरबारियों और सैनिकों के वर्ग ने कभी भी स्वयं को भारतीय नहीं माना। वे स्वयं को सगर्व ईरानी, तुर्की, अरबी, कज़की, उज़बेकी, अफ़गानी और अबीसीनियनी तथा भारत में जन्मे अथवा धर्म-परिवर्तित मुस्लिमों को भी 'हिन्दुस्तानी' के तिरस्कार-सूचक नाम से सम्बोधित करते रहे। इस प्रकार, यद्यपि शारीरिक रूप से वे भारत में

निवास करने लगे थे, तथापि मानसिक रूप से वे भारत को लूटने और निर्धन बनाने की शपथ खाए रहे। उन्होंने अपना धन भारत से बाहर भेजा, स्वयं अपने ही देशों में शादियाँ कीं, और धार्मिक यात्रा के लिए भारत के बाहर ही गये। उन्होंने, भारत में उन हत्यारों को सन्तों की पदवी दे दी जो भारत की जनता के लिए भीषण आतंक थे। यह देखने के लिए, कि क्या भारत में बस जाने मात्र-से स्वतः ही सम्मानित नागरिकता सुनिश्चित हो जाती है, हम नागरिक जीवन से ही एक दृष्टान्त लें। कल्पना कीजिए कि डाकुओं का एक दल किसी दूरस्थ स्थान से एक ग्राम पर डाका मारने और उस ग्राम की धन-दौलत लूटकर अपने मूल-स्थान तक ले जाने की अपेक्षा यह सुरक्षात्मक और सुविधाजनक समझता है कि उसी ग्राम में निवास किया जाय और पास से ही अपनी गर्हित कार्यवाहियाँ जारी रखी जाएँ। क्या ऐसे दस्यु-दल को ग्राम की जनसंख्या में एक बहुमूल्य और श्रीवृद्धिकारी जन-वृद्धि समझा जाएगा, और क्या इस वर्ग को ग्रामीण नागरिक-संघ की ओर से सम्मानित कर प्रशस्ति-पत्र दिया जाएगा ?

इस विश्लेषण से सुस्पष्ट हो जाना चाहिये कि मापदण्ड शारीरिक निवासन न होकर, आचरण ही है। जब कुतुबुद्दीन ऐबक (सन् १२०६ ई०) से लेकर बहादुरशाह ज़फ़र (सन् १८५८ ई०) तक के सभी मध्यकालीन मुस्लिम स्वामी-गण भारतीयों की अत्यधिक, विपुल बहुसंख्या को नीच, पापात्मा ही समझते रहे, जिनकी गौओं को काटना जारी रखना, मन्दिरों को ध्वस्त करना और सम्पत्ति को लूटना अनिवार्यतः आवश्यक था, तब उनको मात्र इसीलिए तो भारतीय नहीं समझा जा सकता कि वे भारत में बस गये थे। सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि वे भारत में बसे किस उद्देश्य से थे ? इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान में रहना चाहिये कि शक और हूण लोग भी तो आक्रमणकारियों के रूप में ही भारत में आये थे, किन्तु वे भारतीयों के साथ इतनी पूर्णता से आत्मसात हो गये थे कि आज भारत में कोई भी शक अथवा हूण नहीं है। इसके विपरीत, मध्यकालीन मुस्लिम लोग विदेशी ही बने रहे।

भारत में मुस्लिम राज्य की लगभग समाप्ति तक ही मुस्लिम स्वामी-गण, उनके दरबारी लोग और इस्लाम में धर्म-परिवर्तित व्यक्तियों ने स्वयं

को भारतीय बनाना तो दूर रहा, अपनी वेशभूषा, ढंग, नाम, धर्म, लिपि, भाषा, वाणी और दृष्टिकोण का विदेशी रूप बनाए रखने का प्रत्येक प्रयत्न किया—विदेशियों के रूप में अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रखने के लिए द्वेष-भाव की भी रक्षा करते रहे। यह बाह्य-देशीय भाव इतना गहरा पैठ गया कि यह दृष्टिकोण आज भी जारी है। इस भावना से, भारत में इस्लाम धर्म समाप्त होकर, भारत पर अरब-ईरानी-तुर्की आधिपत्य की राजनीति बन गया। उनकी यह पृथकतावादी वृत्ति प्रखर रूप में अपने ही युग तक चलती रही है। इसी का विशिष्ट उदाहरण हमारे सम्मुख उस समय प्रस्तुत हुआ था जब अपने पृथक् निवासस्थान के रूप में पाकिस्तान के नाम पर सन् १९४७ ई० में भारत के दो टुकड़े कर देने की माँग की थी। हाँ, इसे अवश्य ही भारत में इस्लाम द्वारा अरेबिया, ईरान और तुर्की के प्रति 'योगदान' कहा जा सकता है, तथापि यह भारत की कु-सेवा ही है।

हिन्दुस्थान की जनता और संस्कृति को प्रेम करने की तो बात ही दूर है, मध्यकालीन मुस्लिम शासक-वर्ग हिन्दुओं के प्रति घोर घृणा का भाव बनाये रहे। इस बात का दिग्दर्शन सैकड़ों मध्यकालीन मुस्लिम तिथिवृत्तों में से लगभग प्रत्येक में इस तथ्य द्वारा किया गया है कि उनमें से किसी एक में भी भारत की जनता को उनके विशिष्ट नाम से नहीं पुकारा गया है। मध्यकालीन मुस्लिम तिथिवृत्तों में हिन्दुओं को "लुच्चे, चोर, डाकू, लुटेरे, ठग, गुलाम, वेश्या, नर्तकियाँ और काफिर" जैसे सर्वाधिक निकृष्ट, अवमानपूर्ण और अभद्र सम्बोधनों से पुकारा गया है। पाठ्यक्रमगत पाठ्य-पुस्तकें जिन लोगों ने लिखी हैं, उन अधिकाधिक इतिहास-लेखकों ने इस तथ्य को जनता से छिपाकर रखा है, उसे उजागर नहीं किया है। क्या किसी आहत —शिकार देश के निवासियों में से अधिकांश को सम्बोधित इस प्रकार के निकृष्ट अपशब्द उस देश की संस्कृति में 'योगदान' हैं?

तीसरी बात यह है कि "इस्लाम स्वीकार करो अथवा भीषण यातनाओं द्वारा मरने को तैयार रहो" के आतंक से बचने के मूल्य के रूप में हिन्दुओं से धन ऐंठने के लिए लगाया गया द्वेषजनक, क्रोधोत्पादक जज़िया-कर ही क्या इस्लाम द्वारा भारतीय संस्कृति के प्रति महान् योगदान कहा जा सकता है? इसके विपरीत, यह तो एक अनिवार्यतः लगाया, ऐंठा जा रहा ऐसा कर

था जो हिन्दुओं पर ठूँसा गया था और जिसे भारतीय संस्कृति पर आरोपित जोंक-सदृश विदेशी कलम को सींचने के लिए उपयोग में लाया गया था।

चौथी बात यह है कि मुस्लिम शासनावधि में हिन्दुओं को एक रंगीन पैबन्द लगाना पड़ता था ताकि उनको मिलते समय कोई भी मुस्लिम उनका स्वागत न करे, उनकी शुभकामना न कर सके और न ही सामान्य शिष्टाचार निभा सके। क्या इसको भारतीय संस्कृति के प्रति मुस्लिम योगदान कहकर पुकारा जा सकता है? दूसरे शब्दों में, एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति के प्रति किए जाने वाले सामान्य शिष्टाचार से भी एक हिन्दू को वंचित रखना तो स्वयं संस्कृति का अस्वीकरण था। मुस्लिम शासन के समय हिन्दू व्यक्ति को कुत्ता अथवा सुअर के समान (हेय) समझा जाता था।

कई बार इस बात पर जोर दिया जाता है कि यदि कुछ और नहीं भी हुआ, तो भव्य मकबरों, क़िलों, मस्जिदों, राजमहलों, पुलों और नहरों का निर्माण करके तो मुस्लिमों ने, कम-से-कम, भारत में महान् स्थापत्यकला में योगदान किया है। यह बात भी निराधार है क्योंकि मुस्लिमों ने मध्यकालीन युगों में, भारत में एक भी मकबरा अथवा मस्जिद नहीं बनाया। सभी मध्यकालीन मक़बरे, मस्जिदें, किले, राजमहल, पुल और सड़कें जिनका निर्माण-श्रेय इस या उस सुलतान अथवा दरबारी को झूठे, असत्य ही दिया जाता है, अपहृत, बलात्-अधिगृहीत हिन्दू-संरचनाएँ हैं जिनको मुस्लिम उपयोग में ले लिया गया है।

दूसरी ओर, मुस्लिमों ने तो नदीघाटों, नहरों, पुलों, राजमहलों, मन्दिरों, भवनों और क़िलों जैसी भव्य हिन्दू-संरचनाओं को बहुत बड़ी संख्या में नष्ट किया है। विनष्ट होने से जो कुछ निर्माण बच सके, उनका उन्होंने मकबरों और मस्जिदों के रूप में दुरुपयोग कर लिया। कुछ अन्य भयावह, इधर-उधर खण्ड-विखण्ड ध्वंसावशेषों और मलवों के ढेरों के रूप में आज भी दिखायी पड़ जाते हैं।

यहाँ हम पुनः देखते हैं कि इतिहास को किस प्रकार पूरी तरह उलट-पुलट दिया गया है, क्योंकि भारत में कुछ भी निर्माण करना तो दूर रहा मुस्लिमों ने या तो भवनों को पूरी तरह ध्वस्त कर दिया अथवा हिन्दू-भवनों

को हड़प कर लिया और विद्रूपण, भ्रष्ट-कर्म और विनाशन द्वारा उनको तोड़ा-फोड़ा या विकृत कर दिया, तथा झूठे निर्माण का दावा कर दिया। मध्यकालीन भवनों और ऐतिहासिक स्थलों के प्रत्येक दर्शनार्थी को एक अति महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त स्मरण रखना चाहिए कि "निर्माण-कार्य सर्व हिन्दू का है, जबकि विनाश-कार्य पूरी तरह मुस्लिम" है।

यदि यह विश्वास किया जाता है कि भारतीय संस्कृति में किया गया मुस्लिम योगदान नृत्य और संगीत के क्षेत्र में है, तो यह दावा भी, यह विचार भी निराधार, आधारहीन है। हिन्दू परम्परा में तो नृत्य और संगीत अति पवित्र धार्मिक कलाएँ थीं। मुस्लिम शासन-काल में इनको वेश्यालय और दरबारी मदिरापान तक घसीट कर ले आया गया। अतः, यदि कुछ हुआ तो वह यह कि नृत्य और संगीत दूषित होकर अवमूल्यन की इतनी पंकिलावस्था को, हीन स्थिति को प्राप्त हो गये थे कि आज भी प्रत्येक गृहस्थ व्यक्ति अपनी पुत्रियों और बहिनों को, अथवा स्वयं बालकों तक को नृत्य और संगीत सीखने के लिए भेजने से आशंकित होता है। संगीत के क्षेत्र में 'मुस्लिम योगदान' के रूप में प्रमाण प्रस्तुत करने के लिए पूरी सम्भावना है कि लोग उन मुस्लिमों की विपुल संख्या की ओर इंगित कर देंगे जो अच्छे संगीतज्ञ माने जाते हैं। ऐसा दावा करने वाले लोग प्रायः भूल जाते हैं कि सर्वप्रथम बात तो यह है कि ये संगीतज्ञ जिन राग-रागनियों का गायन करते हैं वे सभी अविस्मरणीय हिन्दू-मूल और प्राचीनकाल की हैं। दूसरी बात यह है कि संगीतज्ञों में मुस्लिमों की संख्या तुलनात्मक रूप में अधिक इस कारण-वश है कि उन संगीतज्ञों के पूर्वजों को भारत में मुस्लिमों के शासन काल में दरबार का संरक्षण प्राप्त था और उन लोगों को पानोत्सव के समय दरबारी रंगरेलियों के साथ-साथ वाद्य अथवा गायन करना पड़ता था। तीसरी बात यह है कि वे तथाकथित मुस्लिम संगीतज्ञ भी मुस्लिम भेष में हिन्दू धर्म-परिवर्तित व्यक्ति ही हैं। इसलिए, संगीत में भी मध्यकालीन मुस्लिम स्पर्श ने इन पवित्र और अतिविकसित भारतीय कलाओं को निम्न-स्तरीय बना दिया। चौथी बात यह है कि प्राचीन भारत में संगीत के गुरु सन्तों की भाँति जीवन-यापन करते थे। मध्यकालीन मुस्लिम-शासन में उन्हीं लोगों को अधोपतित व्यक्ति बना दिया गया।

लोग कई बार मुगल-उद्यानों की चर्चा भी करते हैं। स्वयं इस शब्दावली का निहितार्थ है कि मुग़लों से पूर्व की अन्य मुस्लिम जातियों में से किसी को भी उद्यान-शास्त्र का कोई ज्ञान नहीं था। यदि, इसके विपरीत यह माना जाता है कि मुहम्मद-बिन-कासिम से प्रारम्भ करके जितने भी मुस्लिम शासक आक्रमणकारी हुए वे सबके सब उद्यानों के शौक़ीन थे, तो 'मुग़ल-उद्यान' नाम की यह शब्दावली भ्रमजाल है। उपयुक्त नामावली 'इस्लामी उद्यान', अथवा 'मुस्लिम उद्यान' होगी। 'मुग़ल-उद्यान' किसी भी प्रकार नहीं। यहाँ, यह अनुभूति अवश्य साथ रहनी चाहिए कि सभी मुस्लिम आक्रमणकारी उन शुष्क, रेतीले स्थानों से आये थे जहाँ पीने का एक गिलास पानी लेने के लिए भी जलते-भुनते, रेगिस्तानी प्रदेश में मीलों तक चलना पड़ता था। क्या ऐसे व्यक्ति उद्यान लगा सकते थे? दूसरी बात यह है कि अब यह सिद्ध किया जा चुका है कि कश्मीर में निशात और शालीमार से लेकर गुलबर्गा, बीजापुर और बीदर-स्थित सभी ऐतिहासिक-स्थल अपहृत हिन्दू-संरचनाएँ हैं जिनका निर्माण-श्रेय झूठे ही इस या उस मुस्लिम सुलतान अथवा दरबारी व्यक्ति को दे दिया गया है। यदि वे भवन हिन्दू भवन हैं, हिन्दू-मूलक हैं तो स्वत: यह निष्कर्ष निकलता है कि उनके सामने लगे, बने हुए उद्यान भी हिन्दू ही हैं, भारतीय उद्यान हैं, मुग़ल अथवा मुस्लिम उद्यान नहीं हैं। इस प्रकार, हम देखते हैं कि मुस्लिमों को उद्यानों का श्रेय देने में भी इतिहास पूरी तरह उथल-पुथल हो गया है। इस तथ्य का एक अत्यन्त नेत्रोन्मेषकारी, विशिष्ट दृष्टान्त शाहजहाँ के सरकारी रोजनामचे "बादशाहनामा" के भाग-I के पृष्ठ ४०३ पर उपलब्ध होता है जहाँ उसने स्वीकार किया है कि ताजमहल राजा मानसिंह का भवन है, जिसको जब मुमताज़ को दफ़नाने के लिए अपने अधिकार में लिया, तब वह एक अत्यन्त भव्य, सुरम्य, हरे-भरे उद्यान में बना हुआ था।

आधुनिक युग का विचार करते हुए हम देखते ही हैं कि कश्मीर अपनी मुस्लिम-बहुसंख्या के कारण एक समस्या वाला राज्य बन गया है। मुस्लिम बहुसंख्या के कारण ही पूर्वी बंगाल और पश्चिमी पंजाब भारत से पृथक् कर दिये गये थे। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय अधिक पृथक्तावादी आन्दोलनों को जन्म देने वाले स्थान के रूप में ज्ञात ही है।

यह कहना, कि भारत पर मुस्लिम आक्रमणों ने भारतीय, हिन्दू जीवन और संस्कृति में महान् योगदान किया है—जिसके लिए हिन्दुओं को आभारी, कृतज्ञ होना चाहिए, ऐसा ही है जैसा यह कहना कि रूस पर आक्रमण करके नेपोलियन और हिटलर ने भी सोवियत जीवन को समृद्ध करने की उत्कण्ठा ही प्रकट की थी। यह विचार-प्रणाली स्पष्ट रूप में बेहूदगी ही है। यदि आक्रमणकारियों और लुटेरों को उनके शिकार देशों की संस्कृतियों में योगदान करने वाला ही समझा जाना है, तब तो नेपोलियन और हिटलर की आक्रमण सम्बन्धी योजनाओं को विफल कर देने के लिए इतिहास को ग्रेट ब्रिटेन और रूस की तीव्र भर्त्सना और निन्दा अवश्य ही करनी चाहिए।

न केवल भारत में, अपितु स्वयं अरेबिया में भी—जहाँ इस्लाम ने सर्वप्रथम अपना सिर ऊपर उठाया था—इस्लाम और संस्कृति एक-दूसरे के विपरीत अर्थबोधक सिद्ध हुए हैं। जहाँ कहीं इस्लाम की पैठ हुई, वहीं उसने स्थानीय लोगों को विवश किया कि वे अपनी प्राचीन संस्कृति से घृणा करने लगें और उसे भुला दें। इस प्रकार, अरेबियन इतिहास भी इन शब्दों से प्रारम्भ होता है कि इस्लाम के आविर्भाव से पूर्व अरेबिया ऐसा देश था जो संक्षोभ, परेशानी में खोया हुआ था। इसी प्रकार, ईरानी, तुर्की, अफ़गानी, मिस्रवासी, अलजीरियाई और मोरक्कोवासी तथा मशाल व तलवार के बल पर इस्लाम में धर्म-परिवर्तित होने वाले लाखों लोगों को अपनी प्राचीन संस्कृति के प्रति इतना लज्जित होने पर विवश कर दिया गया है कि वे उनको स्मृति और इतिहास से समूल नष्ट करने पर बाध्य हो गये हैं और कहने लगे हैं कि इस्लाम से पूर्व विश्व में सर्वत्र अन्धकार-ही-अन्धकार था। क्या वह प्रणाली, जो आतंक और यातनाओं द्वारा धर्म-परिवर्तन मात्र पर ही जीवित रही है, 'संस्कृति' शब्द पर अपना कोई दावा प्रस्तुत कर सकती है?

इन सभी तथ्यों पर विचार करने के उपरान्त भारत में किसी भी प्रकार के 'मुस्लिम योगदान' की चर्चा करना इतिहास-विरोधी बात है। ऐसा नहीं है कि उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ है। एक तूफ़ानी मुस्लिम छाप पड़ी है, किन्तु इसे निश्चित रूप में योगदान तो नहीं कहा जा सकता। इसका दुष्परिणाम भारत की उच्च नैतिकता और अनुशासन का विनाश, और नितान्त आर्थिक-दारिद्रय हुआ है। इस प्रभाव ने भारतीय जीवन का सर्व-

नाश कर दिया है और भारत की प्रतिभा व चरित्र को इतना परिवर्तित कर दिया है कि यह अपने वैदिक और संस्कृत मूलाधार से पृथक् हो गया है, तथा इधर-उधर भटकता हुआ मक्का व मदीना की ओर आधा रास्ता तय कर चुका है।

भारत, इस मध्यकालीन मुस्लिम योगदान के बिना, अधिक उन्नत और सुखी, सुदृढ़ और संयुक्त-संगठित रहा होता। यदि कहा ही जा सकता हो तो यह 'योगदान' अनिच्छुक, प्रतिवादी और प्रति अतिरोधी भारत पर घोंपा, रोपा और मढ़ दिया गया था। इस प्रकार, यह अनावश्यक और अप्रिय-अवांछनीय था। भारत इसके बिना भी अपना काम चला सकता था, और इसका कुप्रभाव दूर करने के लिए भारत को अनेक वर्षों तक अथक परिश्रम करना पड़ेगा।

पुरातत्त्वीय अभिलेख किस प्रकार बनावटी रूप में प्रस्तुत किये गये हैं

विश्व की सरकारों, पुरातत्त्वीय कर्मचारियों, इतिहास के अध्येताओं-छात्रों और सामान्य जनता को सामान्य रूप से यह ज्ञात प्रतीत नहीं होता कि भारत के पुरातत्त्वीय अभिलेख अनेक प्रकार से बनावटी रूप में, असत्य रूप में, गढकर तैयार किए गये हैं।

उपर्युक्त तथ्य को 'भारतीय इतिहास पुनर्लेखन संस्थान' द्वारा प्रकाशित उन पुस्तकों में पर्याप्त रूप से चरितार्थ किया गया है जिनमें सिद्ध किया है कि ताजमहल को शाहजहाँ ने नहीं बनवाया था, फतहपुर सीकरी की स्थापना अकबर ने नहीं की थी, और आगरे का लालकिला भी उसके द्वारा नहीं बनवाया गया था। इस प्रकार, लगभग प्रत्येक मध्यकालीन ऐतिहासिक भवन, पुल अथवा नहर का झूठा, असत्य निर्माण-श्रेय विदेशी मुस्लिमों को दे दिया गया है, यद्यपि तथ्य यह है कि इनमें से प्रत्येक वस्तु का निर्माण, शताब्दियों पूर्व ही भारत के हिन्दू शासकों द्वारा कर दिया गया था।

इस प्रकार के असत्य, बनावटी प्रस्तुतीकरण का मूल कारण भारत की १२०० वर्षीय दीर्घकालीन दासता है जिसमें उसके विदेशी शासकों ने भारतीय पुरातत्त्व का सर्वनाश कर दिया है, उसके साथ मनमाना खिलवाड़ किया है।

भारत में १६वीं शताब्दी में ब्रिटिश शासन की स्थापना होने से पूर्व 'पुरातत्त्व विभाग' नाम की कोई वस्तु नहीं थी। भारत में ब्रिटिश शासन से पूर्व हुए दीर्घकालीन विदेशी मुस्लिम शासन में हिन्दू-भवनों को बलात्-ग्रहण करने और उन्हीं को मस्जिदों व मकबरों के रूप में दुरुपयोग करने की

एक लम्बी अकथनीय कहानी थी। इसलिए, भारत में जब ब्रिटिश सत्ता शासनारूढ़ हुई, तब सभी ऐतिहासिक भवन बहुत पहले ही मकबरों और मस्जिदों में परिवर्तित होकर ऐरा-ग़ैरा नत्थू ख़ैरा, तुच्छ मुस्लिमों के आधिपत्य और कब्ज़े में थे। जब ब्रिटिश लोगों ने भारत में सर्वप्रथम पुरातत्त्व विभाग की स्थापना की, तब उन्होंने मूढ़तावश सभी स्थानों पर विद्यमान ऐसे ही मुस्लिमों से परामर्श किया और उनकी बतायी हुई सभी मनगढ़न्त, असत्य बातों को अंकित कर लिया। ऐसी ही झूठी बातें भारत सरकार के सम्मानित पुरातत्त्व विभाग का मूल केन्द्र-भाग बन चुकी हैं।

इन भवनों पर स्वामित्व अथवा कब्ज़ा किए हुए मुस्लिम लोग उन भवनों के मुस्लिम-पूर्व वास्तविक मूलोद्‌गम अथवा स्वामित्व पर सच्चा प्रकाश डालने में रुचि नहीं रखते थे क्योंकि उनको आशंका थी कि यदि उन्होंने किसी भी भवन के मूलोद्‌गम के रूप में हिन्दू-मूलोद्‌गम स्वीकार कर लिया या उसकी चर्चा कर ली, तो उनका उस भवन पर से अधिकार—स्वामित्व या कब्ज़ा छीन लिया जाएगा।

कुछ मात्रा में उनका धर्मोन्मादपूर्ण इस्लामी उग्रवाद भी उनको इस बात से रोकता रहा कि वे उन विजित अथवा अपहृत भवनों का निर्माण-श्रेय इनके पूर्वकालिक हिन्दू स्वामियों को दें।

यह भी सम्भावना हो सकती है कि उन स्थानों पर विद्यमान वे मुस्लिम लोग इतने अशिक्षित और अज्ञानी थे कि उन्हें स्वयं ही इस तथ्य की कोई जानकारी नहीं थी कि उन भवनों का कोई पूर्वकालिक मुस्लिम-पूर्व इतिहास भी था।

एक अन्य संभावना यह भी है कि किसी भवन के बारे में बार-बार यह कहने से, कि वह किसी का मकबरा अथवा मस्जिद है, स्वतः यह प्रपंच प्रचलित हो गया हो कि इस भवन का मूल-निर्माण ही उसी प्रयोजन से हुआ हो। तथ्य रूप में तो उनका आशय यह होना चाहिए था और ब्रिटिश पुरातत्त्वीय कर्मचारियों को जो कुछ अनुभव करना चाहिए था वह यह था कि हिन्दुओं से छीन लेने के बाद उन भवनों को मक़बरों और मस्जिदों के रूप में उपयोग में लाया गया था। इस प्रकार, उदाहरण के लिए, दर्शक आज जिन भवनों को अकबर के, अथवा सफदरजंग के, अथवा हुमायूँ के

मकबरे के रूप में देखता है, उनका भाव-द्योतन मात्र इतना ही हो सकता है कि (यदि सचमुच ही वहाँ कुछ है तो) वहाँ पर वे विशिष्ट व्यक्ति दफ़नाए पड़े हैं। किन्तु यह कल्पना करना कि वे राजभवनों के सदृश विशाल, भव्य भवन उनके दफनाने के स्थानों के स्मारकों के रूप में बनाए गये थे, घोर ऐतिहासिक और पुरातत्त्वीय भूल है। वे भवन तो बहुत पहले से विद्यमान थे। विदेशी मुस्लिम विजेतागण उन विजित भवनों में निवास करते रहे और कदाचित् वहीं दफ़ना दिये गये। उन विशाल, भव्य भवनों में इनका दफ़नाया जाना भी सन्दिग्ध है। यह भी हो सकता है कि उन भव्य भवनों के भीतर बनी हुई सभी अथवा अधिकांश कब्रें झूठी, जाली हैं और वे मात्र इसी मन्तव्य से बनायी गयी हैं कि बिना एक भी रक्षक नियुक्त किये ही उन भवनों पर इस्लाम के उपयोगार्थ उनका कब्जा बना ही रहे।

यह घोर पुरातत्त्वीय असत्यता, झूठ किस प्रकार की गई—मैं इस बात के कुछ उदाहरण प्रस्तुत करना चाहता हूँ। ब्रिटिश सरकार ने जब भारत में पुरातत्त्व विभाग की स्थापना करनी शुरू कर दी, तब उन्होंने देखा कि ऐतिहासिक भवनों में से अधिकांश भवन मुस्लिम आधिपत्य और कब्ज़े में थे। अपने त्रिखण्डित साम्राज्य की विरही स्मृतियों को सँजोए हुए उन मुस्लिमों को इसी बात से पर्याप्त सन्तोष था कि कम-से-कम सभी भवनों को पूर्वकालिक मुस्लिम शासकों द्वारा बनाया हुआ ही घोषित कर दिया जाये। ब्रिटिश कर्मचारी अज्ञानवश इस छल-कपट का शिकार हो गए और इसके कारण उन्होंने एक कृत्रिम, जाली पुरातत्त्वीय अभिलेख का केन्द्र-बिन्दु रख डाला। प्रत्येक वस्तु को भूतपूर्व मुस्लिम शासकों, दरबारियों, और ऐरा-ग़ैरा नत्थू खैरा से सम्बन्धित करने की उस अनुचित शीघ्रता में उन लोगों ने सत्य की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया।

इसीलिए विन्सेंट स्मिथ ने 'अकबर—महान् मुग़ल' नामक अपनी पुस्तक में ठीक ही शिकायत की है कि अमरकोट क़िले के पास, सिन्ध प्रान्त में जिस स्थान पर पुरातत्त्वीय सूचना-पट यह बताते हुए लगा है कि यहाँ पर अकबर का जन्म हुआ था, वह स्थान सही नहीं है।

इसी प्रकार पंजाब में कलानौर नामक स्थान पर कुछ हिन्दू ध्वंसावशेष हैं, जहाँ पर पुरातत्त्व विभाग की ओर से शिनाख्त के बाद यह सूचना-पट

लगाया गया है कि यह वह स्थान है जहाँ पर १३वर्षीय किशोर अकबर को बादशाह घोषित किया गया था। यही वह स्थान है जहाँ अकबर को उसके पिता बादशाह हुमायूँ की मृत्यु का समाचार उस समय सुनाया गया था जब १३वर्षीय अकबर वहाँ पड़ाव डाले पड़ा था। हमें इस बात से कोई झगड़ा नहीं है। किन्तु इसके बाद की तारीख के कुछ मुस्लिम तिथिवृत्तों में और पुरातत्त्वीय अभिलेखों में कुछ और भी दावा किया जाता है। वे यह कहते प्रतीत होते हैं कि अकबर को उस स्थान पर मुगलों द्वारा निर्मित भवन में राजमुकुट पहनाया गया था, और आज जो ध्वंसावशेष वहाँ दिखायी देते हैं, वे उन्हीं मुगल-भवनों के हैं। यह घोर असत्य और भ्रामक धारणा है।

अकबर, जो उस समय बालक ही था, उस स्थान पर किस प्रकार एक विशाल भवन निर्माण करा सकता था? उसका पिता भी वहाँ कोई भवन नहीं बनवा सकता था क्योंकि एक अन्य घमण्डी मुस्लिम सरदार शेरशाह द्वारा देश से बाहर खदेड़ दिये जाने के कारण, देश से बाहर १५ वर्ष तक रहने के बाद वह भारत में लौटा था। इसलिए, यदि कलानौर में निर्दिष्ट स्थान पर ही अकबर की ताजपोसी हुई थी, तो उसका अर्थ यह है कि वह उस समय एक पूर्वकालिक हिन्दू भवन में पड़ाव डाले हुए था जो पूरी तरह अथवा आंशिक रूप में बारम्बार होने वाले मुस्लिम आक्रमणों के समय नष्ट हो गया था। कलानौर के उस स्थल के बारे में हमारे पुरातत्त्वीय अभिलेख में इस शुद्धि की आवश्यकता है।

भारत में पुरातत्त्वीय निश्चित पहचान किस प्रकार जाली रूप में की गई है, इसका तीसरा विशिष्ट उल्लेख मोहम्मद गवन की कब्र के रूप में मिलता है जो बीदर में है। मोहम्मद गवन एक घुमक्कड़ और खोजी व्यक्ति था जो बे-मतलब घूमता हुआ चौदहवीं शताब्दी में पश्चिमी एशिया के मुस्लिम देशों से भारत में आ पहुँचा था। वह एक बहमनी सुलतान का वज़ीर हो गया किन्तु एक बहुत थोड़ी अनिश्चित अवधि मात्र के लिए ही। उसका पतन भी समान रूप में हड़बड़ी में हुआ। उसकी हत्या भी उसी सुलतान के आदेशानुसार की गयी जिसका मोहम्मद गवन वज़ीर था। सामान्यत: जो व्यक्ति शासक सुलतान की नजरों से गिर जाता था, उसको

नियमित रूप से दफ़नाया भी नहीं जाता था। ऐसे शिकार व्यक्ति के शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाते थे और उन बोटियों को चीलों और कुत्तों के खाने के लिए फेंक दिया जाता था। मोहम्मद गवन का अन्त इससे कुछ अच्छा नहीं हो सकता था। यह बात इस तथ्य से भी स्पष्ट थी कि सन् १९४५ ई० तक उसकी कब्र पहचानी नहीं जा सकी थी। फिर, अचानक कोई मुस्लिम उग्रवादी पुरातत्त्वीय कर्मचारी काम में जुट पड़ा, बीदर गया और वहाँ सड़क के किनारे बनी हुई असंख्य, नगण्य, अनाम कब्रों में से एक को मोहम्मद गवन की कब्र घोषित कर आया। उस समय से ही सभी प्रकार के अन्वेषक ज़बर्दस्ती उस कब्र को मोहम्मद गवन की कब्र के रूप में उल्लेख करने लगे क्योंकि अब उसपर सरकारी छाप और मान्यता उपलब्ध हो गयी थी। किन्तु अन्वेषकों को ऐसे पुरातत्त्वीय आदेश अन्धाधुन्ध मान्य नहीं कर लेने चाहिए। उनको चाहिए कि वे प्रत्येक ऐतिहासिक स्थल के बारे में प्रश्न करें और उस स्थल की पहचान के बारे में पुन: खोज-बीन करें। इसका कारण यह है कि शीघ्रता में की गई आपा-धापी और, सरकारी सत्ता और पद का दुरुपयोग करते हुए उग्रवादी कर्मचारियों ने सत्य की पूरी तरह नृशंसतापूर्वक हत्या कर दी है। इसके पीछे दो भावनाएँ थीं। सरकारी कर्मचारियों के रूप में उनकी इच्छा रही होगी कि सरकारी अभिलेखों में उनका नाम अत्यन्त दक्ष व्यक्तियों के रूप में लिखा जा सके जिन्होंने कोई उपयोगी पहचान का महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। अनेक बार, मुस्लिमों के रूप में अपने विनष्ट, विगत भूतकाल के बारे में स्मृतियाँ सजीव कर उग्रवादी हार्दिक सन्तोष उनको भी प्राप्त हो जाया करता था।

मैं अब एक अन्य उल्लेखनीय उदाहरण प्रस्तुत करना चाहता हूँ। मुझे बताया गया है कि एक या दो दशक पूर्व एक पुरातत्त्व कर्मचारी के मन में यह विचार आया कि अबुल फ़ज़ल की कब्र को खोजा जाय, सुनिश्चित किया जाय। अबुल फ़ज़ल तीसरी पीढ़ी के मुग़ल बादशाह अकबर का दरबारी और तथाकथित स्वघोषित तिथिवृत्त लेखक था।

इतिहास में उल्लेख है कि सन् १६०२ ई० के अगस्त मास की १२ तारीख को नरवर से १०-१२ मील की दूरी पर सराय बरार नामक एक स्थान के आस-पास अबुल फ़ज़ल को घात लगाकर मार डाला गया था और

उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये गये थे। इस प्रकार की निरर्थक, अनिश्चित और सुनी-सुनायी बातों से प्रारम्भ करते हुए वह कर्मचारी निर्दिष्ट स्थान पर जा पहुँचा। वहाँ उसने देखा कि एक बहुत बड़े क्षेत्र में बहुत सारी कब्रें इधर-उधर बिखरी पड़ी हैं। अफ़सरशाही के अनुसार धारणा बनाते हुए उसने लगभग बीसियों कब्रों में से कुछ कब्रों का एक समूह चुन लिया और यह विचार कर लिया कि उनमें से एक तो अबुल फ़ज़ल की कब्र होगी तथा शेष उसके उन परिचरों की होंगी जो उसके साथ ही उस घात में मारे गये होंगे। अगला प्रश्न यह था कि उन चार या पाँच कब्रों में से अबुल फ़ज़ल की कब्र को किस प्रकार पहचाना जाए। यह बहुत सरल प्रतीत हुआ। इन चार या पाँच कब्रों में से एक कब्र अन्य कब्रों से कुछ इंच अधिक लम्बी थी। पुरातत्त्व कर्मचारी के लिए वह पर्याप्त और बहुत बड़ी बात थी। महान् अकबर के सम्मानित दरबारी को दफ़नाने के पवित्र स्थान के रूप में इसे तुरन्त पहचान लिया गया था। पुरातत्त्वीय पंजिकाओं में भी इस तथ्य को इसी प्रकार अंकित कर दिया गया। इसके इर्द-गिर्द कमरा बनाने के लिए और कदाचित् एक स्थायी रूप में देखभाल करने वाले का वेतन भुगतान करने के लिए कुछ धन-राशि मंजूर कर दी गयी थी। उस समय से इतिहास और पुरातत्त्व के असावधान विद्यार्थी-गण विवश हो गये हैं कि वे उस स्थान को अबुल फ़ज़ल की हत्या के रूप में स्थल को शैक्षिक मान्यता दें।

पुरातत्त्व कर्मचारी को इस बात का ज्ञान होना चाहिए था कि वह एक असम्भव कार्य करने जा रहा था। इसीके साथ-साथ, अबुल फ़ज़ल की कब्र के सम्बन्ध में अनिश्चितता के कारण उसके मन में अनेक सम्बद्ध प्रश्न उठने चाहिए थे। सन् १६०२ ई० में अकबर की शक्ति का सितारा सबसे अधिक जगमगा रहा था, सर्वाधिक बुलन्द था। अपनी हत्या के समय अबुल फ़ज़ल अकबर के दरबार का एक अति प्रिय व्यक्ति था और उसकी गणना अकबर के 'नवरत्नों' में की जाती थी—ऐसी शेखी बघारते हैं। यदि यह बात सत्य है, तो स्वयं अकबर ने ही उसकी कब्र की पहचान करने की परवाह क्यों नहीं की ? तथ्य रूप में तो, यह क्या कारण है कि अकबर ने अपने प्रिय दरबारी के लिए एक राजप्रासादीय मकबरा स्वयं ही बनवा देने का कष्ट क्यों नहीं किया, जबकि मुस्लिम शासकों और दरबारियों को मस्जिदों और

मकबरों के विशाल समूहों का निर्माता कहकर आसमान पर चढ़ाया जाता है ? यह छोटा-सा प्रश्न ही इतिहास के विद्यार्थियों के समक्ष यह तथ्य स्पष्ट कर देने में पर्याप्त समर्थ होना चाहिए कि मुस्लिमों ने अपने मृतक व्यक्तियों के लिए कभी भी विशाल, उत्तुंग मकबरे नहीं बनवाए, और दूसरी बात यह है कि अबुल फ़ज़ल दरबार पर आश्रित एक मामूली आदमी था, जिसके लिए अकबर लेशमात्र भी परवाह नहीं कर सकता था।

जब अकबर ने स्वयं ही अबुल फ़ज़ल की कब्र की कोई परवाह नहीं की अथवा उसकी कब्र की पहचान में वह असमर्थ रहा, तो ४५० वर्षों के बाद, बिना किसी विशिष्ट आधारभूत सामग्री पास में सँजोए, नगण्य क्षेत्र में बिखरी पड़ी सैकड़ों कब्रों में से अबुल फ़ज़ल की कब्र को किस प्रकार पहचान सकने की कोई आशा कोई पुरातत्त्व-कर्मचारी कर सकता था ?

ये उदाहरण इस बात के लिए पर्याप्त होने चाहिए कि पुरातत्त्व और इतिहास के कर्मचारी और विद्यार्थी-गण ऐतिहासिक (मध्यकालीन) स्थलों के सम्बन्ध में पुरातत्त्वीय पहचान की ओर अधिक विशेष ध्यान न दें, उन पर अत्यधिक विश्वास न करें। विभिन्न अन्तः-प्रेरणाओं, मनोभावों के कारण झूठी-सच्ची बातें लिखी गयी हैं। सभी पुरातत्त्वीय अभिलेखों को, अत्यन्त सावधानीपूर्वक संशोधित करने, पुनः देखने-भालने और संकलित करने की आवश्यकता है।

मध्यकालीन वास्तुकला हिन्दू है—मुस्लिम नहीं

मुस्लिम शासन के ६०० वर्षों में और उसके बाद ब्रिटिश शासनावधि के २०० वर्षों में किये गये प्रचार-कार्य ने बुद्धिजीवियों के दिमाग़ों को इस प्रकार खोखला कर दिया है कि ये लोग भारत के सभी ऐतिहासिक भवनों को इस्लामी वास्तुकला की उत्पत्ति और उसीके नमूने समझने लगे हैं। किसी दीर्घकालिक अवधि में निरन्तर भ्रामक कथनों से होने वाली घोर हानि का यह एक श्रेष्ठ उदाहरण है।

महान् ब्रिटिश वास्तुकलाविद् श्री ई० बी० हेवेल ने, जो मद्रास और कलकत्ता स्थित वास्तुकला सम्बन्धी विद्यालयों के प्रधानाचार्य थे, उस भयंकर भूल का पता लगाकर शैक्षिक-संसार की महान् सेवा की थी, जिसने इतिहास, पुरातत्त्व और वास्तुकला के समस्त संसार को तथा ऐतिहासिक भारतीय भवनों के दर्शनार्थियों को दिग्भ्रमित कर दिया है।

मध्यकालीन वास्तुकला के बारे में श्री हेवेल का मत अन्य लोगों के मत से कितना भिन्न है—इस तथ्य की परख इसी बात से की जा सकती है कि उनकी सम्बन्धित पुस्तक का शीर्षक 'इण्डियन आर्किटेक्चर—इट्स साइकोलॉजी, स्ट्रक्चर एण्ड हिस्ट्री फ्राम दि फर्स्ट मुहम्मडन इन्वेज़न टू दि प्रेज़ेन्ट डे' (भारतीय वास्तुकला—प्रथम मुस्लिम आक्रमण से आद्यतन—इसका मनोविज्ञान, आकार-प्रकार और इतिहास) है जबकि उन्हीं स्मारकों के बारे में किये गये अध्ययन का शीर्षक, श्री परसी ब्राउन ने, 'इस्लामिक आर्किटेक्चर' रखा है। चूँकि परस्पर-विरोधी दो वक्तव्यों में से केवल एक ही सत्य, सही हो सकता है, इसलिए हमें यह ज्ञात करना आवश्यक है कि भारत में मध्यकालीन भवनों को मुस्लिम कहने का श्री परसी ब्राउन का विचार ठीक है अथवा उन भवनों को हिन्दू कहने वाला श्री हेवेल का

विचार ठीक, सही है। हमारा प्रयास श्री हेवेल के दृष्टिकोण को सही सिद्ध करने का है।

श्री हेवेल ने अपनी पुस्तक के प्रारम्भिक भाग में लिखा है—"भारतीय कला की कुछ-कुछ किंकर्तव्य-विमूढ़कारी भूलभुलैयों में से अपना मार्ग प्रशस्त करने वाला विद्यार्थी यूरोपीय लेखकों के वर्गीकरण और विश्लेषण द्वारा प्राय: संभ्रमित हो जाता है। इन सब गलत भ्रान्त धारणाओं का मूल कारण एक निश्चित विचार है—वह यह विश्वास है कि हिन्दू मस्तिष्क में सत्य-सौन्दर्य की भावना सदैव लुप्त रही है, और भारतीय कला में जो भी कुछ महान् है, उसका सुझाव अथवा प्रथम परिचय विदेशियों द्वारा हीं दिया गया है।

"फ़र्ग्युसन इन पूर्वाग्रहों से किसी भी प्रकार अछूता, मुक्त नहीं था, और मुसलमानी-काल की भारतीय वास्तुकला के बारे में उसका विश्लेषण आजकल प्रचलित इस जन-विश्वास की पुष्टि करता है कि हिन्दू और जिहादी मुसलमानों के आदर्शों के बीच एक खाई निश्चित रूप में है, और कि जहाँगीर और शाहजहाँ के शासनान्तर्गत मुग़ल वास्तुकला का चरमोत्कर्ष उन हिन्दू-प्रभावों को दूर फैंक देने के बाद ही सम्भव हो पाया था जिन्होंने भारतीय-मुहम्मदी कला की तथाकथित 'मिश्रित' शैलियों को प्रभावित किया था। फ़र्ग्युसन स्पष्ट रूप में घोषणा करता है कि जहाँगीर और शाहजहाँ के निर्माणों में हिन्दुत्व के कोई लक्षण, चिह्न नहीं हैं'''और सन् १३६३-६४ ई० में तैमूरलंग द्वारा पुनर्निर्मित समरकन्द को वह बस्ती बताता है जो उस शैली पर प्रकाश डालेगा जिसे मुग़लों ने भारत में प्रचलित किया।

"भारतीय कला के मूलोद्गम के लिए भारत से बाहर ताकने की इस लगातार वृत्ति के परिणामस्वरूप अवश्य ही झूठे, असत्य निष्कर्ष निकलेंगे। आगरा-स्थित ताजमहल और मोती मस्जिद, दिल्ली की जामा मस्जिद और बीजापुर की शानदार मुहम्मदी इमारतें मुढेरा, डभोई, खजुराहो, ग्वालियर और अन्यत्र बनीं—न कम शानदार हिन्दु वास्तुकलात्मक शानदार इमारतों के कारण ही संभव हो पायीं'''जिनमें इस्लाम को चार चाँद लगाने के लिए हिन्दू प्रतिभा का उपयोग किया गया था'''। व्यक्ति को इसका स्रोत आर्य-

दर्शनशास्त्र द्वारा भारतीय धरती में रोपित परम्परागत भारतीय संस्कृति में मिलेगा, जो अपनी कलात्मक अभिव्यंजना की चरमसीमा पर मुग़ल खानदान की स्थापना से पूर्व ही पहुँच गयी थी।

"आंग्ल-भारतीयों और पर्यटकों को सिखाया-पढ़ाया गया है कि वे पूर्ववर्ती (प्रथम) की प्रशंसा करें और मुग़लों की ललित, सौन्दर्य-भावना की प्रशंसा के पुल बाँधें; किन्तु जब भारतीय शिल्प और चित्रकलाएँ अपने चरमोत्कर्ष पर थीं उस पूर्ववर्ती हिन्दू-काल के विशाल वास्तुकलात्मक निर्माण विरले ही कभी उनका ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर पाते हों, चाहे विशालाकार भव्यता और शिल्पकलात्मक-कल्पना में वे किसी भी मुग़ल-इमारत से बढ़-चढ़कर हैं। स्वयं 'मुग़ल वास्तुकला' शब्दावली भी भ्रामक है क्योंकि तथ्य तो यह है कि भारत में कोई मुग़ल निर्माता थे ही नहीं'''। जैसा हम पूर्वानुमान लगाते हैं, मुग़ल वास्तुकला अरबों, फारसियों अथवा पश्चिमी निर्माताओं की कोमल सौन्दर्य-भावना की साक्षी न होकर हिन्दू कला-प्रेमी प्रतिभा की असाधारण सामंजस्यपूर्ण शक्ति की साक्षी है।

"इस कथन की सत्यता न केवल प्रलेखात्मक साक्ष्य से ही प्रदर्शित की जा सकती है जो विश्वसनीय हो भी सकता है और नहीं भी, अपितु स्वयं भवनों के अकाट्य साक्ष्य से भी प्रदर्शित की जा सकती है।

"स्वयं नोकदार मेहराब ने भी भारत से ही धार्मिक महत्त्व प्राप्त किया जिसके कारण जिहादी मुसलमानी निर्माताओं ने इसे ग्रहण कर लिया'''इस प्रकार स्वयं वही लक्षण भारतीय है जिसको देखकर सभी पश्चिमी लेखकों ने भारत की देशीय वास्तुकला से जिहादी मुसलमानी वास्तुकला को पृथक् विशिष्टता प्रदान की थी। यदि यह विचार आज के यूरोप में सभी वास्तु-कला अधिकारियों को विरोधी प्रतीत होता हैं, जो उसका कारण यही है कि पश्चिमी लेखकों ने मिस्र, स्पेन, अरेबिया और फ़ारस के जिहादी मुसलमानों के वर्ग के उप-विभाजन के रूप में भारतीय—मुहम्मदी वास्तुकला को मानते हुए, पश्चिम की कलाओं पर प्रभाव डालने वाले ऐतिहासिक साक्ष्य की उस विपुल राशि का लेखा-जोखा नहीं किया है जो भारत में वास्तु-कलात्मक स्मारकों से प्राप्त होता है।

"जब अरब-लोग अपने विजय-अभियान पर चले, तब उनके मूर्तिभंजक

धार्मिक-उन्माद के प्रथम शिकार पश्चिमी एशिया के बौद्धों—घृणित मूर्ति-पूजकों के मन्दिर और मठ ही थे। उनके (धार्मिक) कानून के आदेशों के विपरीत जो कुछ उन्हें रोष प्रदान करता था, मूर्तियों को चकनाचूर करके और शिल्पकलात्मक अलंकरण को विनष्ट करके—खाली आलों वाले भवनों—पूर्ववर्ती बौद्ध-देवालयों को—जिनकी पुख्ता दीवारें ही शेष रह गयी थीं—प्राय: मस्जिदों में परिवर्तित कर दिया गया था।

"बौद्ध-अनुयायियों, पुजारियों की पीढ़ियों का श्रद्धायुक्त साहचर्य इन अपवित्र देवालयों से फिर भी चलता रहा, और इस्लाम के प्रतिपादकों ने उनको मुहम्मदी भावना से स्पष्ट करना आवश्यक समझा। अत: मेहराब—बुद्ध की मुख्य मूर्ति, प्रतिमा का आला—मक्का नामक पवित्र नगरी की दिशा की संकेतक हो गयी। आस्था के प्रतीक रूप इसे रेत में अथवा प्रार्थना करने की चटाई में खोज लिया गया।

"आलों की प्रतिमाओं और शिल्पकलात्मक अलंकृतियों को दूर कर दो, तथा आपको तुरन्त ही अरबी मेहराब, आडम्बरपूर्ण मेहराब, पवित्र मेहराब आदि उपलब्ध हो जाएँगी।

"भारत में काफिरों के सभी मन्दिरों को अरबी इतिहास-लेखकों ने जो तिरस्कारपूर्ण नाम दिए—बौद खाना अथवा 'बुद्ध घर'—वे इस्लाम के साथ बौद्ध धर्म के प्रारम्भिक सम्बन्धों के अनेक प्रमाणों में से हैं। बौद्ध प्रभाव एशिया और यूरोप की सीमाओं से भी अधिक पश्चिम में ज्यादा दूरी तक पैठ गया। प्रोफ़ेसर फ़्लिण्डर्स पेट्री को सिकन्दरिया में अशोक के धर्म-प्रचारकों की उपस्थिति का प्रमाण मिल गया है; और ८वीं शताब्दी और परवर्ती मूरिश राजमहलों व मस्जिदों में तथाकथित अश्व-नाल सदृश मेहराब का सादृश्य सरलतापूर्वक ७वीं शताब्दी के अजन्ता स्थित बौद्ध अध्याय-गृह में कमल-पत्रिल मेहराबों में खोज लेने का कारण मिस्र में भारतीय शिल्पकारों की विद्यमानता है।

"बौद्ध कला पूर्व शताब्दियों में सारे पश्चिमी एशिया में फैल चुकी है, और बौद्ध-हिन्दू कला उस समय चरमोत्कर्ष पर थी जब भारत को मुहम्मदी आक्रमणों का प्रथम आघात पहुँचा था।

"अरबी इतिहास-लेखक अलबरूनी ने हिन्दू निर्माताओं के निर्माण को

देखकर आश्चर्य और सराहना प्रकट की थी। उसने कहा था, 'हमारे लोग जब उन निर्माणों को देखते हैं, तब उनपर आश्चर्य करते हैं, और उनका वर्णन कर पाने में अशक्य होते हैं—उनके जैसा कुछ निर्माण कर सकना तो दूर की बात है।'

"अबुल फ़ज़ल ने लिखा था—'यह तो वस्तुओं के सम्बन्ध में हमारी कल्पना-शक्ति से भी परे की बात है; उनकी समता वास्तव में संसार में कोई नहीं कर सकता।'

"गज़नी का सुलतान महमूद हिन्दू-निर्माताओं की प्रशंसा किए बिना नहीं रह सका। वह जब गज़नी लौटा था, तब अपने साथ ५,३०० हिन्दू बन्दी ले गया—असंदिग्ध रूप में, जिनमें से अधिक संख्या कारीगरों और शिल्पकारों की थी··· मुग़ल खानदान के संस्थापक तैमूरलंग ने उनका उपयोग पाँच शताब्दी बाद किया था।

"जब मुहम्मदी खानदानों—अरबों, तुर्कों या मंगोलों ने स्वयं को हिन्दुस्थान में सुदृढ़ रूप में स्थापित कर लिया, तब जिसे हम विशुद्ध जिहादी मुसलमानी या अरबी विशिष्टताएँ कहते हैं उससे प्राचीन भारतीय अथवा बौद्ध—हिन्दू प्रकारों के प्रति प्रत्यावर्तन अधिकाधिक प्रत्यक्ष हो जाता है।

"भारतीय-मुहम्मदी वास्तुकला के फ़र्ग्युसन ने जो तेरह स्थानीय विभाजन किए हैं, उनमें से गुजरात, गौड़ और नुकीली मेहराबों के बावजूद जौनपुर के विभाजन भी सामान्य कल्पना और विवरण में पूरी तरह हिन्दू हैं। जैसा फ़र्ग्युसन कहता है, अहमदाबाद की जामा मस्जिद और अन्य मस्जिदें 'प्रत्येक विवरण में—प्रत्येक प्रकार से हिन्दू अथवा जैन है'। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दो शैलियों में अर्थात् मुग़ल और बीजापुर शैलियों में, फ़र्ग्युसन और अन्य सभी लेखकों ने हिन्दू तत्त्व की पूरी तरह उपेक्षा कर दी है, और उन दोनों शैलियों को भारत से बाहर का समझ लिया है··· ताजमहल और बीजापुर के महान् स्मारकों की प्रेरणा कहाँ से आयी—इस तथ्य का पता लगाने के लिए हमें जिस कला का अध्ययन करना है, वह भारतीय कला ही है, न कि अरबी, फ़ारसी अथवा यूरोपीय कला। सेंट पाल के गिरजाघर और वैस्ट मिनिस्टर एबे जितने अंग्रेज़ी हैं, ताजमहल और बीजापुर के महान् स्मारक उनसे कहीं अधिक भारतीय हैं।"

दिल्ली को लूटने और जलाने वाले घोर, विकट इस्लामी आक्रमणकारी तैमूर लंग ने स्मृति-ग्रन्थों में पाप-स्वीकार किया है कि मध्यकालीन मुस्लिम लोगों में किसी भी प्रकार की निर्माण-कला-कौशल का इतना अभाव था कि उनको उन्हीं हिन्दुओं के जीवन सुरक्षित रखने के लिए बाध्य होना पड़ा जिनके प्रति वे घोर घृणा का भाव हृदय में रखते थे। इसका कारण मात्र इतना था कि दिल्ली से उन लोगों को सुदूर इस्लामी प्रदेशों में भेज दिया जाय जहाँ जाकर वे लोग भारत में बने हिन्दू-भवनों के समान ही भव्य और सुन्दर भवन बना सकें। तैमूर लंग ने पर्यवेक्षण किया है कि बन्दी बनाए गये हिन्दुओं का खुला कत्ले-आम करने का आदेश देने से पूर्व मैंने हुकुम दिया कि उन लोगों में से, जो अपने-अपने शिल्प में कुशल कारीगर और यन्त्र-विद् हों, उनको छाँटकर एक तरफ कर दिया जाय; इसलिए कुछ हज़ार शिल्पकारों को छाँटा गया और मेरे अगले आदेशों की प्रतीक्षा की गई। इन सब लोगों को मैंने उपस्थित शाहजादों और अमीरों में तथा मेरे ही अधिराज्य में अन्यत्र सरकारी काम पर नियुक्त व्यक्तियों में बाँट दिया। मैंने, अपने साम्राज्य के केन्द्र समरकन्द में एक ऐसी जामी मस्जिद बनवाने का निश्चय किया था जिसकी तुलना किसी भी देश की मस्जिद न कर सके; अतः मैंने आदेश दिया कि सभी निर्माता तथा संग-तराश मेरी अपनी विशेष सेवा के लिए अलग रखे जाएँ।' ('मलफुज़ाते-तैमूरी' का ईल्लियट और डासन कृत अनुवाद, भाग III, पृष्ठ ४४७)।"

ऊपर दी गयी तैमूर लंग, अबुल फ़ज़ल, अलबरूनी और महमूद गज़नी की स्वीकृतियाँ श्री हेवेल के इस पर्यवेक्षण को पुष्ट करती हैं कि विश्व के किसी भी भाग में जिहादी मुसलमानी कला नाम की कोई वस्तु नहीं है, भारत में होने का तो प्रश्न ही नहीं है। समरकन्द, बग़दाद, मक्का और सिकन्दरिया जैसे सुदूर देशों में भी सभी प्राचीन और मध्यकालीन भवन हिन्दुओं द्वारा विकसित वास्तुकलात्मक शैलियों, तकनीकों और गुणों के अनुरूप ही बनाए गये थे।

परसी ब्राउन, फ़र्ग्युसन और उन्हीं का अनुसरण करने वाले विश्व भर के अन्य लोग मिथ्याचारी जिहादी मुसलमानी वास्तुकला में अपना रुचिकर

विश्वास जमाकर भ्रमित हुए हैं। जिहादी मुसलमानी वास्तुकला उनकी कल्पना का एक भाग ही है।

इस प्रकार हेवेल सत्य के बहुत ही निकट पहुँच रहा था। किन्तु उग्रवादी मुस्लिम मनघड़न्त बातों से वह भी दिग्भ्रमित हुआ, और उसे गलत जानकारी ही मिलती रही। हेवेल यह मत स्थापित करने में बिल्कुल सही है कि वास्तुकला की दृष्टि से ताजमहल, दिल्ली और आगरा के लालकिले, दिल्ली और आगरा की तथाकथित मस्जिदें और अकबर, हुमायूँ व सफ़दरजंग जैसे असंख्य कल्पित मकबरे मूल-कल्पना और आकार-प्रकार, नमूनों में सब तरह हिन्दू ही हैं। यदि श्री हेवेल आज हमारे ही युग में जीवित होते, तो वे यह जानकर अति प्रसन्न होते कि वास्तुकलात्मक दृष्टिकोण से वे जिस निष्कर्ष पर पहुँचे थे, वही निष्कर्ष ऐतिहासिक और प्रलेखात्मक साक्ष्य से भी पूरी तरह पुष्ट और समर्थित होता है।

जैसाकि 'ताजमहल हिन्दू राजभवन है', 'फतहपुर सीकरी हिन्दू नगर है', और 'आगरे का लालकिला हिन्दूभवन है' शीर्षक वाले सुप्रसिद्ध शोध-ग्रन्थों में प्रभावी ढंग से सिद्ध किया जा चुका है, कश्मीर से कन्याकुमारी तक भारत में स्थित सभी मध्यकालीन ऐतिहासिक भवन असंदिग्ध रूप में मुस्लिम पूर्वकाल के हिन्दू-भवन हैं। उनको तो केवल विजित व अपहृत किया गया और बाद में मुस्लिम उपयोग में ले आया गया था। यही कारण है कि शताब्दियों तक मकबरों और मस्जिदों के रूप में उपयोग में आने के बाद भी वे सभी भवन हिन्दू मन्दिरों और भवनों जैसे दीख पड़ते हैं। अतः इतिहास, पुरातत्त्व और वास्तुकला के विद्यार्थियों व विद्वानों तथा ऐतिहासिक स्थलों के दर्शनार्थियों को इस नयी उपलब्धि का ज्ञान हो जाना चाहिये, तथा उनको अपनी पूर्वकालिक धारणाओं, अनुमानों, दकियानूसी मान्यताओं, सिद्धान्तों व पाठ्य-पुस्तकों में यथावश्यक सुधार कर लेना चाहिये।

स्वयं श्री हेवेल की रचनाओं में भी किंचित सुधार करने की आवश्यकता है अर्थात् वे भवन, जिनको वे मुस्लिम शासन के अन्तर्गत बने विश्वास करते हैं, वास्तव में मुस्लिम शासन प्रारम्भ होने से बहुत पहले ही निर्मित हो चुके थे। मुस्लिम आक्रमणकारियों ने उन भवनों को हथिया लिया था और अपने

ही उपयोग में लाने लगे थे। कदाचित् उनको भी यही शंका रही थी, क्योंकि हम, ऊपर उनका यह वक्तव्य पहले ही उद्धृत कर आये हैं कि "प्रलेखात्मक साक्ष्य विश्वसनीय भी हो सकता है, और नहीं भी हो सकता है।" इस बारे में पुनः श्री हेवेल सहज रूप में ही सही हैं। धर्मान्ध खुशामदियों और चाटुकारों द्वारा मध्यकालीन इस्लामी तिथिवृत्तों में किए गये ये दावे निराधार, असत्य हैं कि मुस्लिम सुलतानों और दरबारियों ने बहुत सारे भवनों का निर्माण कराया था। उनपर कभी भी, कोई विश्वास नहीं करना चाहिये।

आक्रमणकारी तैमूरलंग की स्वीकृति–पुरानी दिल्ली का जामा-मस्जिद हिन्दू मन्दिर है

उग्रवादी इस्लामी तिथिवृत्तों और प्रवंच्य ब्रिटिश इतिहासकारों ने अनजाने ही पर्याप्त समय से यह झूठी कथा प्रचारित कर रखी है कि पाँचवीं पीढ़ी के मुग़ल बादशाह शाहजहाँ ने पुरानी दिल्ली की स्थापना की थी और इसके लालकिले व जामा-मस्जिद का निर्माण कराया।

शाहजहाँ की ओर से किए जाने वाले उन तीनों दावों को इतिहास में कोई आधार प्राप्त नहीं है। पुरानी दिल्ली का मूलोद्गम, कम-से-कम, पाण्डवों के समय से तो है ही क्योंकि महाभारत में निगमबोध-घाट जैसे दिल्ली के अनेक विशिष्ट स्थानों का उल्लेख पर्याप्त संख्या में किया गया है। लालकिला एक प्राचीन हिन्दू किला है। और तथाकथित जामा-मस्जिद एक प्राचीन हिन्दू मन्दिर है—इसका साक्षी अन्य कोई छोटा-मोटा व्यक्ति न होकर स्वयं आक्रमणकारी तैमूरलंग है जो शाहजहाँ के राजगद्दी पर बैठने से २३० वर्ष पहले दिल्ली पर महामारी की तरह छा गया था।

शाहजहाँ को दिया जाने वाला त्रि-यश स्वयं ही इस दावे की असत्यता दर्शाता है। यदि शाहजहाँ को पुरानी दिल्ली स्थापित करने का श्रेय दिया जाता है, तो लालकिले और तथाकथित जामा-मस्जिद का पृथक् उल्लेख कैसा? क्या वे दोनों भवन पुरानी दिल्ली के ही अंश नहीं हैं? यही तथ्य, कि शाहजहाँ को पहले एक सम्पूर्ण नगर स्थापित करने का श्रेय दिया जाता है और फिर उसी नगर के भव्य भवन-निर्माण करने का यश भी दिया जाता

है, प्रदर्शित करता है कि ये तीनों दावे ही असंगत, अनियमित हैं। इतिहास में इनका कोई आधार नहीं है।

हम जब यह कहते हैं कि इतिहास में इनका कोई आधार नहीं है, तब हमारा भाव यह होता है कि शाहजहाँ द्वारा इस जामा-मस्जिद को बनवाने के बारे में किए जाने वाले दावे की पुष्टि करने के लिए न तो शाहजहाँ के दरबारी-प्रलेखों में और न ही अन्य किसी व्यक्ति के पास काग़ज का टुकड़ा भी है। इसके विपरीत, शाहजहाँ से २३० वर्ष पूर्व हुए एक मुस्लिम आक्रमणकारी की साक्षी हमें उपलब्ध है जिसमें वह कहता है कि तथाकथित जामा-मस्जिद एक प्राचीन हिन्दू मन्दिर है। भारत में अनाहूत, बलात्, अपने बर्बर नर-पिशाच झुण्डों के साथ प्रवेश करने वाले विदेशी इस्लामी आक्रमणकारियों की लम्बी सूची में सर्वाधिक कुख्यात व्यक्तियों में एक व्यक्ति यह तैमूरलंग है। भारत के विभिन्न भागों पर किए गये उसके अत्यन्त भयावह नर-संहारों में अनेकानेक क्रूरताएँ समाविष्ट की थीं। अनेक बार तो, एक ही अवसर पर लाखों की संख्या में हिन्दुओं को गाजर-मूली की तरह काट डाला गया था। इन भीषण नर-संहारिक-कुकृत्यों में से कुछ तो पुरानी दिल्ली की गलियों में सन् १३९८ ई० में ही किए गये थे क्रिसमस के अवसर पर। पुरानी दिल्ली में उस समय के पड़ाव के सन्दर्भ में ही तैमूरलंग ने तथाकथित जामा-मस्जिद का हवाला दिया है। 'मलफुज़ाते-तैमूरी' शीर्षक में लिखित अपने संस्मरणों में उसकी टिप्पणियों का निहितार्थ स्पष्ट है कि तथाकथित जामा-मस्जिद एक हिन्दू मन्दिर था। अधिक महत्त्व की बात यह भी है कि तैमूरलंग उस शाहजहाँ का प्रत्यक्ष पूर्वज है जिसे पुरानी दिल्ली की जामा-मस्जिद बनाने का झूठा निर्माण-श्रेय दिया जाता है। तैमूरलंग शाहजहाँ के वंश-वृक्ष में पितृ-पक्ष की लगभग १०वीं पीढ़ी पूर्व का पूर्वज है। फिर, शाहजहाँ उस भवन का निर्माता कैसे हो सकता है जिसे उसके पूर्वजों में से एक पूर्वज ने लगभग दस पूर्व-पीढ़ियों के अवसर पर देखा था।

हम, आगे तैमूरलंग के संस्मरण 'मलफुज़ाते-तैमूरी' के अंग्रेजी अनुवाद का हिन्दी भाषान्तर प्रस्तुत करते हैं (इलियट और डासन, खण्ड III, पृष्ठ ४४५-४४६)।

पुरानी दिल्ली नगरी की लूट

"महीने की १६वीं तारीख को हुई कुछ घटनाओं के कारण पुरानी दिल्ली नगरी की लूट हुई। जब सैनिक हिन्दुओं को बन्दी बनाने गये'''तो उनमें से बहुत-से हिन्दुओं ने अपनी-अपनी तलवारें खींच लीं और प्रतिरोध, मुकाबले को तैयार हो गये। इस प्रकार युद्ध की चिनगारियाँ प्रज्वलित हो गई, और जहाँपनाह व सीरी से पुरानी दिल्ली तक सम्पूर्ण नगर में फैल गयीं। राक्षस तुर्क मार-काट व लूट में लग गये। हिन्दुओं ने अपने हाथों से अपने घरों में आग लगा दी, उनमें अपनी पत्नियों और बच्चों को जला दिया, और लड़ाई के लिए दौड़ पड़े और मारे गये। उन्होंने युद्ध में अत्यन्त उत्साह, तेजी, फुर्ती व बहादुरी दिखायी। बृहस्पतिवार को और शुक्रवार की सारी रात, लगभग १५,००० तुर्क मार-काट करने, लूटने और विनाश करने में लगे रहे। शुक्रवार की प्रातः होने पर, मेरी सारी सेना, जो अब मेरे नियन्त्रण में न रही थी, नगर की ओर चली गयी, और उसने नर-संहार करने, लूटने तथा लोगों को बन्दी बनाने के अतिरिक्त अन्य कुछ सोचा ही नहीं। अगला, शनिवार का दिन भी ठीक उसी प्रकार बीता, तथा लूट की सामग्री इतनी अधिक थी कि प्रत्येक (सैनिक) व्यक्ति को ५० से १०० तक आदमी, औरतें व बच्चे बन्दी के रूप में मिल गये। अगले दिन रविवार को मुझे बताया गया कि काफ़िर हिन्दुओं की एक बहुत बड़ी संख्या पुरानी दिल्ली की मस्जिदे-जामी में एकत्र हो गये थे—अपने साथ शस्त्रास्त्र और खाद्य-सामग्री भी ले गये, और अपनी सुरक्षा—प्रतिरक्षा करने की तैयारी कर रहे थे। मेरे कुछ सैनिक जब उधर की गश्त पर गये, तो उनको मार डाला गया। मैंने अमीरशाह मलिक और अली सुलतान तवाची को तुरन्त आदेश दिया कि वे कुछ सैनिक अपने साथ ले जाएँ और काफिरों व मूर्तिपूजकों से ईश्वर के घर को साफ कर दें। उन्होंने तदनुसार इन काफिरों पर हमला किया और उनको जान से मार डाला। पुरानी दिल्ली तब लूट ली गई'''सीरी, जहाँपनाह और पुरानी दिल्ली नाम की दिल्ली की तीनों नगरियाँ तब लूट ली गई थीं'''सीरी से पुरानी दिल्ली तक पर्याप्त फासला है'''सीरी क़िले-बन्दी से घिरी है। पुरानी दिल्ली का भी इसी तरह का एक मजबूत क़िला है।'''काफ़िरों के खिलाफ़ जिहाद करने के लिए मैं

हिन्दुस्तान आया था। कुछ लाख काफ़िरों और मूर्तिपूजकों को मैंने मौत के घाट उतारा था'''मैं तीन कोस चलकर फिरोजाबाद के क़िले तक गया, जो जमुना नदी के किनारे पर स्थित है और सुलतान फ़िरोज़शाह द्वारा बनाए गये निर्माणों में से एक है। मैं स्थल-निरीक्षण के लिए इसके अंदर गया। मैं मस्जिदे-जामी गया, जहाँ मैंने अपनी पूजा-अर्चना (नमाज) पढ़ी और सर्वशक्तिमान प्रभु की कृपा के लिए सराहना की तथा उसका धन्यवाद किया।''

इस्लामी शब्दावली में 'जामी (जामा) मस्जिद' अथवा 'मस्जिदे-जामी' 'मुख्य मन्दिर' का द्योतक शब्द है। तैमूरलंग कहता है कि काफ़िर लोग अपनी रक्षा करने के लिए मस्जिदे-जामी में जमा हो गए थे। वह आगे कहता है कि उसने उस भवन को काफ़िरों और मूर्तिपूजकों से रहित करने का आदेश दिया। तैमूरलंग उस भवन को मूर्तिपूजकों से रहित कराने का आदेश तबतक नहीं दे सकता था जबतक कि हिन्दू लोग उस भवन में मूर्तियों की पूजा न करते रहे हों। तैमूरलंग ने जामा-मस्जिद के स्थल से सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण सूत्र भी हमें प्रदान किया है। वह कहता है कि जब हिन्दू-प्रतिरोध से पुरानी दिल्ली को विलग कर दिया गया, तब वह तीन कोस अर्थात् छः मील चला और सबसे पहले फ़िरोज़शाह कोटला पहुँचा। वहाँ उसने उस स्थल का निरीक्षण किया और फिर एक लाख हिन्दुओं की हत्या करने तथा हिन्दुओं द्वारा अपने मन्दिर के रूप में नित्य पूजा करने वाले उस भवन को हथिया लेने का सुअवसर प्रदान करने हेतु अल्लाह का धन्यवाद करने के लिए मस्जिदे-जामी चला गया। पुरानी दिल्ली की जामा मस्जिद के रूप में ज्ञात भवन सीरी से लगभग छः मील है और फ़िरोज़शाह कोटला से मुश्किल से एक मील की दूरी पर है। अतः यह पूरी तरह से स्पष्ट है कि तैमूरलंग उसी भवन की ओर इंगित कर रहा है जिसे आज भी पुरानी दिल्ली की जामा-मस्जिद के रूप से हम सब याद करते हैं। यह भी स्पष्ट है कि ५७३ वर्ष पूर्व जब तैमूरलंग पुरानी दिल्ली में था, तब तथा-कथित जामा-मस्जिद एक हिन्दू मन्दिर था जिसमें तैमूरलंग के लूट-पाट करने वाले, आग लगाने और नर-हत्या करने वाले नर-राक्षसों से अन्तिम संघर्ष करने के लिए हिन्दू लोग एकत्र हो गये थे।

पुरानी दिल्ली यह इसलिए कहलाती कि यह प्राचीनतम सबसे पुरानी दिल्ली है। प्राचीन दुर्ग अर्थात् पुराना क़िला के समान ही यह कम-से-कम महाभारत-युग की है; यह तथ्य इस बात से सिद्ध होता है कि आज से ५७३ वर्ष पूर्व भी तैमूरलंग इसे पुरानी दिल्ली ही कहता है। तैमूरलंग पहले फ़िरोजशाह कोटला जाकर और फिर तथाकथित जामा-मस्जिद जाकर पुरानी दिल्ली और जामा-मस्जिद का स्पष्ट निर्देश करता है—ठीक उसी प्रकार, जिन नामों से ये दोनों स्थल आज भी, २०वीं शताब्दी में पुकारे जाते हैं।

यदि शाहजहाँ ने पुरानी दिल्ली की स्थापना की होती, तो यह पुरानी दिल्ली न पुकारी जाती क्योंकि यह तो उस समय नवीनतम दिल्ली होती जब ब्रिटिश लोगों की भारतीय राजधानी कलकत्ता ही थी। किन्तु पुरानी दिल्ली का यह नाम अविस्मरणीय युगों से चला आ रहा है क्योंकि प्रत्येक पीढ़ी को यह मूल-दिल्ली के रूप में ही ज्ञात रही है। उस प्राचीन नगर में अभी भी इसके प्राचीन हिन्दू-भवन विद्यमान हैं जो घुमावदार गलियों में हैं किन्तु तैमूरलंग के विध्वंसों, अपहरणों के फलस्वरूप जिस प्रकार मुख्य हिन्दू मन्दिर जामा-मस्जिद में परिवर्तित हो गया, उसी प्रकार भगवती काली के प्राचीन हिन्दू मन्दिर अब काली मस्जिदों के नाम से सम्बोधित हो रहे हैं। दुर्भाग्य से, यह बात सम्पूर्ण भारत में हुई है। अनेक नगरों में मध्य-काचीन काली मस्जिदें हैं। आधुनिक उर्दू शब्दावली में 'काली' का अर्थ श्याम वर्ण है जबकि वे सभी काल्पनिक, कल्पनातीत मस्जिदें अनिवार्यत: शुभ्र-श्वेत वर्णी हैं। उनपर सफेदी की हुई है। उस विसंगति का स्पष्टीकरण क्या है? मस्जिदें 'काली' क्यों कहलाती हैं जबकि उनपर सफेदी पुती हुई है। स्वत: स्पष्ट है कि उनके भगवती काली के मन्दिर होने की स्मृति और उनके प्राचीन हिन्दू नाम साथ-साथ चलते आ रहे हैं।

तैमूरलंग की टिप्पणी का अन्य प्रमाण इस तथ्य में उपलब्ध है कि किसी के भी पास ऐसे प्रलेख नहीं हैं जो सिद्ध करते हों कि शाहजहाँ ने पुरानी दिल्ली में जामा-मस्जिद बनाई थी।

वास्तुकलात्मकता की दृष्टि से भी यह भवन मन्दिर है। इसके गुम्बदों के शीर्ष पर उलटे रखे हुये हिन्दू पुष्पीय नमूने दृष्टव्य हैं। मुस्लिमों के

गुम्बदों पर पुष्प-नमूने नहीं होते। दृष्टान्त के रूप में, चाणक्यपुरी में स्थित पाकिस्तानी राजदूतावास के गुम्बद देखे जा सकते हैं। इस तथाकथित जामा-मस्जिद में सीधे, स्थूणाकार सुनहरी शिखर भी हैं। दूसरी ओर, मुस्लिम शिखरों की समाप्ति अर्धचन्द्र और तारक में होती है। जामा-मस्जिद के सभी प्रवेशद्वार दिल्ली के लालकिले, आगरे के लालकिले और फतहपुर सीकरी के प्रवेशद्वारों के नमूनों से ज्यों-के-त्यों मिलते हैं। दिल्ली और आगरे के लालक़िले तथा सम्पूर्ण फतहपुर सीकरी हिन्दू संरचनाएँ सिद्ध की जा चुकी हैं। इस सम्बन्ध में, हम पाठकों का ध्यान श्री हंसराज भाटिया द्वारा लिखित 'फतहपुर सीकरी एक हिन्दू नगर' एवं 'आगरे का लालकिला हिन्दूभवन है' शीर्षक दो शोध-पुस्तकों की ओर आकर्षित करना चाहते हैं।

अन्य महत्त्वपूर्ण विवरण यह है कि उन सभी भारत-स्थित विशाल मध्यकालीन भवनों में, जिनको मुस्लिम-मस्जिद होने की बात कही जाती है—चाहे वे पुरानी दिल्ली की तथाकथित जामा-मस्जिद हो अथवा अन्य निर्जन, दुर्गम स्थान में बनी एकाकी मस्जिदें हों, तीन मेहराबों वाले उपासना गृह बने होते हैं। एक खुदा और एक पैग़म्बर की बात करने वाले इस्लामी धर्मशास्त्र में इनका कोई महत्त्व नहीं है। किन्तु तीन मेहराबों का हिन्दू के लिए तो विशेष महत्त्व है क्योंकि हिन्दू लोग ब्रह्मा-विष्णु-महेश की देव-त्रयी में विश्वास करते हैं। वह विश्वास करता है कि देव-त्रयी के वे तीनों रूप ही विश्व का क्रमशः सृजन, पालन और विध्वंस करते हैं। पुरानी दिल्ली की तथाकथित जामा-मस्जिद एक हिन्दू मन्दिर है क्योंकि इसमें हिन्दू देव-त्रयी के लिए उपर्युक्त तीन मेहराबें हैं।

इस प्रकार, किसी भी दृष्टिकोण से देखने पर, पुरानी दिल्ली की तथाकथित जामा-मस्जिद एक प्रचीन हिन्दू मन्दिर ही सिद्ध होती है। प्रत्येक सूत्र इसी तथ्य की ओर इंगित करता है कि यह उपासनागृह पाण्डवों की प्राचीन दिल्ली का सर्वप्रधान, मुख्यतम मन्दिर रहा होगा। यदि इसके चारों ओर पुरातत्त्वीय खुदाइयाँ की जाएँ तो आशा है कि इस भवन के असाधारण ऊँचे मंच के नीचे एक तलघर दिखाई दे जहाँ हिन्दू मूर्तियों को ऊल-जलूल ढंग से ठूँसा अथवा गाड़ दिया हो।

अभी हाल में ही, कुछ मीनारों में दरारें पड़ जाने की ख़बर मिली थी।

सम्भव है कि इन तथाकथित मीनारों के ऊपरी भाग तैमूरलंग अथवा उसके परवर्तियों द्वारा विजयोपरान्त जोड़े गये इस्लामी परिवर्धन हों। भवन के केन्द्रीय प्रांगण के चारों ओर बने हुए विशाल छायादार बरामदे व लम्बी दीर्घाएँ उस प्राचीन मन्दिर की धर्मशालाएँ हो सकती हैं।

ऐसी अनेक विचारणीय बातें व प्रमाण हो सकते हैं। हमारी शोध पुरानी दिल्ली की जामा-मस्जिद नाम से पुकारी जाने वाली इमारत के मूलोद्गम में दुबारा, आदितः अन्वेषण की आवश्यकता की संकेतक है। यह कारुणिक और अन्धविश्वास अनुचित है कि यह भवन अपनी प्रारंभिक अवस्था से ही मस्जिद है। इतिहास के विद्यार्थियों, विद्वानों, अनुसन्धान-कर्ताओं, पुरातत्त्वज्ञों, पर्यटकों, पर्यटन-कर्मचारियों, आगन्तुकों और मार्ग-दर्शकों को अब मात्र कही-सुनी बातों पर विश्वास नहीं करना चाहिये जबकि सभी साक्ष्य इस निष्कर्ष की ओर इंगित करते हैं कि तथाकथित जामा-मस्जिद पुरानी दिल्ली नामक प्राचीन नगरी के मुख्य मन्दिर के रूप में ही स्थापित हुई थी। जो लोग कहते हैं कि यह शाहजहाँ द्वारा ही बनाई गई मस्जिद है, उनके दावे को परखने का सीधा-साधा और शीघ्र परीक्षण है। उनको वे प्रलेख, दस्तावेज़ प्रस्तुत और प्रकाशित करने चाहिये जो सिद्ध करते हैं कि शाहजहाँ ने इसका निर्माण किया था और उसे वर्तमान न्यासियों के पूर्वजों को सौंपा गया था।

पुरानी दिल्ली की स्थापना पाण्डवों ने (न कि शाहजहाँ ने) की थी

यह जन-विश्वास निराधार, अयुक्ति-युक्त है कि 'पुरानी दिल्ली' नगर की स्थापना पाँचवीं पीढ़ी के मुग़ल बादशाह शाहजहाँ ने की थी। इतिहास में इसका कोई आधार नहीं है। पुरानी दिल्ली की विद्यमानता, इसका अस्तित्त्व पाण्डवों के युग तक खोज निकाला जा सकता है। पाण्डवों की राजधानी, सुप्रसिद्ध इन्द्रप्रस्थ नगरी में पुरानी दिल्ली नामक नगरी के साथ-साथ मीलों दूर तक प्राप्त विशाल भवनों का ध्वस्त क्षेत्र भी सम्मिलित था।

इस्लामी आक्रमणों की एक हज़ार वर्षीय और दिल्ली पर शासन की छः सौ वर्षीय अवधि में विदेशी प्रचारकों ने निरन्तर और अथक प्रयत्न किये कि सभी नगरों और महत्त्वपूर्ण भवनों के हिन्दू मूलोद्‌गम की बात जन-मानस से विलुप्त हो जाये और यह विश्वास मन में जम जाय कि ये सभी मुस्लिम संरचनाएँ थीं। ब्रिटिश लोगों ने भी, जो उन मुस्लिमों के उत्तराधिकारियों के रूप में भारत में सर्वोच्च सत्ता की भाँति सत्तासीन हुए, पूर्वकालिक धूर्ततापूर्ण दुष्प्रयत्नों से पूर्णतया अनभिज्ञ होने के कारण, उसी मिथ्या विचार की पुष्टि कर दी और उसे आगे प्रचारित, प्रसारित करना प्रारम्भ कर दिया। १२०० वर्षीय दीर्घकालीन दुराचरण के परिणाम-स्वरूप भारतीय इतिहास सब प्रकार से विकृत हो चुका है। उस घोर, भयावह विकृति का एक नेत्रोन्मेषकारी उदाहरण 'पुरानी दिल्ली' नामक नगरी का मूलोद्‌गम है। इसी कारणवश हम इधर-उधर बिखरे पड़े उस विशाल साक्ष्य-समूह का विवेचन करना चाहते हैं जो अभी भी यह सिद्ध करने के लिए उपलब्ध है कि दिल्ली की महानगरी कम-से-कम उतनी ही पुरानी

है जितनी पुरानी महाभारत-युग की कहानी है। दिल्ली-महानगरी से मेरा तात्पर्य न केवल पुरानी दिल्ली नामक नगरी है, अपितु इसमें वे सभी परिधीय ध्वंसावशेष सम्मिलित हैं जिनकी नाम-गणना श्री (जिसका भ्रष्टोच्चारण 'सीरी' किया जाता है), हौज़ खास, विजय-मण्डल, पुराना क़िला, शेर गढ़, दीन पनाह, किलोकरी, तथाकथित निज़ामुद्दीन मकबरे के चारों ओर बिखरे पड़े खण्डहर, तथाकथित कुतुबमीनार के चारों ओर फैले हुए ध्वंसावशेष, फ़िरोज़शाह कोटला, तथाकथित बेगमपुर मस्जिद, और अन्य बहुत सारे ध्वस्त, अनाम मकबरों और मस्जिदों के रूप में की जाती है। वे सभी सामूहिक रूप में उन हिन्दुओं के भव्य और विशाल मन्दिरों, भवनों, क़िलों और राजमहलों के रूप हैं जिन्होंने दिल्ली की यशस्वी और सुविशाल, सुविस्तृत महानगरी की स्थापना की थी।

यह विश्वास करना घोर त्रुटि है कि विभिन्न सम्राटों, बादशाहों द्वारा, विभिन्न स्थानों पर, विभिन्न कालों में सात या १५ दिल्लियों की स्थापना की गयी थी। जिस प्रकार २०वीं शताब्दी की दिल्ली के कई उप-नगर मिलकर एक महानगरी दिल्ली बनी है, उसी प्रकार प्राचीन हिन्दुओं की दिल्ली एक सुविस्तृत, सुविशाल महानगरी थी, जिसका विस्तार हमारे अपने युग के लन्दन, न्यूयार्क अथवा टोक्यो जैसे अग्रणी नगरों के समान ही था। तथ्य तो यह है कि दिल्ली जैसी प्राचीन नगरियों को मीलों-मील दूर तक फैला होना पड़ता ही था क्योंकि उन दिनों की अर्थव्यवस्था मुख्यतः कृषि-प्रधान ही थी। सभी गणमान्य व्यक्तियों के आधिपत्य में बड़े-बड़े अन्न-क्षेत्र थे। साथ ही, उस समय का यह प्रचलन था कि रजवाड़ा-प्रधान, दरबारी, सरदार, ज़मींदार, जागीरदार और सेना नायक—सभी के पास विशाल परिचर-गण, शरीर-रक्षक और सैनिक-टुकड़ी रहा करती थी। अतः (बड़ी-बड़ी भू-सम्पत्तियों वाली) विशाल ताल्लुक़दारियाँ होती थीं जिनमें अश्वों, गजों, पालकियों, ऊँटों, खच्चरों, रथों, तोपों-बन्दूकों और सैनिकों की विशाल संख्या को स्थान दिया जा सकता था, भली-भाँति रखा जा सकता था।

इससे भी बढ़कर बात यह थी कि देश के एक भाग से दूसरे स्थान पर जाने वाले यात्रियों को अथवा सैनिक-टुकड़ियों के विशाल समूहों को ठहरा

सकने के लिए विशाल सराय (जिन्हें धर्मशालाएँ कहते थे) थीं। हम दिल्ली के चारों ओर जो ध्वंसावशेष देखते हैं, वे अधिकांशतः इन्हीं के हैं। मुस्लिम आक्रमणकारियों अथवा शासकों द्वारा उनका निर्माण किया जाना तो दूर की बात रही, उनको तो उन्हीं लोगों द्वारा निर्दयतापूर्वक, सप्रयत्न लूटा-खसोटा तथा ध्वस्त किया गया था। यह तो इस बात का एक दृष्टान्त मात्र है कि आज जो इतिहास हमें पढ़ाया-सिखाया जाता है, वह न केवल विकृत है, अपितु उलट-पुलट भी कर दिया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि उन्हीं मुस्लिमों को महान् निर्माता मानकर आकाश पर चढ़ाया जा रहा है जिन्होंने प्राचीन हिन्दू-भवनों, राजप्रासादों, राजमहलों और मन्दिरों को विनष्ट किया था।

इस अनुभूति मात्र से ही दिल्ली का सच्चा इतिहास जानने की महत्ता स्पष्ट हो जानी चाहिये। महाभारतकालीन युग में बड़े-बड़े नगरों को प्रायः 'प्रस्थ' प्रत्यय-सूचक नाम से पुकारा करते थे; यथा तिलप्रस्थ (आधुनिक तिलपट), पाणिप्रस्थ (पानीपत), यम-प्रस्थ (आधुनिक आगरा), वृक-प्रस्थ और इन्द्र-प्रस्थ (दिल्ली)।

पुराना क़िला उपनाम प्राचीन दुर्ग सामान्यतः सबसे पुराना विद्यमान भवन माना जाता है, और इसका सम्बन्ध पाण्डवों से रहा माना, विश्वास किया जाता है। यदि यह स्वीकार किया जाता है कि पुराना क़िला सबसे पुराना भवन है, तब तो उसी तर्क-पद्धति के अनुसार पुरानी दिल्ली (अर्थात् जिसे हम पुरानी दिल्ली कहते हैं) दिल्ली-महानगरी का सबसे प्राचीन भाग ही है।

ब्रिटिश लोगों ने पास में ही एक नगर बसाया और उसे 'नयी दिल्ली' नाम से मात्र इसी कारण सम्बोधित किया कि जब उन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत में अपने शासन को सुदृढ़ किया तब एक 'पुरानी दिल्ली' पहले ही विद्यमान थी (यद्यपि यह 'नयी दिल्ली' संज्ञा भी अशुद्ध है क्योंकि जिसे हम आज 'नयी दिल्ली' कहते हैं, वह क्षेत्र तो अनेक अति प्राचीन भवनों के ध्वंसावशेषों से भरा-पड़ा है)। नगर का वह भाग 'पुरानी दिल्ली' नहीं कहलाता यदि उसको शाहजहाँ ने बनवाया होता क्योंकि वैसा होने पर तो वह अंग्रेजों को नवीनतम दिल्ली ज्ञात होती जिस

समय उन्होंने अपनी दिल्ली बसाने का विचार किया था। अतः, यह तथ्य सब लोगों की दृष्टि में स्पष्ट हो जाना चाहिये कि पुरानी दिल्ली का नाम पड़ने का कारण केवल यह है कि प्रत्येक पीढ़ी को ही यह नगर प्राचीनतम दिल्ली के नाम से ज्ञात रहा है, और इसीलिए यह कम-से-कम उतना पुराना है जिसका पुराना महाभारत काल।

एक अन्य कारण से भी यह दावा अग्राह्य, अस्वीकार्य है कि शाहजहाँ ने पुरानी दिल्ली बसायी। कारण यह है कि माना जाता है कि शाहजहाँ ने शाहजहाँनाबाद नामक एक नगर बसाया था। यदि वह बात सत्य है, तो पुरानी दिल्ली हमें पुरानी दिल्ली के रूप में न मिलकर शाहजहाँनाबाद अथवा नयी दिल्ली के रूप में मिलती। शाहजहाँ द्वारा एक नयी स्थापित नगरी को दिया गया नाम अकारण ही वायुमण्डल में नष्ट, विलुप्त नहीं हो गया होगा, और न ही उसका वैकल्पिक 'पुरानी दिल्ली' नाम प्रचलित हुआ होगा। इससे अप्रत्याशित रूप में हमें एक अन्य दोष, विकृति का ज्ञान हो जाता है—वह यह है कि शाहजहाँ और उसके चाटुकारों ने 'पुरानी दिल्ली' नामक नगर के ऊपर अपना 'शाहजहाँनाबाद' नामक नया नाम थोपने की भरपूर कोशिश की तथापि, वह बुरी तरह विफल रही, क्यों अविस्मरणीय प्राचीन हिन्दू परम्परा में 'पुरानी दिल्ली' का नाम इतने गहरे, सुपुष्ट रूप में जड़ें जमा चुका था कि इस्लामी दुष्प्रयत्न के ६०० वर्षों के काल में भी वह उखाड़ा न जा सका।

प्रसंगवश यह कह देना समीचीन है कि शाहजहाँ ही पहला विदेशी मुस्लिम बादशाह नहीं था जिसने प्राचीन हिन्दू दिल्ली का नाम बदलने का यत्न किया। लगभग सभी मुस्लिम शासकों ने पहले भी यह दुष्प्रयत्न किया था। यही कारण है कि (सीरी के भ्रष्टोच्चारित रूप में) 'श्री' का स्थापना-श्रेय अलाउद्दीन खिलजी को दिया जाता है, तुग़लकाबाद का गियासुद्दीन तुग़लक को, कुतुबमीनार क्षेत्र का कुतुबुद्दीन को, सुदूर-स्थित फिरोज़शाह कोटला के अतिरिक्त हौज़खास क्षेत्र का श्रेय भी फिरोज़शाह को और 'पुराना किला' क्षेत्र का श्रेय शेरशाह को दिया जाता है। शाहजहाँ के प्रपितामह हुमायूँ ने भी 'पुरानी दिल्ली' के ऊपर 'दीन-पनाह' नाम थोपने का पहले भी दुष्कृत्य किया था किन्तु वह नाम चल नहीं पाया था, इसलिए

शाहजहाँ ने भी अपने युग में एक नया इस्लामी नाम देने का यत्न किया। इस प्रकार 'नामकरण' करने के इस खेल में इतिहास-लेखक धोखा खा बैठे हैं और यह विश्वास करने लगे हैं कि प्रत्येक मुस्लिम ने, चाहे उसने मात्र पाँच वर्ष की अत्यल्पावधि के लिए ही राज्य किया हो, बड़े-बड़े भव्य नगरों और शानदार भवनों को बनवाया था, चाहे वह स्वयं अन्य आक्रमणकारियों तथा घुसपैठियों और अपने ही घरेलू संघर्षों में सदा व्यस्त रहा हो। यह परम्परा तो सभी लोगों में विद्यमान है कि वे विजित भवनों अथवा नगरों के नाम बदल देते हैं। क्या हमने स्वयं भी नयी दिल्ली स्थित वायसरीगल हाउस का नाम राष्ट्रपति-भवन नहीं कर दिया? तब किसी भावी इतिहास-लेखक का यह लिखना मूर्खतापूर्ण नहीं होगा कि नयी दिल्ली के राष्ट्रपति भवन का निर्माण स्वतन्त्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति द्वारा २०वीं शताब्दी में कराया गया था ?

शाहजहाँ से बहुत वर्ष पहले भी 'पुरानी दिल्ली' नगर के अस्तित्व का प्रमाण आक्रमणकारी तैमूरलंग की एक टिप्पणी से भी प्राप्त होता है। यह वह क्रूर व्यक्ति था जिसने सन् १३९८ ई० में दिल्ली में भयंकर नर-हत्याकाण्ड कराया था। यह घटना शाहजहाँ के सिंहासन पर बैठने से २३० वर्ष पूर्व की है। तैमूरलंग ने अपने स्मृति-ग्रन्थ में (इलियट और डासन, खण्ड III, पृष्ठ ४४२-४४६) 'पुरानी दिल्ली' का उल्लेख किया है। शाहजहाँ द्वारा पुरानी दिल्ली की स्थापना का आग्रह करने वालों की कायरता अथवा अज्ञानता की कल्पना कीजिये जबकि २३० वर्ष पूर्व ही, स्वयं शाहजहाँ के अपने पूर्वज द्वारा 'पुरानी दिल्ली' के बारे में किया गया उल्लेख हमें प्राप्त ही है। इसी प्रकार भारत के अन्य नगरों की स्थापना करने का श्रेय भी मुस्लिमों को व्यर्थ ही दे दिया गया है—यद्यपि वे सभी प्राचीन हिन्दू नगर हैं। कुछ उदाहरण देखें—अहमदाबाद को बसाने का श्रेय अहमदशाह को, अल्लाहाबाद का श्रेय अकबर को और फ़िरोजाबाद व हिसार की स्थापना का यश फ़िरोजशाह को दे दिया गया है यद्यपि ये सब प्राचीन हिन्दू नगर हैं जिनपर विदेशी नाम और निर्माण-श्रेय थोप दिये गये हैं।

पुरानी दिल्ली की हिन्दू पुरातनता का एक अन्य महत्त्वपूर्ण संकेतक इसकी प्राचीन श्मशान-भूमि है जो निगमबोध घाट के नाम से प्रसिद्ध है।

परम्परागत हिन्दू पद्धति के अनुसार श्मशान-भूमि नगर के एक अन्तिम छोर पर होती है। निगमबोध घाट पुरानी दिल्ली का उत्तरी अन्तिम छोर ही है, जैसाकि वहीं समाप्त होने वाली इसकी भारी दीवार को देखकर कहा जा सकता है। इस निगमबोध घाट का बारम्बार उल्लेख हिन्दू महाकाव्य महाभारत में किया गया है। पाण्डव-भ्रातागण अपने सम्बन्धियों के दाह-संस्कार इसी निगमबोध घाट पर किया करते थे।

पुरानी दिल्ली की प्राचीर के दक्षिणी अन्तिम छोर पर—उत्तरी अन्तिम छोर के अनुरूप ही—यमुना नदी का राजघाट भाग है। पाण्डव लोग दिल्ली पर शासन करते थे, इसलिए राजघाट नाम पड़ा। पुरानी दिल्ली का राज-घाट से ठीक निगमबोध घाट तक का विस्तार होना इस बात का अकाट्य प्रमाण है कि पुरानी दिल्ली पाण्डवों के समय से ही विद्यमान रही है क्योंकि निगमबोध घाट का उल्लेख महाभारत में बारम्बार किया गया है।

अतः, यह सम्भव है कि स्वयं लालक़िले का मूलोद्गम भी चिर-अतीत पाण्डव काल का ही हो। यह बुद्धिगम्य प्रतीत होता है क्योंकि क़िले के पिछवाड़े यमुना नदी के तट का नाम राजघाट उन हिन्दू राजाओं से पड़ा है जो अपने नित्य स्नान और कर्म की पूर्ति के लिए नदी-धारा तक आया करते थे।

इस लालक़िले की दीवारें पाण्डवों के युग से ही सम्बन्ध रखती हों अथवा नहीं, यह तो निश्चित है कि लालक़िला एक प्राचीन हिन्दू राजकुलीन स्थल पर उसी प्रकार स्थित है जिस प्रकार हम सोमनाथ को एक प्राचीन हिन्दू मन्दिर कहते हैं, यद्यपि इसका निर्माण कम-से-कम सात बार तो हुआ ही था।

लालक़िले का प्राचीन हिन्दू स्वामित्व सिद्ध करने वाला एक अद्वितीय, अनुपम लक्षण राजकुलीन हिन्दू चिह्न है जो राजा के अपने 'खास महल'—विशेष कक्ष में अति विशिष्ट रूप में चित्रित देखा जा सकता है। अभी तक, इसे अत्यन्त धूर्ततापूर्वक और चाटुकारितापूर्ण स्वर में मुस्लिम अर्द्ध चन्द्र के रूप में ग़लत प्रकार से प्रस्तुत किया जाता रहा है। अतः, पाठकों से पुनः निवेदन है कि वे एक बार फिर लालक़िले जाएँ और इसे दूसरी बार, अत्यम सूक्ष्म दृष्टि से, सावधानीपूर्वक देखें तथा यह परख लें—हृदयंगम

कर लें कि यह चिह्न एक अर्द्ध चन्द्र नहीं, अपितु तलवारों का एक जोड़ा है जिसकी मूठें परस्पर मिली हुई हैं और जिनके फलक ऊपर की ओर मुड़े हुए हैं। ये तलवार-फलक राज-शक्ति के द्योतक हैं जो सम्पूर्ण प्रशासन का आधार है। मूठों के ठीक ऊपर, संगमरमरी फलक के मध्य में पवित्र हिन्दू कलश है। यह राज्य-शासन के पुनीत आधार का प्रतिबिम्ब है। इसके ऊपर एक कमल-कलिका रखी है जो धन, समृद्धि और शान्ति की प्रतीक है। उस कलिका से एक तुला ऊपर गयी है जिसके दोनों पलड़े समतल हैं—जो यह घोषित करते हैं कि प्रशासन का मुख्य कार्य सभी लोगों के लिए न्याय सुरक्षित, सुनिश्चित करना है। इसी फलक में पूरी तरह चमचमाते हुए मध्य-दिवसी सूर्य के अनेक छोटे-छोटे प्रतिबिम्ब बने हुए हैं, क्योंकि अधिकांश हिन्दू राजकुल अपनी वंशोत्पत्ति सूर्य भगवान् से मानते थे, और उनका प्रभुत्त्व दिन के प्रचण्ड तेज के समान था जो शत्रु को झुलसाता था और अपने नागरिकों को अभीष्ट ताप प्रदान करता था। ऊपर बनी हुई मेहराब में विशद रंगों में चमकते हुए सुनहरी राजकुलीन सूर्य का एक बृहत्तर प्रतिबिम्ब है। वह सूर्य फलक को अपनी छत्र-रूपी मेहराब में स्थित होकर सम्पूर्ण फलक पर प्रकाश-किरणों को विकीर्ण करता है। तलवारों के दो फलक-बिन्दुओं पर दो शंखाकृति विद्यमान हैं जो भगवान् विष्णु के प्रतीक हैं क्योंकि राजा संरक्षक और पालक विष्णु भगवान् का अवतार माना जाता है। दो बड़े-बड़े आकार वाले शंख उस फलकाधार के निचले, दाएँ-बाएँ कोने में भी चित्रित देखे जा सकते हैं।

इस बात की जाँच कर ली जानी चाहिये कि उपर्युक्त राजचिह्न पाण्डवों का अथवा ग्यारहवीं शताब्दी के सम्राट् अनंगपाल का अथवा किसी परवर्ती हिन्दू राजा का है, किन्तु निश्चित है कि यह इस्लामी अथवा किसी उत्तर-कालीन हिन्दू का तो नहीं है। यह भी हो सकता है कि यह राज-कुलीन हिन्दू राजचिह्न अति विरली और प्राचीन हिन्दू उपलब्धि हो, जिसे कई शताब्दियों तक लाखों-करोड़ों लोगों ने देखा है, फिर भी इसे इस्लामी-मूलोद्‌गम की वस्तु मानकर भयंकर भूल करते रहे हैं। इस राजचिह्न से अन्य भवनों में बने हुए इसी प्रकार के अन्य हिन्दू राजचिह्नों को खोज निकालने की वृत्ति जागृत होनी चाहिये तथा विद्वानों को यह ज्ञात करने

की प्रेरणा प्राप्त होनी चाहिये कि वे पता लगाएँ कि क्या इस फलक का सम्बन्ध पाण्डवों से हो सकता था।

इस लालक़िले के भागों का रूप-रेखांकन 'हर्षचरित' तथा बाणभट्ट की 'कादम्बरी' जैसे प्राचीन संस्कृत साहित्यों में वर्णित राजकुलीन कक्षों आदि से पूर्णतया मेल खाता है। इस बात को रेखाचित्रों और तुलनात्मक फलकों द्वारा स्वर्गीय श्री वासुदेवशरण अग्रवालजी ने इन दोनों संस्कृत-श्रेष्ठ ग्रन्थों के सांस्कृतिक अध्ययन में स्पष्ट दर्शाया है। श्री अग्रवाल भूत-पूर्व पुरातत्त्वीय अधिकारी और बाद में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में भारतीय-विद्या के प्राचार्य रहे हैं। हमारी यह शोध-उपलब्धि कि कश्मीर से कन्याकुमारी तक की सभी प्रसिद्ध ऐतिहासिक इमारतें मुस्लिम-पूर्वकाल की हिन्दू संरचनाएँ हैं उस समय तक व्यापक रूप में सर्व-ज्ञात नहीं हुई थी जब श्री अग्रवाल की मृत्यु हुई, और कदाचित् वे भी अन्य लोगों की भाँति ही इस भ्रान्त धारणा को अपने हृदय में सँजोए रहे कि ताजमहल, लालक़िले और ऐसे ही अन्य भवनों को विदेशी मध्यकालीन मुस्लिम राज्य-शासकों ने ही भारत में बनवाया था। फिर भी, वे यह टिप्पणी किये बिना नहीं रह सके कि दिल्ली स्थित लालक़िले के भीतरी कक्ष प्राचीन संस्कृत साहित्य में वर्णित हिन्दू सम्राटों से सम्बन्धित भवनों से पूरी तरह मिलते-जुलते हैं। उन्होंने अपनी इस उपलब्धि को स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करने के लिए अनेक पृष्ठ और अनेक रेखाचित्र अंकित किये हैं। हमारी यह उपलब्धि, कि पुरानी दिल्ली की पुरानी संरचनाएँ, इमारतें पाण्डव-काल तक की पुरानी हैं, उस विद्वान् द्वारा अप्रत्याशित समर्थन प्राप्त करती है जिसका रुझान हमारी ओर होना तो दूर रहा, निश्चित रूप से उस वर्ग से मेल खाता था जो यह मानता रहा है कि भारत स्थित सभी मध्यकालीन भवनों का निर्माण मकबरों, क़िलों और मस्जिदों के रूप में विदेशी मुस्लिम धर्मोन्मादियों ने ही कराया था।

सामान्य दर्शक-गण भी लालक़िले के अन्दर बने हुए भवनों की हिन्दू विशिष्टताओं का दर्शन लालक़िले के पिछवाड़े परकोटे के साथ-साथ पैदल अथवा किसी वाहन में चलकर और वहाँ बने भवनों को देखकर कर सकता है। उनकी कंकाल-रूपी गुम्बदें, ढलवाँ छतें, उन छतों से निकली हुई

खूँटियाँ, अष्टकोणी छतरियाँ व बुर्जें, तथा पूर्वकालिक नदी-घाट तक जाने वाली शंकु-आकार की मेहराबें उन दर्शकों के मानस में अदम्य रूप में यह भावना उत्पन्न कर देंगे कि हिन्दू तीर्थों के नदी-घाटों के समान ही यह स्थान है जहाँ पर इसी प्रकार के हिन्दू भवनों की भरमार रहती है।

राजघाट से कुछ फर्लांगों की दूरी पर ही एक अति प्राचीन हिन्दू गढ़ है जिसे आजकल फ़िरोज़शाह कोटला नाम से पुकारा जाता है। उस थोपे हुए इस्लामी नाम के कारण पर्यटक और पुरातत्त्वीय साहित्य ने यह जानकारी प्रस्तुत की है कि उस ध्वस्त भवन को मुस्लिम सुलतान फ़िरोज़शाह तुगलक ने ही बनवाया था। फ़िरोज़शाह ने न तो यही दावा किया है कि उसने किसी वस्तु का निर्माण कराया था और न ही वह कोई ऐसा अभिलेख हमारे पास छोड़ गया है कि उसने किसी भी भवन-निर्माण का आदेश दिया था। उसका राज्य-काल तो भयंकर हारों का दम-घोंटू काल था, जिनमें से दो बार तो बंगाल में मुँह की खानी पड़ी थी और अन्य दो बार सिन्ध में। फ़िरोज़शाह से दो पीढ़ी छोटे एक शम्से-शीराज़ अफ़ीफ़ नाम के चाटुकार ने अपने पितामह को लाभ पहुँचाने वाले के पक्ष में कुछ अस्पष्ट, अनिश्चित भवन-निर्माण के दावे कर दिए हैं। और इस तथ्य को छुपाने, ढकने के यत्न में कि फ़िरोज़शाह ने अपने जीवन का एक बड़ा भाग उत्तुंग अशोक-स्तम्भ वाले ध्वस्त हिन्दू-क़िले में गुजारा था, उसने यह असत्य, मनगढ़न्त कथा प्रचारित कर दी कि फ़िरोज़शाह दिल्ली की उत्तर दिशा में स्थित किन्हीं गाँवों से दो अशोक-स्तम्भ उखड़वाकर दिल्ली ले आया था—यहाँ आ जाने पर एक स्तम्भ तो उसने अपने 'क़िले' पर लगवा लिया और दूसरा पहाड़ी पर गड़वा दिया। एक धर्मान्ध, मध्यकालीन मुस्लिम सुलतान अपने क़िले के ऊपर कभी भी ऐसा क़ाफ़िराना, हिन्दू स्तम्भ नहीं लगवाता जिसपर हिन्दू धर्मादेश अंकित हों। वह तो इसको ध्वस्त ही करा सकता था। किन्तु फ़िरोज़शाह ऐसा न कर सका क्योंकि उसे डर था कि यदि उसने उस स्तम्भ को उखड़वाया, तो सबसे ऊपरी मंज़िल में बड़ा भारी छेद रह जायेगा, और जब वह स्तम्भ 'धड़ाम' करके गिरेगा, तो उसके नीचे अनेक निकटवर्ती भवन नष्ट हो जाएँगे। अतः, इसी प्रकार से ध्वस्त-क्षेत्र के एक भवन में फ़िरोज़शाह ने अपना निवासस्थान चुन लिया और उस

पर लगे अशोक-स्तम्भ की छत्र-छाया में ही जैसे-तैसे काम चलाता रहा। निकटवर्ती अन्य क्षेत्रों को उसके पूर्व-कालिक विदेशी आक्रमणकारियों ने ध्वस्त किया था। दरबारी चापलूसों को तब यह स्पष्टीकरण प्रस्तुत करना आवश्यक था कि फ़िरोज़शाह ने घृणित, अति प्राचीन हिन्दू स्तम्भ वाले महल में निवास करना किस प्रकार सहन कर लिया। उन चापलूसों ने इतिहास में इसीलिए यह असत्य कथा ठूँस दी कि स्वयं फ़िरोज़शाह ने, केवल कौतुक-वश ही अति दूर-स्थान से एक अशोक-स्तम्भ उखाड़ लिया था और उसे दिल्ली स्थित अपने महल पर लगवा लिया था।

उपर्युक्त विश्लेषण से हम जो कुछ निष्कर्ष निकालते हैं वह यह है कि फ़िरोज़शाह कोटला के नाम से ज्ञात राजप्रासाद सम्राट् अशोक का अपना राजमहल है क्योंकि इसकी छत के ऊपर उसका अपना धर्मादेश-स्तम्भ लगा हुआ है। इस राजमहल की ध्वस्त-अवस्था भी इस बात का प्रमाण है कि मुहम्मद गज़नी के प्रारम्भिक ग्यारहवीं शताब्दी से आगे के अनेक इस्लामी आक्रमण का यह महल बुरी तरह शिकार हुआ है।

अशोक के राजप्रासाद का लालक़िले से लगभग एक मील के भीतर ही स्थित होना इस बात का एक अन्य प्रमाण है कि जिसे हम आज पुरानी दिल्ली कहते हैं, वह महाभारत-युग से ही अस्तित्व में थी और इसकी स्थापना शाहजहाँ द्वारा १७वीं शताब्दी में कदापि नहीं की गयी थी। प्रचलित मान्य काल-क्रम के अनुसार सम्राट् अशोक ईसा से पूर्व तीसरी शताब्दी में राज्यारूढ़ थे, और पाण्डव लोग ईसा से तीन हज़ार वर्ष पूर्व जीवित थे।

सम्राट अशोक के लिए यह सहज, स्वाभाविक ही था कि वह अपना क़िला पाण्डवों की पुरानी दिल्ली के बाहर ही बनवाये।

पुरानी दिल्ली नगर यमुना नदी के पश्चिमी तट पर स्थित है। यह भी प्राचीन हिन्दू परम्परा के अनुकूल ही है क्योंकि दिल्ली के नागरिक अपने नित्य स्नान और नदी में खड़े होकर उदीयमान सूर्य को पूर्व दिशाभिमुख होकर अर्घ्यादि देने के लिए पर्याप्त भोर की घड़ी में ही यमुना-तट पर पहुँच जाया करते थे।

जो नागरिक लोग आयु दौर्बल्य अथवा रोगों के कारण खास यमुना-

तट तक नहीं जा सकते थे, उनके लिए पाण्डवों ने एक नहर खुदवायी थी जो उस स्थान से गुज़रती थी जिसे हम आज चाँदनी चौक कहते हैं। यह प्राचीन राजमार्ग उस समय इसके मध्य से बहने वाली यमुना नहर की जल-धारा से दो भागों में विभाजित था। इसके दोनों ही किनारों पर हिन्दू पुष्पीय पौधे, पवित्र पौधे जैसे तुलसी तथा मन्दिर घाट थे। वर्तमान गौरी-शंकर मन्दिर उन्हीं में से एक है। अनवरत मुस्लिम धावों के बीच नहर उन मन्दिरों व घाटों के मलवे से भर गयी जो मुस्लिम आक्रमणकारियों द्वारा ध्वस्त किये गये थे। इसलिए यह कल्पना करना गलत है कि फ़िरोज़शाह ने इस नहर का निर्माणादेश दिया था। इसके विपरीत उसके राज्य में तो यह नहर बुरी तरह पुर गयी थी, पट गयी थी।

प्राचीन लालक़िले से आजकल फ़तहपुरी मस्जिद के प्रचलित नाम से विख्यात शिव मन्दिर तक विस्तृत धुरी के चारों ओर गलियों और उप-गलियों का एक विशाल जाल फैला हुआ था जिसके भीतर रहने वाले निवासियों की रक्षा एक विशाल नगर-प्राचीर उसी भाँति करती थी जिस प्रकार कोई सीप भीतर रखे अनमोल मोती को हृदय से सटाए रखता है। अतः पुरानी दिल्ली के नगर का अध्ययन प्राचीन हिन्दू नगर-योजना के एक अनुपम, श्रेष्ठ उदाहरण के रूप में करना आवश्यक है।

पुरानी दिल्ली महानगरी के उस राजमार्ग व नहर के एक छोर पर लालक़िला उपनाम लालकोट से ज्ञात हिन्दू सम्राट् का राजमहल व क़िला स्थित था। दूसरे छोर पर शिव मन्दिर था चूँकि शिवजी भारत के शासक-वर्ग अर्थात् क्षत्रियों के कुलदेवता थे। वे दोनों एक मील से अधिक की दूरी पर स्थित हैं। अन्त्य 'पुरी' इसके प्राचीन संस्कृत नाम का प्रमाणक प्रत्यय है। 'फतह' इस्लामी शब्द एक 'विजित' हिन्दू बस्ती का द्योतक है। अतः आज जिसको फ़तहपुरी मस्जिद विश्वास किया जाता है, वह एक प्राचीन हिन्दू राजकुलीन मन्दिर है। इस निष्कर्ष की आगे भी पुष्टि उस लघु मण्डपाकार आले से हो जाती है जो मुख्य प्रवेशद्वार के केन्द्र में ऊपर बना हुआ है। जैसी सामान्य हिन्दू पद्धति है, उसी के अनुरूप भगवान् शिव की सन्तान भगवान् गणेश की प्रतिमा उसी छोटे आले में प्रतिष्ठित रहा करती थी।

आइए, हम अब उस तथाकथित तुर्कमान दरवाजे के भीतर, आगे चलें। दो-तीन फर्लांग तक उस संकरी गली में चलने के बाद, बाईं ओर एक बन्द गली दिखलायी पड़ती है। भीतर की ओर कुछ गज़ चलने पर, व्यक्ति, पत्थर की सीढ़ियों की एक सीधी, खड़ी चढ़ायी के सम्मुख उपस्थित हो जाता है। इसके बिल्कुल ऊपर एक प्राचीन हिन्दू भवन है। इसपर अब सफ़ेदी की हुई है, फिर भी अयुक्ति-युक्त भाषा में इसे अब भी 'काली' (स्याह) मस्जिद कहते हैं। इसका प्रवेशद्वार द्वाराग्रकाष्ठ (लिंटन-पोस्ट) प्रकार का है। इसके दोनों पार्श्वों में दो पतली बुर्ज-मीनारें हैं। मुस्लिम, कम-से-कम भारत में तो विजित हिन्दू-भवनों को मस्जिद के रूप के उपयोग में लाने हेतु उन भवनों को सफ़ेदी करने के अभ्यस्त हैं। फिर उस 'सफ़ेद' मस्जिद के 'काली' नाम होने का कारण क्या है? उत्तर बहुत सहज, सरल है। काली भगवान् शिव की शक्ति, एक हिन्दू देवी का नाम है जो क्षत्रियों अर्थात् भारत के शासक-वर्ग द्वारा आराध्या रही है। जब उस काली मन्दिर को आक्रमणकारी मुस्लिमों ने अपने अधिकार में कर लिया, तब उसका नाम 'काली मस्जिद' रख दिया गया। अतः यदि कोई व्यक्ति 'पुरानी दिल्ली' की अति घुमावदार गलियों में घूमे-घामे, वहाँ की छान-बीन करे, तो अभी भी इसकी असंदिग्ध जगहों पर अति प्राचीन हिन्दू-भवन प्राप्त हो सकते हैं। वे महाभारतकालीन युग की हिन्दू वास्तुकला के अति दुर्लभ नमूने हैं, चाहे दुर्भाग्यवश वे आजकल मस्जिदों और मकबरों के नाम से ही जाने जाते हैं। प्रसंगवश यह भी कह दिया जाय कि इसके चारों ओर फ़क़ीरों आदि के रूप में आश्रितों की भाँति रहने वाले व्यक्ति भी उन हिन्दू धर्म-परिवर्तितों के वंशज हैं जो उन हथियाये गये मन्दिरों के पुजारी अथवा अन्य सेवकों के रूप में उससे सम्बन्धित थे।

आइये, हम अब उस गली से बाहर आ जाएँ और तुर्कमान दरवाज़े की ओर पीठ करके उसी सँकरी गली में आगे बढ़ें। उस दरवाजे से लगभग एक मील अन्दर की तरफ, तंग गलियों के अन्दर जाकर, भारी दीवारों का बिना छत का एक विशाल कमरा मिलता है जहाँ सुलतान रजिया और उसकी बहन दफ़न की हुई पड़ी हैं। चूँकि वे पुरानी दिल्ली की भीड़-भाड़ पूर्ण गलियों में एक छत-विहीन प्राचीन भवन के अन्दर दफ़नायी हुई पड़ी

हैं, इसलिए यह विश्वास करना क्या बेहूदगी नहीं है कि शाहजहाँ ने पुरानी दिल्ली की स्थापना की थी ?

शाही पारिवारिक अन्तर्कलहों की युगों पुरानी मुस्लिम परम्परा में ही सुलतान रज़िया को निर्दयतापूर्वक क़त्ल कर दिया गया था। उसकी मृत्यु से कुछ दशक पूर्व ही दिल्ली में मुस्लिम शासन स्थापित हो पाया था। चूँकि वह एक भीड़भाड़पूर्ण बस्ती के एक विशाल भवन में दफ़नायी पड़ी है, इसलिए स्पष्ट है कि १३वीं शताब्दी के प्रारम्भ में इस्लामी शासन के आगमन के समय भी अपनी घुमावदार गलियों के साथ ही यह प्राचीन दिल्ली नगर विद्यमान था, और इसी कारण यह एक प्राचीन हिन्दू नगर होना सिद्ध है। यह अति लघु विवरण उस मान्यता को पूरी तरह अस्वीकृत, निरस्त कर देता है जिसके अनुसार कहा जाता है कि शाहजहाँ ने १७वीं शताब्दी में पुरानी दिल्ली की स्थापना की थी।

हमारे अपने ही युग में प्रचलित, अज्ञानी ब्रिटिश कर्मचारियों द्वारा प्रसारित एक जन-विश्वास के अनुसार दिल्ली की सात नगरियाँ थीं। यह एक भयंकर भूल, घोर त्रुटि है। बहुत सारी अन्य प्राचीन भारतीय नगरियों के समान ही दिल्ली भी सात दीवारों से घिरी हुई थी। पहली दीवार वह है जिसमें दिल्ली दरवाजे से कश्मीरी दरवाजे तक फैली—पुरानी दिल्ली बसी हुई है। दूसरी दीवार में अशोक का वह राजमहल परिवेष्टित था जिसे आजकल 'फ़िरोजशाह कोटला' नाम से पुकारते हैं। उस दीवार की बाह्य-रेखा उस तथाकथित विशाल 'खूनी' द्वार से पहचानी जा सकती है जो सम्राट् अशोक के राजप्रासाद के बाहर राजमार्ग पर टेढ़ा खड़ा है। तीसरी दीवार वह थी जिसमें इन्द्रप्रस्थ सम्पत्ति (ऐस्टेट) नामक क्षेत्र सम्मिलित था, जहाँ आजकल 'इण्डियन इंस्टीच्यूट ऑफ़ पब्लिक एड्मिनिस्ट्रेशन', महा-लेखाकार का कार्यालय आदि भवन स्थित हैं। चौथी दीवार 'पुराने क़िले' के निकट से जाती थी। नेशनल स्टेडियम को जाने वाले एक विशाल प्रवेशद्वार सहित उस दीवार के ध्वंसावशेष सफ़ेद और लाल हिन्दू नमूनों-युक्त प्राचीन हिन्दू मान-प्रतिष्ठा सहित अभी भी देखे जा सकते हैं। पाँचवीं दीवार में वे ध्वंसावशेष घिरे हुए थे जिनको हम आज निज़ामुद्दीन के मकबरे के चारों ओर फैले हुए देखते हैं। छठी दीवार में विजय-मण्डल, हौज़ खास

और बेगमपुरी मस्जिद नाम से ज्ञात ध्वंसावशेष सम्मिलित थे। सातवीं दीवार में वे क्षेत्र स्थित थे जिनको आजकल कुतुबमीनार-संकुल, तुग़लकाबाद और सूर्यकुण्ड क्षेत्र कहते हैं।

भवनों और मन्दिरों से भरपूर, तथा विश्व की सर्वाधिक वैज्ञानिक और विकसित सामाजिक व राजनीतिक प्रणालियों की सृजना करने वाले धनी, समृद्ध और सुखी नागरिकों वाली, प्राचीन हिन्दू भारत की भव्य सुविस्तृत महानगरी दिल्ली—इतनी अधिक व्यापक फैली हुई थी।

इसी के भीतर हज़ारों खम्भों वाले राजमहल भी थे जिनके सन्दर्भ पूर्वकालिक मुस्लिम राज्यों के तिथिवृत्तों में प्राय: मिल जाते हैं। लाल महल और चौंसठ-खम्भा जैसे अन्य भवन भी थे जिनके कुछ भागों को आज भी तथाकथित निज़ामुद्दीन के मकबरे के पास देखा जा सकता है। जिनको आज हुमायूँ और सफदरजंग के मकबरे के रूप में विश्वास किया जाता है, वे भी प्राचीन हिन्दू राजमहल हैं।

प्राचीन भारत में नगरों और ताल्लुकों की प्राय: एक अटूट शृंखला थी जो उत्तर से दक्षिण की ओर फैले हुए थे। हम ज्यों-ज्यों दक्षिण की ओर जाते हैं, हमें तथाकथित तुग़लकाबाद, बल्लभगढ़, छत्रपुर, कोसी कलाँ, डीग, भरतपुर, कुम्हेर, गोवर्धन, गोकुल, मथुरा, वृन्दावन, काँकरौली, नगरचैन, सिकन्द्रा, आगरा, किरौली, कन्वाहा, फ़तहपुर सीकरी एक अटूट सातत्य, शृंखला में ही मिलते हैं।

प्राचीन दिल्ली में (दाहकर्म के लिए) निगमबोध घाट से लेकर (प्राचीन हिन्दू राजकुलीन वैभव की स्मृति दिलाने वाले) राजघाट तक नदी-घाटों की एक अटूट गौरवशाली शृंखला थी। किन्तु मुहम्मद-बिन-कासिम से बहादुरशाह ज़फ़र तक विदेशी आक्रमणों और धावों की हज़ार-वर्षीय अवधि में इन सभी नगरियों और नदीघाटों, राजकीय भवनों और मन्दिरों को खण्ड-विखण्ड, ध्वस्त अथवा अस्तित्त्वहीन कर दिया गया था। अत: इस धारणा को त्याग देना चाहिये कि दिल्ली कुछ मुस्लिम उप-नगरियों का एक समूह है। इसके स्थान पर, यह स्मरण रखना चाहिये कि प्राचीन दिल्ली कम-से-कम सूर्यकुण्ड से कश्मीरी दरवाजे तक—स्थूल रूप में लगभग सोलह मील फैली हुई थी। यह विशाल महानगरी निरन्तर इस्लामी

आक्रामक धावों के कारण यत्र-तत्र एकाकी बस्ती अथवा ध्वस्त क्षेत्र वाली हो गई थी। किन्तु वे ध्वंसावशेष आज भी निष्पक्ष, विवेकी व्यक्तियों को प्राचीन हिन्दुओं के यश-गौरव, धन और शक्ति की तथा उनकी नगर-योजना एवं सुरक्षा-प्रणाली की गौरवावस्था का दर्शन करा सकते हैं।

यह जन-विश्वास निराधार है कि दिल्ली में मात्र पुराना क़िला ही पाण्डव-काल से सम्बन्धित है। कुरुवंश के राजघराने में १०० कौरव, पाँच पाण्डव राजकुमार, अनेक वयोवृद्ध ज्येष्ठ सम्बन्धी-गण, पत्नियाँ, राजकुमारियाँ, और विपुल संख्यक परिचर थे। ये सभी मात्र पुराने क़िले में ही सीमित नहीं रह सकते थे। अतः प्राचीन ध्वंसावशेषों से सर्वत्र भरा-पड़ा दिल्ली का सम्पूर्ण क्षेत्र ही महाभारत-काल से सम्बन्धित है।

दिल्ली का लालकिला हिन्दू लालकोट है

दिल्ली के लालक़िले में प्रकाश एवं ध्वनि कार्यक्रम का चमत्कार देखने के लिए टिकट खरीदने वाले व्यक्ति अनजाने ही इस तथ्य से अनभिज्ञ रहते हैं कि उनको तो इस क़िले की कथा का मात्र एक अंश ही दिखाया जा रहा है, और इसलिए उनकी व्यय की गई धनराशि का उनको पूर्ण प्रतिफल मिल नहीं रहा है।

यह चमत्कारी प्रदर्शन उसी घिसे-पिटे कथन से प्रारम्भ होता है कि पाँचवीं पीढ़ी के मुग़ल सम्राट् शाहजहाँ ने इस लालक़िले को १७वीं शताब्दी में बनवाया था। यह तो ऐतिहासिक भयंकर भूल है। लालक़िला तो शाहजहाँ से शताब्दियों पूर्व भी अस्तित्व में था, विद्यमान था।

जनरल कनिंघम ने, जिसे भारत में पुरातत्त्वीय सर्वेक्षण का आयोजन कार्य सर्वप्रथम सौंपा गया था, यह पूर्व अनुमान करके मूल, प्रारम्भिक गलती कर डाली कि भारत में स्थित सभी मध्यकालीन भवन मुस्लिम आक्रमण-कारियों द्वारा बनवाये गये थे।

परवर्ती इतिहास-लेखकों ने उपर्युक्त अनुमान को अन्धाधुन्ध दोहराया है, बिना यह अनुभव किए ही कि ये सभी अनुमान मात्र जनरल कनिंघम की धारणा पर ही आधारित हैं। लालक़िले के इतिहास से दृश्यमान हो जाता है कि इस प्रकार की पूर्व-धारणाएँ कितनी भयंकर और भ्रामक हो सकती हैं, विशेषकर तब जब वे हिन्दुस्तान के भवनों से सम्बन्धित हैं जिनका निर्माण-श्रेय एक विदेशी द्वारा अन्य विदेशियों को दिया जाता है। जनरल कनिंघम ने खिलजियों और तुगलकों को निर्माण-श्रेय दिया है।

कनिंघम के 'मेरे विचार' आधार को ऐतिहासिक शोधकार्य में तबतक कोई स्थान नहीं मिलना चाहिये जबतक यह 'विचार' प्रबल साक्ष्य और

सशक्त तर्कों से समर्थित, पुष्ट न हो। यह कुछ करना तो दूर, कनिंघम ने अपने रूढ़िवादी निष्कर्षों को अनिवार्य 'यदि' और 'किन्तु' 'परन्तु' से भर दिया है। अपने प्रतिवेदन के पृष्ठ १५२ पर उसने लिखा है : "**यदि** इस प्रकार लालक़िले का स्थान अनंगपाल की स्थिति से निश्चित किया जाय, साथ ही लौह-स्तम्भ का भी ध्यान रखा जाय, तब महान् भव्य प्राचीन क़िला जो अब कुतुबमीनार के चारों ओर फैला हुआ है, **पूरी सम्भावना** है कि वही लालकोट है जो अनंगपाल द्वारा बनवाया गया था।" यह अवतरण पाठक को उस अत्यन्त संदिग्ध और अस्थिर धारणा का दिग्दर्शन कराने में पर्याप्त होना चाहिये जिसपर भारतीय पुरातत्त्व और इतिहास मूलरूप में आधारित हैं। जनरल कनिंघम की अयुक्तियुक्त मीमांसा इस तथ्य से और भी स्पष्ट हो जाती है कि यद्यपि दिल्ली में एक भवन 'लालक़िला' नाम से ज्ञात है, फिर भी वह इसको अन्यत्र खोजता रहा है। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि दिल्ली में लालक़िले का स्थल छान-बीन लिया जाय।

सर्वप्रथम, हमको यह स्मरण रख लेना चाहिये कि 'लालक़िला' शब्दा-वली लालकोट शब्द का यथार्थ, परिपूर्ण अनुवाद है। स्मरण रखने वाली दूसरी बात यह है कि दिल्ली में प्राचीन भवन एक ही है जिसे दृष्टिगोचर कर लालकोट कहा जा सकता है। वह यही लालक़िला है। अन्य कोई ऐसा भवन नहीं है जिसपर यह विवरण पूरा खरा उतरता है।

जनता को यह भी बताया गया है कि शाहजहाँ के शासनकालीन दरबारी कागज-पत्रों में उपलब्ध ऐसा एक भी टुकड़ा नहीं है जो शाहजहाँ द्वारा लालक़िला निर्माण करने के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का भ्रम उत्पन्न करता हो। यदि शाहजहाँ ने क़िले का निर्माण किया होता, तो भूमि-अधिग्रहण, इसका सर्वेक्षण, क़िले के रूप-रेखांकन, और दैनंदिन मँगाये गये सामान आदि के देयकों और प्राप्तियों से सम्बन्धित कागज-पत्रादि भी तो उपलब्ध होते !

लालक़िले के भीतरी भाग में बहुत सारे इस्लामी शिलालेखों की भर-मार है, किन्तु उनमें से किसी में भी शाहजहाँ द्वारा कुछ भी निर्माण करने का दावा नहीं किया गया है। ये सभी शिलालेख ऊल-जलूल, असंगत उत्कीर्णांश हैं जो वैसे ही हैं जैसे भ्रमणकर्ता लोग अन्य व्यक्तियों के भवनों

को अपने नाम, स्थान आदि लिखकर विद्रूप कर देते हैं। उदाहरण के लिए हम एक शिलालेख प्रस्तुत करते हैं जिसमें कहा गया है : "ईश्वर महान् है, ईश्वर पावन है। वे रंग-बिरंगे भवन और आवास कितने सुन्दर हैं। (वे) उच्चाकाश का भाग हैं। मेरा कहना है कि उच्चात्मा देवदूत उनपर दृष्टि-पात करने के इच्छुक हैं।" आदि-आदि। शिलालेख में ऐसी ही बहुत सारी बातें अंकित हैं। क्या वास्तविक निर्माता अपनी सम्पत्ति को ऐसी व्यर्थ की लिखावटों से विद्रूप भद्दा करते हैं ?* क्या कोई निर्माता स्वामी का नाम, निर्माण-तिथि, मूल्य और निर्माण-प्रयोजन को अंकित करने वाला शिलालेख नहीं लगवायेगा, यदि उसे कुछ लिखवाकर प्रदर्शित करना ही है ? किन्तु भारत में इस्लामी शिलालेख ये कुछ नहीं करते।

हम यहाँ विशिष्ट-आगन्तुक-महाकक्ष अर्थात् दीवाने-खास में अंकित पद को प्रस्तुत करना चाहते हैं। इसमें कहा गया है : "यदि धरती पर कहीं स्वर्ग है, तो वह यहीं है, यहीं है।" वह पद यहीं अकस्मात् समाप्त हो जाता है। पाठक को कुछ भी नहीं बताया जाता कि भवन को स्वर्ग बताने वाला कौन है, किसने इस भवन को बनवाया था, कब और कितना धन इसमें खर्च हुआ था।

लालक़िले के दर्शनार्थी यह भी ध्यान में रखें कि आरामगाह उपनाम खास महल उपनाम ख्वाबगाह नामक केन्द्रीय भाग में प्राचीन हिन्दू राज-चिह्न अभी भी बना हुआ है जिसे कोई भी देख सकता है। इसमें ऊपर बनी एक मेहराब के ऊपर देदीप्यमान सूर्य का एक बड़ा प्रतिबिम्ब समाविष्ट है। इसके दोनों पक्षों में पवित्र हिन्दू अक्षर 'ऊँ' है।

मेहराब के ठीक नीचे एक फलक है जिसमें सूर्य के अनेक छोटे-छोटे प्रतिबिम्ब चित्रित हैं। उनके मध्य न्याय-तुला है। न्याय-तुला की तुला का केन्द्रीय-दण्ड हिन्दू कमल-नाल से निकल रहा है। कमल-नाल स्वयं पावन हिन्दू कलश (कुम्भ) पर स्थित है। कलश के ठीक नीचे तलवारों के फलक का एक युग्म है जो मूँठ-से-मूँठ भिड़ाकर रखा गया है—फलक ऊपर कोष्ठक के रूपों में मुड़ते हुए तुला को बीच में ले लेते हैं। हिन्दुओं के लिए अति पवित्र चार शंख उस स्फटिक फलक में देखे जा सकते हैं। इनमें से दो तलवारों की नोंकों के पास हैं, और अन्य दो फलक-आधार के पास दायें-बायें कोनों में हैं।

खास महल की छत से वर्षा का पानी बाहर निकालने के लिए बनी नालियों के मुख वराह, मत्स्य तथा ऐसे ही पशुओं की आकृतियों के बने हुए हैं। यह एक विशिष्ट हिन्दू-पद्धति है जो मुसलमानों द्वारा मूर्तिपूजक समझी जाती है। यह भी सिद्ध करता है कि लालक़िला और इसके भीतरी भाग हिन्दुओं द्वारा और हिन्दुओं के लिए ही बनाये गये थे।

इससे हमें इतिहास-शोध का एक दुर्बोध धोखा और निपट सरल मूढ़ता ज्ञात हो जाती है। ऊपर जिस तलवार-फलक का हमने हवाला दिया है, उसे सदैव इस्लामी अर्द्ध चन्द्र कहकर जनता को धोखा दिया गया है। अतः हम फोटोग्राफ़रों, कलाकारों, दर्शकों, पर्यवेक्षकों, इतिहासकारों और पुरातत्त्वज्ञों से अनुरोध करते हैं कि वे सैकड़ों की संख्या में लालक़िले में जाएँ और इस फलक को दुबारा इसलिए देखें कि तथाकथित अर्द्ध चन्द्र तलवारों का जोड़ा है, जिसकी मूँठें स्पष्टतया दर्शनीय हैं। उनको सन्तुष्टि हो जायेगी। इससे क़िले की शाहजहाँनी कथा का भण्डाफोड़ हो जाता है क्योंकि वह कल्पित अर्द्ध चन्द्र ही, आद्यतन, क़िले के मुस्लिम-निर्माता होने के प्रबल प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जाता रहा है। इसके विपरीत, हमने ऊपर अनेक ऐसे हिन्दू-प्रतीक-चिह्नों की विद्यमानता उस फलक में इंगित की है जो इस्लामी लेश-मात्र भी नहीं हैं।

तस्बीहख़ाना और तोशाखाना जैसी इस्लामी शब्दावली को बलात् क़िले पर थोपने के अथक प्रयत्नों की शताब्दियों के बावजूद क़िले के भीतरी भागों के साथ प्राचीन हिन्दू शब्दावली ज्यों-की-त्यों संलग्न है। अभी तक प्रचलित प्राचीन हिन्दू शब्दावली है—रंग महल, छोटा रंग महल, शीशमहल, भाद्रपद (भादों), श्रावण (सावन) महल, मोती महल, रूप्यमहल, हीरा महल। लाहौरी दरवाज़े के अन्दर दुकानों वाला (संस्कृत 'छत्र' से) छत्ता (बाजार), केशर-कुण्ड (मुसम्मन जैसे अशुद्ध रूप में उच्चरित) मान-सम्मान बुर्ज आदि-आदि। मोती महल, रूप्यमहल और हीरा महल तो नाम को ही शेष बचे हैं। वे सब मुस्लिम आक्रमणों और परवर्ती अत्याचारी मुस्लिम-शासनकाल में नष्ट हो गये।

तुला वाला हिन्दू राजचिह्न जिस राजोचित भाग में है उसी के कक्ष-द्वारों पर गजमस्तक बने हुए हैं जिनपर महावत बैठे हैं। यदि मुस्लिमों ने

लालक़िला बनवाया होता तो उन्होंने कमरों के दरवाजों के कुण्डों पर मूर्ति-पूजक महावतों वाले गज-मस्तक कभी न बनवाये होते। इसी प्रकार की जीविताकार गज-प्रतिमाएँ दिल्ली-दरवाजे के दोनों ओर बनी हुई हैं। दर्शकों को दिल्ली-दरवाजे से प्रवेश की अनुमति नहीं है, किन्तु इस द्वार से बाहर निकल सकते हैं, तथा उसी समय इन हाथियों को देखा जा सकता है। इन गज-प्रतिमाओं का निर्माण ब्रिटिश वायसराय लार्ड कर्जन द्वारा उस समय कराया गया था जब उसे ज्ञात हो गया कि मूल हिन्दू गज-प्रतिमाओं के १२५ टुकड़े करके क़िले के भीतर भूमि में गाड़ दिये गये थे। मुग़ल शासनावधि में पधारे फ्रांसीसी प्रवासी बर्नियर के अनुसार वे हिन्दू-गज प्रतिमाएँ 'हाथी पोल' दरवाजे पर नगाड़खाने के बाहर दोनों ओर दायें-बायें खड़ी थीं जहाँ आज सन् १८५७ ई० के स्मृति चिह्न संग्रहीत हैं।

क़िले की वास्तुकला पूर्णत: हिन्दू है। इसके गुम्बंद सबके सब, पुष्पाच्छादित हैं। प्राचीन अयोध्या-नगरी के समान ही यह क़िला अनियमित अष्टकोणी निर्माण है। इसकी बुर्जें, छतरियाँ और कलशें सभी अष्टकोणी हैं। केवल हिन्दू लोगों में ही आठ दिशाओं के नाम हैं। उन्हीं लोगों ने इन आठों दिशाओं के आठ दिक्पाल निश्चित किये हुए हैं—वे सभी अलौकिक हैं। इस प्रकार अष्टकोणी आकृति का हिन्दू परम्परा में एक विशेष महत्त्व, माहात्म्य है। हिन्दू देवताओं और सम्राटों का दसों दिशाओं में प्रभुत्व, आधिपत्य माना जाता है।

प्रत्येक भवन का शिखर आकाश—स्वर्ग की ओर, और इसकी नींव पाताल लोक की ओर इंगित करते हैं। अत: यदि कोई भवन अष्टकोणी बनता है, तो यह स्वत: दसों दिशाओं का परिचायक होता है जो हिन्दू परम्परा में अति संगत बैठता है।

लालक़िले के पिछवाड़े पुल से सम्बन्धित एक किलेबन्दी वाला मोरचा है जो यमुना नदी के साथ मिलता है। किले का वह भाग सलीमगढ़ कहलाता है। चूँकि सलीम शाहजहाँ का पिता था इसलिए उसका नाम क़िले से जुड़े होना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि यह लालक़िला शाहजहाँ के पिता के समय में भी विद्यमान था। क़िले के भीतर मोती मस्जिद का निर्माण-यश शाहजहाँ के बेटे औरंगजेब को दिया जाता है। यही तथ्य, कि घोर धर्मान्ध

शाहजहाँ ने भी स्वयं किसी मस्जिद का निर्माण नहीं कराया था, सिद्ध करता है कि वह क़िले में बलात् रहने लगा था—किसी भी प्रकार इसका निर्माता नहीं था। अन्यथा उसने क़िले के भीतर ही किसी मस्जिद को तो बनवाया होता।

एक अन्य प्रमाण जो प्रलेखात्मक है—शाहजहाँ के काल का चित्र होना है। बोड़लियन पुस्तकालय, आक्सफोर्ड में सुरक्षित रखे इस चित्र में, उसमें दिये गये शीर्षक के अनुसार, शाहजहाँ को दिल्ली के लालक़िले में बने दीवाने-आम कक्ष में सन् १६२८ ई० में फ़ारसी राजदूत का स्वागत करते हुए दिखाया गया है। उसी चित्र की प्रतिकृति 'इलस्ट्रेटेड वीकली ऑफ इण्डिया' के मार्च १९७१ के अंक में प्रकाशित है। चूँकि शाहजहाँ राजगद्दी पर सन् १६२८ ई० के फरवरी मास में बैठा था, इसलिए वह फ़ारसी राजदूत का स्वागत लालक़िले में उसी वर्ष में नहीं कर सकता था, यदि क़िला उससे पूर्व विद्यमान न रहा होता।

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'हर्ष चरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन' शीर्षक अपनी पुस्तक में विशद-विवरणों सहित ऐसे चित्र प्रकाशित किये हैं जिनसे सिद्ध होता है कि लालक़िले के भीतर बने हुए राजकीय आवासीय भाग उसी पद्धति पर बने हुए हैं जिस पद्धति पर संस्कृत साहित्य (प्राचीन) में वर्णित भवन हिन्दू सम्राटों के लिए बनते थे।

संक्षेप की दृष्टि से, बिना विशद व्याख्या के ही हम अब अन्य अनेकानेक प्रमाणों का उल्लेख करेंगे। हिन्दू सूर्य-चिह्न सबसे बाहरी द्वार से लेकर सर्वाधिक भीतरी भाग तक सम्पूर्ण क़िले में उत्कीर्ण है। इतना ही नहीं, तथाकथित मोती मस्जिद की भीतरी संगमरमर की दीवारों के ऊपरी भाग में भी हिन्दू सूर्य चित्रित है। ठोस स्वर्ण का, इसी प्रकार का सूर्य-चिह्न उदयपुर के महाराणा के राजमहल मे सुशोभित है। इस तथाकथित मोती मस्जिद में (जो मुस्लिम-पूर्वयुग में क़िले का निर्माण करने वाले हिन्दू राजवंश द्वारा निर्मित हिन्दू मोती मन्दिर था) प्रवेशद्वार के भीतर मेहराब के ऊपर परम्परागत पाँच फलों का समूह दो स्थानों पर रखा हुआ है। ये पंचफल ईश्वर को नैवेधम, अथवा प्रसादम् के रूप में भेंट किये जाते हैं।

आज से लगभग एक शताब्दी पूर्व श्री ए० के० फोर्बेस द्वारा लिखित 'रसमाल' पुस्तक में उस शिलालेख का सन्दर्भ है जिसमें उल्लेख है कि हिन्दू सम्राट् अनंगपाल ने दिल्ली का लालकोट—लालक़िला ११वीं शताब्दी में बनाया था। यह सम्पूर्ण समस्या का समाधान कर देता है।

प्रेमी और वास्तुकला-विशारद

बम्बई से प्रकाशित, कला और संस्कृति की 'मार्ग' नामक पत्रिका के पुराने अंकों को देखते समय मेरा ध्यान अकस्मात् एक लेख के श्रृंगारी और क्षोभकारी शीर्षक की ओर आकर्षित हो गया। शीर्षक था, 'शाहजहाँ—प्रेमी और वास्तुकला-विशारद।'

एक दृष्टि से देखा जाय तो उस शीर्षक में कोई विशेष बात नहीं थी क्योंकि लगभग पिछली तीन शताब्दियों तक प्राय: इसी प्रकार की बातें अन्य बहुत सारे लोगों ने भी लिखी हैं जिनका निहित भाव यह रहा है कि कम-से-कम भारत में शाहजहाँ और कदाचित् प्राय: प्रत्येक मुस्लिम शासक स्वयं न केवल कला, शिक्षा और श्रृंगार का एक महान् संरक्षक ही रहा है, अपितु एक ऐसा निपुण वास्तुकलाविद हुआ है जो पलक झपकते ही और अत्यन्त सरलता से अपनी पेंसिल की दो-चार रेखाओं के इधर-उधर घुमाने-हिलाने मात्र से ही ऐसे आश्चर्यकारी भवनों के रूप-रेखांकन चित्र बना सकते थे मानो किसी अत्यन्त श्रेष्ठ वास्तुकलाकार ने बनाए हों, जिसमें अपनी कला-कौशल का प्रदर्शन किया गया हो और जिसे देखकर उच्चतर वास्तुकला के प्रारम्भिक छात्रों तथा नौसिखियों के समूह को लज्जित होना पड़े—उनका सिर नीचा हो जाये।

यही सबकुछ बात नहीं है। जैसाकि शीर्षक से प्रतीत होता है, निहितार्थ यह है कि शाहजहाँ (और इसी प्रकार प्रत्येक मध्यकालीन मुस्लिम शासक) अपने असंख्यक हरम के एक या अधिक कोमल-कमनीय तथा आलिंगनीय साथी के साथ रंग-रलियाँ करते समय भी भवनों के मानचित्र तैयार कर सकता था। इतिहास में इस बात की भी साक्षी दी हुई है कि वे मध्यकालीन इस्लामी शासक—उमराव-मीर-बादशाह आदि अत्यधिक तेज़, उन्मादकारी

शराब पीते थे और पोस्त व अन्य नशीली वस्तुओं का अति उदारतापूर्वक सेवन करते थे।

वे इस्लामी शहंशाह लोग या तो नितान्त निरक्षर थे अथवा अधिक-से-अधिक कुरान की कुछ पंक्तियों को ही समझने की योग्यता उनमें उत्पन्न कर दी गई थी—यह वह तथ्य है जिसका उपयुक्त लेखा-जोखा इतिहास, कला और वास्तु-विद्या के इन गोबर-गणेश लेखकों ने करने का कभी यत्न नहीं किया है।

स्पष्ट है कि उन लोगों ने अपनी ऊल-जलूल कल्पनाओं के भयावह, अलौकिक, ऊट-पटाँग निहितार्थों की ओर ध्यान नहीं दिया है जिन्होंने एक ही समय प्रेमी और वास्तुकला-विशारद के रूप में अत्यधिक प्रभावी पात्र होने का अभिनय करने के लिए शाहजहाँ और अन्य मध्यकालीन मुस्लिम राजघराने की प्रशंसा की है। मैं उनको 'ऊल-जलूल' कल्पनाएँ कहता हूँ क्योंकि किसी भी मध्यकालीन मुस्लिम शासक द्वारा अथवा उसकी ओर से किया गया एक भी तत्कालीन, आधिकारिक ऐतिहासिक दावा नहीं है जिसमें कहा गया हो कि वह मुस्लिम व्यक्ति माना हुआ, निपुण वास्तुकलाविद था। इसलिए अत्यधिक मद्यप और नशीली वस्तुओं के सेवन से अत्यधिक धुत्त, भोगा-सक्त, मध्यकालीन मुस्लिम शहंशाहों को आश्चर्यकारी, विरले वास्तुकला-विशारद कल्पना करने का इन लेखकों का एक ही आधार था—अफ़वाह अथवा कही-सुनी बात।

भारतीय मध्यकालीन कला, वास्तुशिल्प, इतिहास और संस्कृति के अध्ययन की घोर विडम्बना इसी एक तथ्य से स्पष्ट रूप में प्रदर्शित हो जाती है कि महत्त्वपूर्ण विषयों के मूलाधारों को सत्यापित किये बिना, परखे बिना ही इतिहास-लेखकों अथवा वास्तुकला-विशारदों के रूप में यश-प्रतिष्ठित व्यक्ति व्यावसायिक क्षेत्र के लेखकों के रूप में गम्भीर, व्यावसायिक पत्रि-काओं अथवा विश्व-संरक्षण प्राप्त उच्च-स्तरीय पुस्तकों में उपर्युक्त प्रकार के लेख प्रकाशित कराते रहे हैं। यह इस बात का भी द्योतक है कि न केवल भारत में ही, अपितु समस्त विश्व में जहाँ भी कहीं भारतीय इतिहास और भारतीय-विद्या का अध्ययन व प्रशिक्षण किया जाता है, वहाँ की पाठशालाओं, महाविद्यालयों और उच्च-शिक्षा संस्थानों में इन विषयों के

बारे में कितनी घोर उपेक्षा-वृत्ति और तटस्थता, उदासीनता अपनायी जाती है।

मुझे आश्चर्य होता है कि क्या कोई ऐसा वास्तुकला-विद्यालय भी होगा जो श्रृंगार और वास्तुकला के बारे में शाहजहाँ की यशोपलब्धि का अध्ययन करने वाले अपने भावी छात्रों को वार्षिक उपाधि-वितरण समारोह में ठीक शाही शाहजहाँ की परम्परा में 'प्रेमी और वास्तुकला-विशारद' की सम्माननीय उपाधि देगा।

यदि वास्तुकला का कोई विद्यालय अपने स्नातकों को दी जाने वाली उपाधि में इस प्रकार का परिवर्तन करने को तैयार नहीं है, तो मैं विचार करता हूँ कि क्या इस कला का स्वयं प्रचार-प्रसार करने वाले व्यक्ति इतनी सावधानी बरतेंगे अथवा साहस दिखाएँगे कि अपने निवासस्थानों अथवा कार्यालय-परिसर के बाहर यह विज्ञापन-पट लगा लें—"श्री······, प्रेमी और वास्तुकला-विशारद।" यदि वास्तुकलात्मक प्रतिभा के साथ-साथ श्रृंगार गुण होने से शाहजहाँ की शान बढ़ती प्रतीत होती है, तो कोई कारण नहीं है कि व्यावसायिक वास्तुकलाकार के रूप में काम करने वाले छोटे-छोटे व्यक्तियों के व्यापार-कार्य में इस विज्ञापन-पद्धति से वृद्धि न हो।

शाहजहाँ को 'प्रेमी और वास्तुकला-विशारद' नाम से पुकारने का निहितार्थ यह है कि ज्ञान की सभी शाखाओं में से वास्तुकला शाखा मात्र ही इतनी अधोपतित और सीधी-सरल है कि श्रृंगारिक वृत्तियाँ निष्प्रयोजन न होकर वास्तुकलात्मक-निपुणता में सहायक हैं, और ताजमहल जैसे अत्यधिक अलंकृत, विशाल और भव्य भवनों के निर्माण के मानचित्र बनाने के लिए किसी व्यावसायिक प्रशिक्षण अथवा व्यावसायिक उपकरणों की भी आवश्यकता नहीं थी क्योंकि इतिहास में ऐसा उल्लेख कहीं नहीं किया गया है कि शाहजहाँ के अधिकार में कोई भवन-निर्माण रूपरेखांकन-उपकरण थे अथवा उसने शिल्पकला—वास्तुकला की कहीं कोई शिक्षा पायी थी। तथ्य तो यह है कि आगे यह भाव निहित हुआ है कि एक या अधिक महिलाओं से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध रखना किसी वास्तुकला के विद्यालय की शर्तें पूरी करने के समान है और इसीलिए, दोनों में से किसी भी एक पद्धति से व्यक्ति पूरा वास्तुकलाकार हो सकता है—उसकी क्षमता, योग्यता प्राप्त कर

सकता है। मुझे आश्चर्य होता है कि क्या वास्तुकला का प्रशिक्षण देने अथवा लेने वाले वास्तुकला का यथार्थ अध्ययन करने के स्थान पर इस प्रकार का कामुकतापूर्ण विकल्प स्वीकार करेंगे क्योंकि यही बात तो 'शाहजहाँ—प्रेमी और वास्तुकला-विशारद' का वर्णन करके प्रस्तुत की जा रही है तथा इसी बात को ताजमहल के बारे में लिखी गयी सभी प्रकार की रचनाओं में प्राय: अनुमान किया गया है अथवा विविध प्रकार से प्रस्तुत किया गया है।

फिर भी, यह जैसा भी है, प्रेमी और वास्तुकलाकार के रूप में शाहजहाँ के वर्णन का कोई आधार इतिहास में उपलब्ध नहीं है। उसे 'प्रेमी' की संज्ञा से विभूषित करने का जो निहित भाव है, वह यह है कि पति के रूप में शाहजहाँ अपनी पत्नी मुमताज़ के प्रति अत्यधिक पत्नी-निष्ठ था और उसका अन्य महिला/महिलाओं से कोई रति-सम्बन्ध नहीं था। किन्तु इतिहास इस बात के विरोधी सन्दर्भों से भरा पड़ा है। मुग़ल-हरमों के बारे में ज्ञात ही है कि उनमें कम-से-कम पाँच हज़ार महिलाएँ तो रहती ही थीं। इसके अतिरिक्त यह भी सर्वज्ञात ही है कि शाहजहाँ का अपने ही सम्बन्धियों की पत्नियों; यथा उसके साले शाइस्ता खान की पत्नी और खलीलुल्लाह खान जैसे दरबारियों की पत्नियों तथा जैसा बहुत सारे लोग सन्देह करते हैं, स्वयं उसकी बड़ी बेटी जहांनारा से भी अवैध शारीरिक सम्बन्ध था। उसकी अपनी शृंगारिक रँग-रलियों की कुछ झलक 'ताजमहल हिन्दू राजभवन है' शीर्षक पुस्तक में प्राप्त होती है।

उसी पुस्तक में स्पष्ट रूप से दर्शाया गया है कि जिन असंख्य भवनों के निर्माण का श्रेय शाहजहाँ को दिया जाता है, उसने तो उनमें से एक का भी निर्माण नहीं किया था। इसके विपरीत, उसके दरबार के अपने तिथिवृत्त अर्थात् 'बादशाहनामा' में उल्लेख है कि शाहजहाँ ने आदेश दिया था कि उसके राज्य में एक भी हिन्दू मन्दिर को बना हुआ खड़ा मत रहने दो। इसीलिए मात्र इलाहाबाद जिले में ही ७६ मन्दिर गिराये गये थे। ताजमहल भवन को भी जयसिंह से बलात् छीन लिया गया था—जैसा 'बादशाहनामा' के खण्ड I, पृष्ठ ४०३ पर दी गई आत्म-स्वीकृति से स्वयं सिद्ध है। अतः, ऐतिहासिक वर्णनों से छाँटकर यदि कुछ विशेषण शाहजहाँ के साथ जोड़ने

ही हों, तो 'प्रेमी और वास्तुकलाकार' न होकर 'अपहरणकर्ता और लम्पट', 'विध्वंसक और भ्रष्टकर्ता', 'यातनादाता और सूदखोर' और 'विद्रोही और धमन्धि' ही हो सकते हैं।

उपर्युक्त विशेषणों का उसके राज्य के वर्णनों में पर्याप्त आधार है क्योंकि ज्ञात ही है कि शाहजहाँ ने अपने पिता बादशाह जहाँगीर के विरुद्ध बग़ावत की थी, और शाहजहाँ का यह स्वभाव भी सभी लोगों को मालूम ही है कि वह भीषण दुर्दान्त यातनाओं का भय देकर पकड़े हुए ईसाइयों और हिन्दुओं को धमकाता रहता था, ताकि वे मुसलमान बन जाएँ।

मुमताज़ के प्रति शाहजहाँ के असीम प्रेम के कारण ताज का निर्माण होना मानना भी अयुक्तियुक्त और अनेक दृष्टियों से बेहूदगी है। सर्वप्रथम, किसी भी महिला के साथ सम्भोग की कामना पुरुष को निश्शक्त, असमर्थकारी और अयोग्य बनाने वाली प्रेरणा है। रति-शृंगार कभी भी किसी पुरुष में विशेष शक्ति उत्पन्न नहीं करता। पुरुष-स्त्री के प्रेमवश उत्पन्न होने वाली मात्र दो वस्तुएँ ही सर्वत्र ज्ञात हैं—लड़का अथवा लड़की। किसी भी हालत में कोई भवन नहीं। यह प्रारम्भिक मनोविज्ञान है, मानस-शास्त्र है। इसी प्रकार यह विश्वास करना भी एक अन्य बेहूदगी है कि शाहजहाँ ने मुमताज़ के मृत-पिण्ड पर तो सम्पूर्ण प्रेम बरसा दिया किन्तु उसके जीवित रहते उसके लिए कुछ भी नहीं किया। किसी महिला के जीवित रहते उसको लाड़-प्यार न करने वाला व्यक्ति उसी महिला की मृत्यु के बाद उसके शव के प्रति अत्यधिक उदार, द्रवीभूत नहीं हो जायेगा। साथ ही, ताजमहल के निर्माण के कारण यदि 'प्रेमी और वास्तुकला-विशारद' की उपाधि शाहजहाँ के लिए सर्वथा उचित समझी जाती है, तो क्या हमें उन मुस्लिम बादशाहों के लिए इसी प्रकार के अनेक विशेषण खोजने नहीं पड़ेंगे जिनके बारे में विश्वास किया जाता है कि उन्होंने औरंगाबाद में बीबी का मकबरा, सिकन्द्रा में अकबर का तथाकथित मकबरा और दिल्ली में सफदरजंग का तथाकथित मकबरा व अन्य बहुत-से भवनों का निर्माण कराया था। उदाहरण के लिए, किसी निःसन्तान विधवा हमीदा बानू को, जो बादशाह हुमायूँ के हरम की ५,००० महिलाओं में से एक थी, नितान्त असत्य रूप में, दिल्ली में विशाल भव्य हुमायूँ का मकबरा

निर्माण कराने का श्रेय दिया जाता है। तब क्या इतिहास में हमीदा बानू को भी 'प्रेमी और वास्तुकला-विशारद' के रूप में वर्णन नहीं किया जाना चाहिये ?

इसीसे हम दूसरे प्रश्न पर आ जाते हैं। मध्यकालीन मुस्लिम शाहज़ादियों, सुलतानों और दरबारियों को असंख्य मकबरे-समूह बनवाने के साथ-साथ असंख्य मस्जिदें बनवाने का भी श्रेय दिया जाता है। अपनी पत्नियों, अथवा अपने पतियों के लिए भव्य मकबरे बनवाने वालों को यदि 'प्रेमी और वास्तुकला-विशारद' कहकर पुकारना शोभनीय है, तो उन व्यक्तियों को भी, जिनके बारे में विश्वास किया जाता है कि उन्होंने अगणित मस्जिदों का निर्माण कराया था, 'प्रेमी और सन्त' अथवा 'प्रेमी-और वास्तुकलाकार', 'दिन में धार्मिक और रात में छिछोरे' अथवा 'नृत्य और सुन्दरी के प्रेमी' पुकारना शोभनीय नहीं है ? काल्पनिक 'प्रेमी और वास्तुकलाकार' शाहजहाँ की ध्वनि पर ही ऐसे अनेक विशेषण-युग्मों की कल्पना की जा सकती है।

वास्तुकला सम्बन्धी पाठ्यक्रम निर्धारित करने वाले और वास्तुकला-विशारद के रूप में योग्यता प्राप्त करने की महत्त्वाकांक्षा रखने वाले व्यक्ति भारतीय मध्यकालीन इतिहास के विद्वानों से यह पूछकर श्रेष्ठ कार्य ही करेंगे कि वे इस बात की विशद व्याख्या करें कि शाहजहाँ ने महिलाओं के प्रति आसक्ति को वास्तुकलात्मक अध्ययनों मे किस प्रकार जोड़ दिया था ! यदि ये दो विधाएँ एक-दूसरे की पूरक समझी जाती हैं, तो कोई कारण नहीं है कि इस भूतल के मूर्खतम, जड़ व्यक्ति द्वारा भी शैक्षिक अध्ययन को नीरस, कड़ी मज़दूरी क्यों समझा जाये ! अध्ययन की प्रत्येक शाखा को उतना ही शृंगारिक बनाया जा सकता था जितना विचार किया जाता है कि शाहजहाँ ने वास्तुकला के अध्ययन को शृंगारिक बना दिया था (अथवा उसका यही एकमात्र कार्य था ?)।

यह देखना शेष रह जाता है कि वास्तुकलाकार बनने की तीव्र इच्छा रखने वाली महिला क्या अपना शैक्षिक भविष्य उज्ज्वलतर बना सकती है यदि शृंगारिक भावना से एक या अधिक पुरुषों से मेल-मिलाप बढ़ाये। और चूँकि शाहजहाँ की सर्वज्ञात ५,००० रखैलें और इन्हीं के साथ-साथ

उसकी अनेकों हम-बिस्तर अन्य महिलाएँ भी थीं, इसलिए प्रायोगिक रूप में यह पता करना ज़रा जटिल परीक्षण होगा कि क्या किसी वास्तुकलात्मक आशावाद के लिए १ : ५००० का अनुपात ठीक होगा चाहे पुरुष हो अथवा महिला, अथवा इस पुरुष या महिला का काम कुछ कम या अधिक संख्या से चल सकता था ! कुछ भी हो, सही अनुपात निकालने वाले गणितज्ञों/सांख्यिकी-विशेषज्ञों का अच्छा व्यस्त समय व्यतीत हो जायेगा और सम्भवत: शाहजहाँ के स्तर का अथवा उससे भी बढ़िया आदर्श 'प्रेमी-वास्तुकला-विशारद' गुणी का सही आकलन पा सकने में उनका सम्पूर्ण जीवन ही समाप्त हो जायेगा।

इतिहास-लेखक और वास्तुकलाकार तथा सम्भवत: मात्र 'प्रेमी' लोग भी ऐसे गणितज्ञों/सांख्यिकी-विशेषज्ञों के साथ सम्बन्ध रखना स्वाभाविक रूप में ही पसन्द करेंगे जो शृंगारिक और वास्तुकलात्मक प्रशिक्षण की ऐसी सही स्थिति का ज्ञान उपलब्ध करने का परीक्षण करें जिससे आदर्श 'प्रेमी और वास्तुकलाविद' प्रकट हो सकें। यह एक अन्य विचारणीय बात हो सकती है कि 'प्रेमी और वास्तुकलाविद' होने के लिए शाहजहाँ के समान सीधा किसी बादशाही खानदान का होना आवश्यक होगा या कोई कंगाल व्यक्ति भी इस पद को प्राप्त करने की आशा कर सकता है !

एक अन्य विचारणीय प्रश्न यह भी होगा कि सुव्यवस्थित शृंगारिक वातावरण प्रदान करने के लिए वास्तुकलात्मक संस्थाओं में सह-शिक्षा का प्रबन्ध रहेगा अथवा अपनें अध्ययनों में शृंगारिक साहाय्य के लिए अपने संस्थागत कार्य के बाहर पूर्ण अथवा अंशकालिक समय हेतु छात्रों को स्वयं ही अपने शृंगारी साथी ढूँढ़ने होंगे।

'प्रेमी और वास्तुकलाकार' के रूप में शाहजहाँ का ऐतिहासिक निरूपण शैक्षिक पुनर्विचार और पाठ्यक्रम सम्बन्धी-सुधार के लिए नयी सम्भावनाएँ प्रस्तुत करता है। और यद्यपि इस तथ्य का इतने व्यापक रूप में अथवा प्राय: उल्लेख नहीं किया गया है कि भारत में प्रत्येक मुस्लिम सुलतान अथवा नवाब शाहजहाँ के समान ही निपुण, निष्णात 'प्रेमी और वास्तु-कलाकार' था, तथापि विद्यमान ऐतिहासिक पुस्तकों का निहितार्थ देखते हुए हमें ज्ञात होता है कि उन सभी लोगों के सम्बन्ध में मुक्त रूप से वर्णन

किया गया है कि उन सबों के संरक्षण में बड़े-बड़े हरम थे, वे सभी मादक-ओषधियों और तेज़ नशीले पदार्थों का भारी मात्रा में सेवन किया करते थे, तथा बड़ी-बड़ी संख्या में—अनायास ही मकबरों और मस्जिदों का निर्माण करा दिया करते थे। इस प्रकार, सभी शासक मुस्लिम खानदानों के सभी शाहजादे और शाहज़ादियाँ, कम-से-कम भारत में तो श्रेष्ठ 'प्रेमी और वास्तुकलाकार' सिद्ध होते हैं।

इस अटूट इस्लाम परम्परा से सन्नद्ध होने पर यदि कोई शिक्षा-सुधारक हमें 'प्रेमी और वास्तुकलाकार', 'प्रेमी और शिक्षक', 'प्रेमी और चिकित्सक', 'प्रेमी और विधि-वेत्ता', 'प्रेमी और यान्त्रिक', 'प्रेमी और अभियन्ता', और 'प्रेमी और विद्युत्-विशेषज्ञ' बनाने के लिए हमारे पाठ्य-क्रमों में परिवर्तन करने की तत्परता दिखाने पर नैतिक-आपत्तियों का उत्तर देने पर विवश किया जाता है, तो वह समर्थ सुधारक गर्व से चारों ओर देखकर उस नियम-निष्ठ व्यक्ति से कहेगा कि, "जाइए। और मुस्लिम व अंग्रेज़ विद्वानों और उनके अन्धे, मिश्रित अनुयायियों द्वारा तैयार किए गए मध्यकालीन भारतीय इतिहास के पाठ्य-ग्रन्थों को पुनः पढ़िये, तथा चुप हो जाइये।" यदि कोई व्यक्ति सोचता है कि अश्लील साहित्य, वेश्या-वृत्ति, मदिरा-पान अथवा मादक औषध-सेवन व्यक्ति के अध्ययन, या चरित्र या स्वास्थ्य या व्यावसायिक-पद को हानि पहुँचाता है, तो उसे चाहिये कि वह परम्परागत भारतीय इतिहास-ग्रन्थों का अध्ययन करे और ज्ञानार्जन कर लाभान्वित हो। व्यक्ति असीमित रूप में खान-पान कर सकता है, शराब पी सकता है, और शिथिल, क्लान्त हो सकता है, तथा फिर भी —इस सबके बावजूद अथवा इसी के कारण प्रसिद्धि प्राप्त कर सकता है। इसलिए, आइये, हम सब भी कहें—"धन्य हैं 'प्रेमी और वास्तुकलाकार' शाहजहाँ जो हमारे समक्ष, शुष्क शैक्षिक अध्ययनों को किंकर्तव्य-विमूढ़कारी शृंगार के साथ जोड़ने में, एक अनुकरणीय ज्वलन्त उदाहरण छोड़ गया है।"

अकबर के तथाकथित विवाह स्पष्ट रूप में अपहरण-काण्ड थे

भारत में तीसरी पीढ़ी के मुग़ल-शासक अकबर (सन् १५५६-१६०५) को बहुआ अवांछनीय रूप में प्रदर्शित किया गया है, और एक महान् व्यक्ति और सच्चरित्र शासक के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

उसके जीवन और चरित्र के प्रत्येक पक्ष का पूर्ण पुनर्विवेचन और मूल्यांकन आवश्यक है। वह वैसा देवदूत नहीं है जैसाकि उसे प्रस्तुत करने का यत्न किया जाता है। यहाँ मैं अकबर के जीवन और नियम के मात्र एक पक्ष की ही चर्चा करना चाहता हूँ, और वह है उसका वैवाहिक-कार्य, जिसको अभी तक अन्तर्सम्प्रदाय-सौहार्द्र और विचक्षण कूटनीति में गीति-स्वरसंगति और सर्वश्रेष्ठ निबन्धों के अति-प्रशंसित रूप में वर्णन किया गया है।

मैं, इस अध्याय में कुछ प्रतिनिधि, चुने हुए उदाहरणों की चर्चा करना चाहता हूँ। उनमें से कम-से-कम दो तो जघन्य, पूर्व-चिन्तित हत्याकाण्ड थे। एक अन्य ऐसा मामला था जिससे एक पति को इसलिए उत्तेजित कर शिकार पर भेजा गया था कि उसकी पत्नी को हथियाया जा सके। अन्य मामले अपहरणों के थे जो आतंक और भय-पद्धति पर आधारित सैनिक-पराधीनता द्वारा कार्यरूप में परिणत किए गये थे। इनके साथ ही कुछ ऐसे प्रयत्न भी थे जो विफल हो गये थे। उदाहरण के लिए, यदि गोंडवाना की राजकुमारी दुर्गावती ने युद्ध-क्षेत्र में मृत्यु का वरण नहीं किया होता, तो वह भी अकबर के हरम में अपनी जीवन-लीला समाप्त करती, और ऐसी स्थिति में अबुल फ़ज़ल जैसे चाटुकारों ने अपने अतिप्रशंसात्मक अकबरनामा में उसे एक विवाह के रूप में प्रस्तुत कर दिया होता।

अकबर के जिस वैवाहिक-सम्बन्ध की बहुत शेखी बघारी जाती है, वह जयपुर के शासक राजघराने से है, किन्तु वह कार्य भी अकबर के एक सैनिक-सरदार द्वारा राजा भारमल का पराभव करने के बाद सम्पन्न कराया गया था। वह व्यक्ति था शर्फ़ुद्दीन, जिसने भारमल के रजवाड़े पर आतंक और भय के अनेक आक्रमण किए थे। शर्फ़ुद्दीन जयपुर राजघराने के तीन राजकुमारों—खंगर, राजसिंह और जगन्नाथ को पकड़ पाने में सफल हुआ था। उनको साँभर में वन्दीगृह में रखा गया था और स्पष्टतया भीषण यातनाएँ देकर मार डालने की धमकी भी दी गई थी। उनकी ख़तरे में पड़ी ज़िन्दगी बचाने के लिए ही भारमल की कन्या का कौमार्य अकबर के हरम के द्वार पर बलि चढ़ाना पड़ा था।

डाक्टर आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव ने अपनी 'अकबर महान्' नामक पुस्तक के पृष्ठ ६१-६३ पर पर्यवेक्षण किया है : "कछवाह प्रमुख के समक्ष सर्वनाश उपस्थित था। इसीलिए, असहायावस्था में उसने अकबर द्वारा मध्यस्थता और उसके साथ समझौता स्वीकार कर लिया।" यही कारण था कि ज्यों ही निरीह, असहाय राजपूत कन्या का अर्पण किया गया, त्यों ही तीनों राजकुमारों को वन्दी-अवस्था से मुक्ति दे दी गई। डाक्टर श्रीवास्तव द्वारा यह भी उल्लेख किया गया है कि अकबर के आने पर दौसा और उसके निकटवर्ती क्षेत्रों के निवासी लोग भाग गये थे, जो सिद्ध करता है कि अकबर को शिकार की खोज में फिरने वाला चीता समझा जाता था, न कि किसी प्रेम-यात्रा पर पधारा मुस्कराता, सुकोमल-हृदय दूल्हा। उसे तो नृशंस युद्ध-पिपासु व्यक्ति के रूप में देखा जाता था जो मुग़ल-क्रूरता की दुष्टता में बन्दी बनाये गये तीन भाइयों के जीवन के बदले में उनकी बहिन, एक राजपूत कन्या का अपहरण करने के लिए क्रोधित होता हुआ चला आया था।

यहाँ यह भी ध्यान रखने की बात है कि साँभर न तो अकबर की और न ही जयपुर-शासक की राजधानी थी। ऐसा कोई सांसारिक कारण तो दिखायी नहीं देता था कि यह तथाकथित शाही-विवाह ऐसे निर्जन स्थान पर क्यों 'सम्पन्न' किया गया? कारण स्पष्टतया यह था कि तीन बन्दी राजपूत राजकुमारों की जीवन-मुक्ति का मूल राजकुमारी का कौमार्य था जो समर्पण करना पड़ा था।

उल्लेख योग्य एक अन्य तथ्य यह है कि अकबर अगले ही दिन फ़तहपुर सीकरी के लिए रवाना हो गया। साथ में वह समर्पित कन्या थी जिसे भाषा-रूप में 'वधू' कहते थे। कहने का भाव यह है कि कोई वैवाहिक उल्लास, चहल-पहल दृष्टिगोचर नहीं थी। अकबर के युग में तो विवाह की तैयारियाँ महीनों तक चला करती थीं। फिर इसमें क्या कारण था कि एक कन्या को प्राप्त करने के २४ घण्टे के भीतर ही अकबर साँभर को छोड़कर फ़तहपुर सीकरी चला गया ? इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि चाटुकार मुस्लिम तिथि-वृत्तकारों द्वारा घोषित तथाकथित विवाह-समारोह मनगढ़न्त कथाएँ हैं और तथाकथित विवाहोपहार जयपुर-राज्य और उसके तीन राजकुमारों को अकबर के चंगुल से छुड़ाने के लिए दी गई अतिरिक्त निष्कृति-राशि के सिवाय कुछ नहीं थे।

एक अन्य सूत्र यह है कि भारमल का कोई भी सम्बन्धी इस तथाकथित विवाह में सम्मिलित अथवा वहाँ पर उपस्थित नहीं था। इतिहास द्वारा हमें ज्ञात होता है कि भारमल के पुत्रों और अन्य सम्बन्धियों का, बाद में अकबर से परिचय रण-थम्भौर नामक स्थान पर कराया गया था। यह बिल्कुल स्वाभाविक ही था क्योंकि अत्यन्त मद्यप, लम्पट और कामुक विदेशियों के हाथों में अपनी महिलाएँ सौंपने के स्थान पर उनको अग्नि की भेंट चढ़ा देने वाले, जीवित ही जौहर की ज्वालाओं में प्राण होम देने वाले वीर राजपूतों को यह कर्म अत्यन्त तिरस्करणीय और शर्मनाक मालूम हुआ था।

दूसरा उदाहरण बैरम खान की विधवा सलीमा सुल्तान बेगम के साथ अकबर के तथाकथित विवाह का है। उस विधवा पर अकबर की बुरी नज़र शुरू से ही थी यद्यपि बैरम खान आयु में अकबर से ज्येष्ठ था और बालक अकबर को उसके राज-सिंहासन पर बैठाने में अनेक संकटों से उसके संरक्षक के रूप में कार्य करता रहा था। हुमायूँ की बहिन सलीमा बेगम की लड़की अकबर की निकट-सम्बन्धी बहिन थी।

अकबर के सम्बन्ध में अपनी पुस्तक के पृष्ठ ४१ पर डाक्टर आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव उल्लेख करते हैं कि बहुत पहले सन् १५५७ ई० में ही बैरम खान को उस समय अपने विरुद्ध षड्यन्त्र का सन्देह हो गया था जब एक दिन, मंकोट से वापसी पर, शाही हाथी बीमार बैरम खान के खेमे में दौड़ते

हुए घुस आये थे। उस समय से, बड़े उपयुक्त ढंग से बैरम खान को शनैः-शनैः शक्तिहीन किया गया, खुली लड़ाई में पछाड़ा गया, देश-निकाला दिया गया, अनहिलवाड़ पाटन तक उसका पीछा किया गया, उसके पीछे कुछ अफ़गानों को लगाकर उसे मरवा डाला गया। उसके तुरन्त बाद, उसकी पत्नी को अकबर के हरम में सम्मिलित होने के लिए बाध्य कर दिया गया।

यहाँ यह बात ध्यान रखने की है कि अकबर के हाथियों का बैरम खान के खेमे में भगदड़ करते हुए घुस आना इस बात का असंदिग्ध प्रमाण है कि सलीमा बेगम की बैरम खान के साथ शादी ने अकबर के शाही कोप को भडका दिया था। विन्सैंट स्मिथ ने 'अकबर, महान् मुग़ल' नामक अपनी पुस्तक के पृष्ठ ३०-३१ पर पर्यवेक्षण किया है: "सेना मंकोट से, जालंधर ठहरती हुई, लाहौर पहुँच गयी जहाँ बैरम ख़ान ने सलीमा बेगम से विवाह कर लिया।"

ब्लोचमन ने आईने-अकबरी के अपने संस्करण में बड़े आदमियों का वर्णन करते हुए पृष्ठ ३२१-३४८ पर लिखा है कि बैरम खान ने सलीमा बेगम से शादी की और उसके जल्दी बाद ही अकबर व उसमें मन-मुटाव प्रारम्भ हो गया। यह साक्ष्य और तथ्य कि ताज के सर्वोच्च शाही सेवक बैरम खान से सभी सत्ता छीन ली गयी थी, फिर उसके जीवन की शक्ति छीन ली गयी और अन्त में उसकी पत्नी की इज्ज़त मात्र इसलिए अपहृत कर ली गयी कि १५ वर्षीय अकबर की काम-लोलुप दृष्टि बैरम खान की कानूनी रूप से विवाहित पत्नी पर बचपन से ही थी, अकबर की विषयासक्ति और अन्य व्यक्तियों के वैवाहिक जीवन में पावनता के प्रति उसकी घोर तिरस्कारपूर्ण भावना का विशिष्ट प्रमाण है।

प्रसंगवश उल्लेख कर दिया जाय कि अपनी पुस्तक के अन्त में विन्सैंट स्मिथ ने अकबर के जिन दुष्कृत्यों की सूची दी है, उपर्युक्त घटना को भी अकबर के घृणित, पूर्व-विचारित, नृशंस हत्याकाण्ड के रूप में उसी में जोड़ लेना चाहिये।

अकबर की तथाकथित सच्चरित्रता के मनगढ़न्त वर्णनों ने, जो समस्त संसार में पढ़ाये जा रहे हैं, ऐसा आशय प्रकट करने का यत्न किया है कि अकबर ने सती-प्रथा की उस क्रूर रीति को रोक दिया था जिसके अन्तर्गत

अपने मृत पति की चिता में आत्मदाह करके हिन्दू विधवा पत्नी मर जाया करती थी। यह दावा, कि दया की भावना से द्रवित होकर अकबर ने सती-प्रथा को रोक देने का आदेश दे दिया था, उसी उग्रवादी मुस्लिम मनगढ़न्त बातों के ढेर में से एक है जिसे आज भारतीय मध्यकालीन इतिहास की संज्ञा देकर सर्वत्र प्रचारित, प्रसारित किया जा रहा है। एक समकालीन कैथोलिक पादरी मनसरैंट का स्पष्ट कहना है कि अकबर एक ऐसा क्रूर-सम्भोगी था जो निरुल्लास-कर्म को उपहास ही समझता था। अकबर द्वारा सती-प्रथा वन्द करने के दावे के प्रमाण-स्वरूप जो थोड़े-से उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं, वे उदाहरण वे हैं जिनमें असहाय हिन्दू राजकुलीन विधवाओं को अपने ही हरम में ठूँस देने के लिए अकबर ने मध्यस्थता की थी।

ऐसा ही ज्वलन्त एक उदाहरण वीरभद्र का है जो पन्ना नामक हिन्दू रजवाड़े का राजकुमार था और जो अपनी आकर्षक, सुन्दर पत्नी के साथ, सशरीर प्रतिभू—सशरीर बन्धक के रूप में अकबर के दरबार में रहा करता था। जब उसके पिता रामचन्द्र की मृत्यु का समाचार आया, तो वीरभद्र राज-सिंहासन पर बैठने के लिए अपनी राजधानी रीवाँ की ओर चल पड़ा। झूठे, मनगढ़न्त इस्लामी वर्णनों में कहा गया है कि जब वीरभद्र अपनी राज-धानी के पास पहुँचा, तब अपनी पालकी से गिर पड़ा और मर गया। उस समय उसकी पत्नी को सती होने के लिए तैयार किया गया था, किन्तु उसे अकबर ने सती होने से रोक दिया।

ऐसे पोशीदा और विकृत मुस्लिम वर्णनों में से वास्तविक घटना को भली प्रकार छाँटा जा सकता है। इसका कारण यह है कि उनमें अनेक त्रुटियाँ और बेहूदगियाँ हैं। वीरभद्र कोई शिशु तो न था जो मात्र दो या तीन फुट की ऊँचाई से नीचे गिर जाए (क्योंकि यात्रा में पालकी को इतनी ऊँचाई पर ढोकर ले जाते हैं) और मर जाये। साथ ही, पालकी ढोने वाले कहार भी ऐसे कोई नौसिखिए नहीं थे जो अपने स्वामि—प्रभु के पतन का कारण हो पाते। अतः, यह स्पष्ट है कि अकबर के इशारे पर ही वीरभद्र को उसकी और अकबर की राजधानी के मध्य किसी निर्जन-स्थान पर घात लगाकर मार डाला गया था क्योंकि अकबर की पापमयी कुटिल दृष्टि वीरभद्र की

पत्नी पर थी। ज्यों ही वीरभद्र की हत्या कर दी गयी, त्यों ही बधिक-दल द्वारा उसकी पत्नी को अकबर के हरम में बलात् ठूँस दिया गया।

इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण युवराज जयमल की रहस्यमयी और अकस्मात् मृत्यु में उपलब्ध होता है जहाँ उसकी पत्नी को अकबर के हरम में बलात् प्रविष्ट करने के लिए उसके हिन्दू राजकुलीन पति को इसी प्रकार मरवा डाला था। जयमल की पत्नी को सती होने से रोकने के लिए अकबर का स्वयं घोड़े पर सवार होकर जाना और उस महिला के सभी सम्बन्धियों को कारागार में डाल देना सभी प्रकार सन्देहपूर्ण परिस्थितियाँ ही हैं। जयमल को किसी विशेष उद्देश्य से बंगाल भेजा गया था—ऐसा कहा जाता है। वह रास्ते में मर गया। उसकी पत्नी ने सती हो जाने की तैयारी कर ली। और बिल्कुल ठीक समय पर, सुदूर फ़तहपुर सीकरी से घोड़े पर चढ़कर, एक वीर योद्धा के समान अकबर ठीक उसी स्थान पर पहुँच जाता है जैसे रंगमंच पर लगे किसी पर्दे के पीछे से ही आया हो। उसने अपनी सेना अथवा आरक्षी की किसी भी टुकड़ी पर अथवा अपने अधीन किसी अन्य अधिकारी पर विश्वास नहीं किया। और उसे उस असहाय महिला के सभी सम्बन्धियों को अन्धकूप की भीषण यातनाओं को सहन कराने के लिए बन्दी कर लेना पड़ा। यह कथा अकस्मात् यहीं समाप्त हो जाती है—इसमें यह भी उल्लेख नहीं किया जाता कि उस नाटक के महानायक अर्थात् अकबर और उस दुःख-संतप्ता महिला की गति क्या हुई? उसी विधवा के साथ-साथ श्मशान-घाट तक जाने वाले सभी सम्बन्धियों को जब बन्दीगृह में डाल दिया, तो उस असहाय विधवा को अकबर कहाँ भेज सकता था? स्वाभाविक ही है, कि अत्यन्त संकोचपूर्वक, 'सम्वेदनशील' अकबर को उस महिला को अपने ही हरम में शरण, आश्रय और संरक्षण देने के लिए बाध्य होना पड़ा—कहानी का यही चरम-बिन्दु प्रतीत होता है।

विन्सैंट स्मिथ ने इस सम्बन्ध में अत्यन्त विवेकपूर्ण टिप्पणी की है कि अकबर के आत्म-प्रशंसित, आत्म-नियुक्त तिथिवृत्त-लेखक अबुल फ़ज़ल ने इस कथा का किस प्रकार वर्णन किया है। यहाँ यह बात भी स्मरण रखनी चाहिये कि लगभग सभी इतिहास-लेखकों और स्वयं ताज के हक़दार

जहाँगीर ने भी अबुल फ़ज़ल को 'निर्लज्ज चापलूस' का नाम दिया है। विन्सैंट स्मिथ ने कहा है—"इस घटना का स्थान और सही-सही तारीख नहीं बताये गये हैं। सदा की ही भाँति, अबुल फ़ज़ल के इस वर्णन में स्पष्टता और संक्षेप का अभाव है।"

उपर्युक्त अनुचित और तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत किये गये सदोष वर्णन को पुनः सही रूप में देखने पर स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि जयमल पूर्णरूप से स्वस्थ था क्योंकि उसे विशिष्ट 'उद्देश्य' की प्राप्ति के लिए बंगाल भेजा गया था। ज्यों ही वह दरबार में अपने प्रिय और निकटस्थ व्यक्तियों से कुछ दूर जगह पर पहुँचा, उसे झपट लिया गया और असुरक्षित अवस्था में ही मार डाला गया। तारीख व स्थान का तो उस हालत में कोई महत्त्व था ही नहीं जबकि किसी आदमी की तलाश कुत्ते के समान की जा रही थी और जब व जहाँ कहीं मौका मिलने पर उसे मार डालना ही अभीष्ट था। स्पष्ट है कि उस घातक घटना की क्षण-प्रतिक्षण जानकारी से अकबर को निरन्तर अवगत रखा जा रहा था। जब जयमल की मृत्यु के बाद उसके सम्बन्धियों ने स्पष्टतः अकबर द्वारा अपहरण का प्रतिकार किया, तो अकबर ने उन सबको बन्दीगृह में डालकर अपने रास्ते का काँटा साफ़ कर लिया। धधकती हुई मृतक की चिता के किनारे खड़ी शोक-संतप्ता और असहाय, असुरक्षित विधवा को अकबर के हरम में बलात् प्रविष्ट कर दिया गया।

यह ध्यान रखने की बात है कि अकबर के युग में सती-प्रथा अति व्याप्त थी। ऐसे मामलों में उसकी मध्यस्थता, जिसको असत्य रूप में कहा जाता है कि उसने क्रूर प्रथा को रोकने की इच्छा से प्रेरित होकर की थी, तथ्य रूप में तो उन सुन्दर विधवाओं को स्वयं अपहृत करने के लिए ही थी। अन्यथा, अकबर केवल इसी एक मामले में रुचि क्यों लेता? और वह अकेला ही क्यों जाए? और वह ठीक समय पर, ठीक स्थान पर कैसे पहुँच गया? और जयमल राजधानी से जाने के बाद तुरन्त कैसे मर गया और उन दिनों में जब राजमुकुट रक्ततंत्र इतनी सामान्य नहीं थी जितनी आज है? और, तथ्यतः किसी रोग को भी दोष नहीं दिया गया है। साथ ही, जयमल की मृत्यु के कारणों की जाँच कराने के स्थान पर, उसकी

शोक-विह्वला पत्नी का शव चिता के पास ही से पीछा करने में और उसके सम्बन्धियों के संरक्षणशील, सुरक्षित क्षेत्र से उसे अलग करने में ही अकबर अधिक रुचि लेता हुआ प्रतीत हुआ। इसलिए, यह अन्य हत्या और अपहरण-काण्ड भी अकबर के रहस्यमय वैवाहिक-व्यापारों में सम्मिलित किया जाना चाहिये।

चौथे और कदाचित् अन्य अनेक अपहरणों का अन्त हत्या में नहीं हुआ क्योंकि इस मामले में पति महोदय चुपके से सुदूर दक्खन-क्षेत्र को चल पड़े थे और अपनी पत्नी पर अकबर का अधिकार होने का पूरा-पूरा अवसर दे गये थे। इस घटना का वर्णन विन्सैंट स्मिथ की पुस्तक के पृष्ठ ४७ पर और डॉक्टर आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव की पुस्तक के पृष्ठ ८०-८१ पर उपलब्ध है। डॉक्टर श्रीवास्तव जी ने बदायुनी के उद्धरण से कहा है कि "जनवरी १२, सन् १५६४ ई० को अकबर के ऊपर एक प्राणघातक प्रयत्न किया गया था जो अकबर द्वारा कुछ विशिष्ट परिवारों के सम्मान के हरण के विरुद्ध रोष का फल था। बादशाह अकबर ने शेख़ अब्दुल वसी को बाध्य कर दिया था कि वह अपनी अद्वितीय, अनिंद्य सुन्दरी पत्नी को तलाक दे दे। उस शेख ने आज्ञा का पालन किया और बीदर चला गया, तथा उसके बाद उसके बारे में कुछ सुना नहीं गया।" और कौन जानता है कि उसकी भी हत्या नहीं की गई हो, क्योंकि यह तो अकबर का नित्य का स्वभाव, अभ्यास था कि जिस किसी भी व्यक्ति की पत्नी पर उसकी बुरी नज़र टिक गई, अकबर ने उसी को किसी-न-किसी बहाने से दूर भेज दिया और रास्ते में मरवा डाला जैसाकि हम बैरम खान और जयमल के मामलों में पहले ही देख चुके हैं।

डॉक्टर श्रीवास्तव ने आगे लिखा है—"हिजड़ों और दलालों के माध्यम से उसी प्रकार के सम्बन्धों के लिए समझौता-वार्ता प्रारम्भ हो गई। बदायुनी का वर्णन ठीक प्रतीत होता है।" इसका अर्थ यह है कि ऐसे अन्य सैकड़ों उदाहरण हो सकते हैं जिनमें अकबर के हरम को भरने के लिए सैकड़ों पत्नियों को उनके कानूनी पतियों से सदैव के लिए अलग कर दिया गया था।

अपनी पुस्तक के पृष्ठ १२७ पर डॉक्टर श्रीवास्तव का कहना है कि

अकबर ने काहन की पुत्री से विवाह किया था जो बीकानेर के शासक कल्याणमल का भाई था। यदि इस कहानी का पूर्ण विवरण सँजोया जाये तो स्पष्ट ज्ञात हो जायेगा कि समूल विनाश की आशंका समक्ष उपस्थित होने पर ही बीकानेर के राजघराने को अपनी असहाय कन्या का कौमार्य अकबर के सम्मुख समर्पित करने के लिए बाध्य होना पड़ा था।

ये समस्त परस्पर व्यवहार किस प्रकार के थे, जिनको शब्दाडम्बर और विडम्बना-वश विवाहों के नाम दिये गये हैं, उसी पुस्तक में आगे दिये गये कुछ उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है। डॉक्टर श्रीवास्तव ने लिखा है—"जैसलमेर के रावल हर राय ने अपनी पुत्री विवाह में अकबर को दे दी। राजा भगवानदास को भेजा गया था कि वह राजकुमारी को शाही डेरे में ले आये।" यह किस प्रकार का 'विवाह' है जिसमें न तो दूल्हा दुलहिन के घर आता है, और न ही दुल्हन दूल्हा के घर जाती है, अपितु पाशबन्ध से लैस एक सैन्य-टुकड़ी के साथ राजा भगवानदास को भेज दिया जाता है मानो वह कोई नगर-निगम का दारोगा हो जो लावारिस जानवरों को पकड़ने के लिए गया हो। भगवानदास जाता है, और असहाय, अनाथ कन्या को ले आता है तथा उसे अकबर के शाही डेरे में ठूँस देता है जो वास्तव में इधर-उधर से एकत्र किये गये पशुओं के काँजी-हाउस के समान ही है, जहाँ असहाय महिलाएँ भरी पड़ी थीं और जहाँ अकबर रूपी साँड प्रजननकार्य के लिए सर्वोच्च, अद्वितीय था।

सन् १५७७ ई० में अकबर ने बाँसवाड़ा और डूँगरपुर के शासकों से आत्म-समर्पण कराया। प्रोफ़ेसर श्रीवास्तव की पुस्तक के पृष्ठ क्रमांक २१३ से २१८ तक वर्णन किया गया है कि किस प्रकार बाँसवाड़ा के शासक रावल प्रताप को और डूँगरपुर के शासक रावल आसकरण को बाध्य किया गया था कि वे अकबर के सम्मुख हाथ बाँधे खड़े रहें और उसकी अधीनता स्वीकार करें। फिर, वर्णन किया जाता है कि अकबर ने डूँगरपुर की राजकुमारी से 'विवाह' कर लिया। एक बार फिर उस निरीह, असहाय राजकन्या का नाम, जो इस विवाह की नायिका समझी जाती है, लुप्त रह जाता है। यह विलुप्त रहता है क्योंकि इसका कोई महत्त्व ही नहीं था। समर्पण की शर्तों में आदान-प्रदान करने वाली चल-

सम्पत्ति उस कन्या का कौमार्य मात्र ही है। इस बात को उस समय विशेष रूप में स्पष्ट कर दिया जाता है जब विद्वान् लेखक वर्णन करते हैं कि किस प्रकार लोनकरण और बीरबर को दारोगाओं के रूप में नियुक्त किया गया था कि वे असहाय डूँगरपुर बालिका को अकबर के डेरे में प्रविष्ट कर दें। यहाँ फिर, किसी दुल्हन की बारात अकबर के दरबार में नहीं जाती है, और न ही अकबर को सौभाग्य प्राप्त होता है कि वह किसी श्वसुर के घर पर दामाद के रूप में सुशोभित हो सके। इसके बदले, उस कन्या को उसके विलाप करते हुए माता-पिता की स्नेहमयी गोद से क्रूरतापूर्वक छीन लिया जाता है क्योंकि अकबर की सेना के विध्वंसक-रुख से अपने राज्य को बचाने के लिए अपनी कन्या को समर्पित करने की अति शोचनीय स्थिति से वे हत-भाग्य माता-पिता सदैव चिन्तित रहते थे।

अकबर की नितान्त लम्पटता के सम्बन्ध में उसके अपने दरबारी तिथिवृत्त-लेखक अबुल फ़ज़ल ने (ब्लोचमन की आईने-अकबरी के) आईन १५ में लिखा है—"बादशाह ने अपने आराम करने के लिए एक विशाल चहारदीवारी बनायी है जिसमें अत्यन्त भव्य भवन हैं। यद्यपि (हरम में) ५,००० से अधिक महिलाएँ हैं, फिर भी शहंशाह ने इनमें से प्रत्येक को पृथक्-पृथक् निवास-गृह दे रखा है।" यह स्मरण रखते हुए कि अबुल-फ़ज़ल एक चापलूस दरबारी लेखक था, व्यक्ति सहज ही यह अनुभव कर सकता है कि सम्पूर्ण हिन्दुस्थान में कहीं भी कोई ऐसा भवन नहीं है जो अकबर के समय का हो और जिसमें ५,००० महिलाओं को पृथक्-पृथक् रखा जा सकता हो। स्वयं एक ही स्थान पर, पशुवत् रखने के लिए भी ऐसा भवन कहीं विद्यमान नहीं है। यह तथ्य सिद्ध करता है कि असहाय ५,००० महिलाओं को पशुओं के झुण्ड-समान एक ही स्थान में ठूँस दिया गया होगा—अस्वच्छ और गन्दी बस्तियों में—शाब्दिक रूप में 'बाड़ों' में जैसाकि स्वयं अबुल फ़ज़ल कहता है।

उसी आईन में अबुल फ़ज़ल ने आगे कहा है—"जब भी कभी बेगमें अथवा उमरावों की पत्नियाँ या ब्रह्मचारिणियाँ उपहृत होने की इच्छा प्रकट करती हैं, तब उनको अपनी इच्छा की सूचना सबसे पहले वासनालय के सेवकों को देनी पड़ती है, और फिर उत्तर की प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

वहाँ से उनकी प्रार्थना महल के अधिकारियों के पास भेज दी जाती है जिसके पश्चात् उनमें से उपयुक्तों को हरम में प्रविष्ट होने की अनुमति दे दी जाती है। उच्च-वर्ग की कुछ महिलाएँ वहाँ एक मास तक रहने की अनुमति प्राप्त कर लेती हैं।"

चूँकि यह बात बिल्कुल अविचारणीय है कि बेगमें, उमरावों की पत्नियाँ और सभी सामान्य महिलाएँ अकबर के साथ पति-पत्नी के रूप में मेल-जोल रखने के लिए व्यग्र हों, इसलिए उपर्युक्त अवतरण का अर्थ मात्र इतना ही है कि अकबर अपनी काम-पिपासा शान्त करने के लिए सभी महिलाओं को समर्थ, सम्भोग्या समझता था। जब हम देखते हैं कि बैरम खान जैसे बड़े-बड़े उमरावों, सरदारों की पत्नियों, दरबारियों की पत्नियों और अन्य लोगों की पत्नियों का वैवाहिक-सतीत्व भी सुरक्षित नहीं था, तब शेख अब्दुल वसी जैसे साधारण आदमियों की दुर्दशा की कल्पना तो सहज रूप में ही की जा सकती है।

ब्लोचमन द्वारा सम्पादित आईने-अकबरी के पृष्ठ २७६ पर अबुल फ़ज़ल पाठक को सूचित करता है—"शहंशाह ने महल के पास ही शराब की एक दुकान स्थापित की है...दुकान पर इतनी अधिक वेश्याएँ राज्य-भर से आकर एकत्रित हो गई कि उनकी गणना करना भी कठिन कार्य हो गया...दरबारी लोग नचनियों को अपने घर ले जाया करते थे। यदि कोई प्रसिद्ध दरबारी व्यक्ति किसी असम्भुक्ता को ले जाना चाहता है, तो उसे सर्वप्रथम शहंशाह से अनुमति प्राप्त करनी होती है। इसी प्रकार लड़के भी लौंड़ेबाजी के शिकार होते थे, और शराबीपन तथा अज्ञान से शीघ्र ही खून-खराबा हो जाता था। शहंशाह ने स्वयं कुछ प्रमुख वेश्याओं को बुलाया और उनसे पूछा कि उनका कौमार्य किसने भंग किया था ?"

इस प्रकार, संक्षेप में सम्पूर्ण साक्ष्य यह है कि अकबर के पास ५,००० महिलाओं से भी अधिक का हरम होने के बावजूद भी वह वेश्याओं, लड़कों, लड़कियों की विशाल संख्या रखा करता था; और बड़े-बड़े दरबारियों और सामान्य जनता की पत्नियों का भी शील-भंग किया करता था।

तथ्यत:, प्रत्येक व्यक्ति का बिना किसी प्रकार का नू-नच किए अपना जीवन, धर्म, सम्मान और सम्पत्ति अकबर को समर्पित करने वाला दीन-

इलाही का निहितार्थ असीमित लम्पटता के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। राय सुर्जनसिंह के साथ की गई रण-थम्भौर की सन्धि से जैसा स्पष्ट है, पराभूत शासकों द्वारा अकबर के हरम में अपनी महिलाएँ अनिवार्यतः भेजने से अकबर की कामुकता—लम्पटता और भी प्रत्यक्ष हो जाती है। इसके साथ ही सामान्य लोगों की वैवाहिक-गुप्तता पर अकबर के निरन्तर आक्रमण, पतियों का शिकार और मरण निश्चित करके, अथवा स्थान से बाहर भेजकर उनकी पत्नियों को अपनी क्रूर-सम्भोग वासना का शिकार बनाना भी अकबर की रति-लालसा को स्पष्ट कर देता है।

ऐसे अत्यन्त घृणित, हानिकर और गन्दे साक्ष्यों का विशाल भण्डार उपलब्ध होने की स्थिति में हमारे इतिहास-ग्रन्थों का पर्याप्त संशोधन किया जाना चाहिये ताकि उनमें अकबर की काल्पनिक वैवाहिक-सद्वृत्तियों और मूल्यों को अब तनिक भी बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत न किया जाये।

इतिहासगर्भित शब्द और वाक्प्रचार

समय के अनन्त प्रसार में भूतकालिक साम्राज्यों के प्रत्यक्ष चिह्न प्रायः विस्मृति में लुप्त हो जाते हैं। जिस प्रकार विद्यार्थीगण अधूरे वाक्यों में लुप्त शब्दों को भरकर भाषायी परीक्षाओं में सफल हो जाते हैं, उसी प्रकार कुछ विशेष सूत्रों की सहायता से इतिहास-लेखक भी इतिहास के रिक्त स्थानों की पूर्ति कर इतिहास की पुनर्रचना कर सकते हैं। ऐसा ही एक महत्त्वपूर्ण सूत्र उन शब्दों और वाक्यांशों से उपलब्ध होता है जो इतिहास से उद्भूत होने के कारण समय की अबाध गति से पीढ़ियों तक प्रचलित रहते हैं, चाहे वे जिस साम्राज्य के गौरव को प्रतिध्वनित करते हैं उसके अन्य सभी प्रत्यक्ष, दर्शनीय चिह्न सदैव के लिए लुप्त हो जाते हैं।

ब्रिटिश साम्राज्य के सभी अभिलेख और स्मृतियाँ नष्ट हो जाने के बाद भी जबतक अंग्रेजी भाषा में 'ब्रिटिश साम्राज्य में कभी सूर्यास्त नहीं हुआ' अथवा 'इंग्लैण्ड सातों समुद्रों का स्वामी था' जैसे वाक्यांश बने रहेंगे, तबतक ब्रिटिश लोगों के विश्व-व्यापी प्रभुत्व की चर्चा युगों तक चलती ही रहेगी क्योंकि ये दो छोटे-छोटे वाक्यांश विलुप्त ब्रिटिश साम्राज्य के अस्तित्व के ठोस प्रमाण होंगे, चाहे अन्य सभी अभिलेख नष्ट भी हो जायें।

मराठी भाषा में से भी एक वाक्यांश उद्धृत किया जा सकता है जो इतिहास की घटना को चरितार्थ, सिद्ध करने वाला है। मराठी भाषा में यह अति सामान्य बात है कि कोई भी व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से अकड़ कर कहे, "आप अपने आपको समझते क्या हैं? ··· क्या आप अपने-आपको बाजीराव समझते हो?" इतिहास का कोई ज्ञान न रखने वाला व्यक्ति भी यदि उपर्युक्त लघु-वाक्य से यह निष्कर्ष निकाले कि बाजीराव अवश्य ही कोई बड़ा महाराष्ट्रियन सरदार रहा होगा, तो वह बिल्कुल ठीक होगा।

बाजीराव तथ्यतः पूर्ण अधिराज-सत्ता का ही उपभोग करता था। इस प्रकार, सभी प्रकार के ऐतिहासिक अभिलेखों के नष्ट हो जाने पर भी मराठी भाषा में समाविष्ट यह छोटा-सा वाक्य बाजीराव के विनष्ट, विलुप्त साम्राज्य के सम्बन्ध में विवेकशील इतिहास-लेखकों को भारी मात्रा में सामग्री प्रदान करता रहेगा।

यद्यपि साम्राज्यों के कारण ही ऐसी अभिव्यक्तियाँ उत्पन्न हो पाती हैं, तथापि विलुप्त साम्राज्य के अस्तित्व को उन सूत्रों की सहायता से पहचान पाना सम्भव है जो इतिहास से शुद्ध होकर, निखरकर आये हुए शब्दों से उपलब्ध होकर आते हैं और हज़ारों वर्ष निर्बाध रूप में चलते रहते हैं।

हमारे युग में प्रचलित विश्व इतिहास-ग्रन्थों में किसी प्राचीन हिन्दू साम्राज्य के अस्तित्व का उल्लेख नहीं किया गया है। किन्तु कुछ ऐसी प्रचलित अभिव्यक्तियाँ हैं जो इस बात की संकेतक हैं कि किसी समय ऐसा साम्राज्य विद्यमान था।

आइये, हम 'आर्य' शब्द पर विचार करें। अंग्रेज़ व्यक्तियों से लेकर ईरानियों, तुर्कों और अफ़गानों तक यूरोप और एशिया के अनेक समुदाय स्वयं को 'आर्य' पुकारते हैं। इसका कारण यह है कि वे सब 'आर्य धर्म' अर्थात् 'आर्य अथवा हिन्दू जीवन-पद्धति का अनुसरण करते थे, जीवन की आर्य अथवा हिन्दू पद्धति के अनुयायी थे।' यह विश्वास करना गलत है कि 'आर्य' किसी जाति का बोध कराने वाला शब्द है। 'आर्य' जीवन की पद्धति का—हिन्दू जीवन-पद्धति का द्योतक है। कारण यह है कि चिर-विस्मरणातीत युग में अनेक राष्ट्रों ने हिन्दू जीवन-पद्धति उपनाम जीवन की आर्य-पद्धति को अंगीकार कर लिया था, इसलिए वे लोग स्वयं को 'आर्य' कहते हैं। किसी जाति के रूप में तो वे इतने प्रभूत-मात्रा, जनसंख्या वाले नहीं थे कि सारे यूरोप को और अधिकांश एशिया को बसा पाते। किन्तु वे सब हिन्दू-धर्म का पालन उसी प्रकार कर सकते थे जिस प्रकार ईसाई-मत और इस्लाम अपने-अपने साम्राज्यों के विस्तार के साथ-साथ प्रचारित-प्रसारित एवं व्याप्त होता गया। अतः हमारा निष्कर्ष है कि जो कोई भी समुदाय आज भी अपने आप को सहज-सरल रूप में 'आर्य' घोषित करता है, वह स्वाभाविक रूप में इस तथ्य को स्वीकार करता है कि यह किसी समय

'हिन्दू धर्म' अर्थात् वैदिक अथवा हिन्दू जीवन-पद्धति का अनुसरण करता था। संक्षेप में कहा जाय तो कहना होगा कि वे सब हिन्दू थे।

हम अब एक अन्य अभिव्यक्ति लेते हैं। इतिहास में यह प्रायः दुहराया जाता है कि अरब-वासियों ने अपना सारा ज्ञान भारत से ही प्राप्त किया था। दुर्भाग्य है कि इस छोटी-सी महत्त्वपूर्ण बात का पूरा-पूरा निहितार्थ इस विश्व के मानस से विलुप्त हो चुका है।

उस अभिव्यक्ति से, अस्पष्ट रूप में, जो कुछ अनुमान किया जाता है वह यह है कि समय-समय पर यदा-कदा, इक्के-दुक्के अरब यात्री अपनी भिन्न-भिन्न प्रयोजनों से की गई यात्राओं के समय भारत में रहते समय भारतीय ज्ञान को आत्मसात कर लेते थे और फिर, मानो किसी जादू से ही, उस ज्ञान को अरब लोगों में प्रचारित-प्रसारित कर देते थे। यह बिल्कुल बेहूदा, निराधार कल्पना है। इस प्रकार की इक्की-दुक्की, अ-व्यवस्थित यात्रा से किसी भी देश से ज्ञानार्जन नहीं किया जा सकता और न ही उस ज्ञान को फिर दूसरे देश में प्रचारित-प्रसारित किया जा सकता था। बहुत सारे ऐसे यात्रीगण तो अपने देश को वापस लौटते ही नहीं हैं। जो कुछ थोड़े-बहुत बचते हैं, उनके पास सभी भारतीय विज्ञानों और कलाओं को यत्नपूर्वक सीखने के लिए समय, धैर्य, अथवा प्रतिभा का अभाव होता है। वापस लौटने पर, अपने समस्त देशवासियों को एकत्र करने और फिर, जो कुछ ज्ञान उन्होंने भारत में अर्जन किया उसकी उन सब एकत्रित लोगों को शिक्षा देने के साधनों अथवा अधिकारों का उनके पास अभाव होता है।

एक देश किसी दूसरे देश की जानकारी मात्र तभी हृदयंगम करता है जब वह दूसरे देश के अधीन, गुलाम होता है। भारतीय लोगों का अंग्रेजी भाषा सीखने का उदाहरण लें।

भारतीय लोगों ने अंग्रेजी भाषा का ज्ञान मात्र तभी प्राप्त किया जब अंग्रेज लोग भारत में शासन करने आ गए। जो भारतीय लोग फ्रांसीसियों और पुर्तगालियों द्वारा अधिशासित प्रदेशों के महत्त्वपूर्ण स्थानों में निवास करते रहे, उनको उन्हीं के विदेशी पाठ्यक्रमों का अध्ययन करना पड़ा था। इस प्रकार, एक देश का अवबोधन दूसरे देश में प्रवेश तभी पा सकता है जब इसका दूसरे देश पर शासन हो। यह सिद्ध करता है कि 'अरब-वासियों

ने अपना सारा ज्ञान भारत से ही प्राप्त किया था' शब्द-समूह इस बात का द्योतक है कि अरब-वासी किसी समय हिन्दू साम्राज्य का एक भाग थे। जो लोग यह भी जानने के इच्छुक हों कि यह स्थिति कब थी, उनको हमारा उत्तर है कि यह स्थिति वेदों के युग से लेकर लगभग पैगम्बर मोहम्मद के समय तक रही। विश्व के ज्ञान-कोशों में अंकित है कि अपने नये संस्कारित इस्लामी उन्माद व क्रोधाग्नि में अरब-वासियों ने मोहम्मद-पूर्व के अपने जीवन के सभी स्मृति-चिह्नों को जड़-मूल से उखाड़ फेंका था, विनष्ट कर दिया था।

इस्लाम और ईसाई-मतों ने अपने ही विलक्षण ढंग से नये धर्म-परिवर्तितों के मन में अपने विगत-काल के प्रति घोर तिरस्कार की भावना जागृत करने में और अपने पूर्वजों के प्रति बड़े ही संकोच-भाव से चर्चा करने में असीम, उल्लेख योग्य सफलता प्राप्त की है। इस प्रकार, यदि कोई व्यक्ति किसी यूरोपियन से उसके ईसा-पूर्व पूर्वजों के बारे में अथवा, अरबी, तुर्क या ईरानी व्यक्ति से मुहम्मद-पूर्व के मृतकों के बारे में कुछ पूछे, तो वे व्यक्ति जो कुछ करेंगे वह यह है कि वे अपना मुँह लटका लेंगे और कहेंगे कि उनके पूर्वज महत्त्वहीन व्यक्ति थे, वे तो नारकीय प्राणी थे और राक्षसी प्रकृति के व्यक्ति थे जिनका इतिहास उल्लेख-योग्य नहीं है, जिसका निहितार्थ है कि वे निपट मूढ़ अथवा लुच्चे-लफंगे, अशिष्ट, असभ्य जीव थे।

इतिहास ऐसे सरल प्रतिवादों को स्वीकार नहीं करता। इतिहास जानता है कि किसी ईसा अथवा किसी मोहम्मद के जन्म से बहुत अधिक पूर्वकाल से ही जनता ने सु-स्थापित सरकारें प्रस्थापित कर ली थीं। इस प्रकार के अस्वीकरणों, लज्जा या शर्म से उत्पन्न लालिमा से अथवा मनाही से कार्य नहीं चलेगा।

हम जब ईसाई-मत और इस्लाम द्वारा विनष्ट किए गए इतिहास को खोदते हैं, तो हम पाते हैं कि यहाँ कभी एक विश्वव्यापी हिन्दू साम्राज्य विद्यमान था। एक-एक अंश से उस साम्राज्य की कथा की पुनर्रचना करने में हमें ऐसे शब्दों और वाक्यांशों की उपलब्धि होती है जो अपने उस विलुप्त हिन्दू साम्राज्य के बारे में ग्रन्थों से परिपूर्ण चर्चा करते हैं।

इतिहास को चरितार्थ करने वाली एक अन्य अभिव्यक्ति वैदिक धर्मादेश

'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' है जिसका अर्थ है कि सम्पूर्ण विश्व में जीवन की हिन्दू पद्धति का प्रसार करो। प्रसंगवश कह दिया जाय कि 'आर्यत्व कोई ऐसी वस्तु थी जिसका प्रसार-प्रचार किया जा सकता था, न कि कोई जाति थी जिसको जन्म से ही प्राप्त किया जा सकता था'। सम्पूर्ण विश्व में 'आर्यत्व' को प्रसारित-प्रचारित करने का आदेश उसी राष्ट्र द्वारा दिया जा सकता था जो यह तथ्य भलीभाँति जानता था कि सम्पूर्ण विश्व कितना बड़ा था तथा जिसके पास सम्पूर्ण विश्व में अपनी जीवन-पद्धति को प्रचारित-प्रसारित करने के लिए साधन हों। ऐसे साधनों में एक भलीभाँति प्रशिक्षित, अनुशासित सेना, प्रशासकों, धार्मिक प्रचारकों, अध्यापकों, वैज्ञानिकों और कलाकारों का समूह तथा एक प्रबुद्ध व वांछनीय सभ्यता समाविष्ट है।

हिन्दू साहित्य में ओत-प्रोत एक अन्य अति महत्त्वपूर्ण वाक्यांश 'वसुधैव कुटुम्बकम्' है जिसका अर्थ है कि समस्त विश्व एक परिवार ही है। इसी बात को तो वास्तव में हिन्दू लोग अपने आचरण में चरितार्थ करते थे। वे जहाँ कहीं भी गए—और वे लोग पृथ्वी के चहुँ ओर, चारों दिशाओं में गए थे—उन्होंने सब लोगों को एक सामान्य भ्रातृत्व में जोड़ दिया जिसकी निष्ठा एक सामान्य संस्कृति और समान आचरण के प्रति थी, तथा जो किसी ईसा, मोहम्मद अथवा बुद्ध की अधीनता को आवश्यक नहीं समझती थी। यह आर्य (प्रबुद्ध) जीवन-पद्धति थी जो प्रकाश, ज्ञान, संस्कृति और सेवा का दान करती थी किन्तु बदले में किसी भी वस्तु की कामना नहीं करती थी।

हिन्दुओं के प्राचीन इतिहास-ग्रन्थों (पुराणों) में भी अन्वेषणात्मक अभियानों के असंख्य सन्दर्भ समाविष्ट हैं। ऐसे अभियानों को 'राजसूय' और 'अश्वमेध' यज्ञ कहा जाता था। शक्ति-सम्पन्न हिन्दू सम्राट् अपना एक सु-सज्जित घोड़ा नये-नये भू-प्रदेशों में भेजते थे। उस घोड़े के पीछे उन सम्राटों के सैनिक होते थे, और वे सब उन नयें प्रदेशों में "हिन्दू, आर्य, वैदिक, सनातन" जीवन-पद्धति का प्रचार करतें थे। चूँकि हिन्दुस्थान (भारत) एक ओर हिमालय से और तीन दिशाओं में विशाल सागरों से घिरा हुआ है, इसलिए स्थल-मार्ग से यज्ञ के अश्व जिस दिशा में जा सकते थे, वे केवल उत्तर-पश्चिम दिशा ही थी। अतः, यही कारण है कि हिन्दू साम्राज्य बलूचिस्तान, अफ़गानिस्तान, ईरान, और तुर्की के मार्ग से ही सम्पूर्ण पश्चिमी एशिया, यूरोप, अफ्रीका और रूसी साइबेरिया से जापान तक के क्षेत्र को पार कर फैल गया था। ऊपर जिन भूखण्डों का उल्लेख किया गया है, उनपर फैले उस विशाल हिन्दू साम्राज्य के वास्तविक चिह्नों का वर्णन अनुवर्ती अध्यायों में किया जाएगा।

अनुसन्धान विधि-तन्त्र और इतिहास के विद्वानों की भद्दी भूलें

संघ लोक सेवा आयोग और विद्यालयों व महाविद्यालयों की परीक्षाओं में बैठने वाले विद्यार्थियों की उत्तर-पुस्तिकाओं में समाविष्ट, चुनी हुई कुछ अद्भुत भद्दी भूलों को छापकर समाचार-पत्र जब-तब पाठकों का मनोरंजन करते रहते हैं।

किन्तु ऐसे विद्यार्थी-गण भी इस विचार से सन्तोष, धैर्य धारण कर सकते हैं कि वे भी विशिष्ट व्यक्तियों की श्रेणी में ही हैं। वे इतिहास-ग्रन्थ भी समान रूप से ऐसी अद्भुत भद्दी भूलों से भरे पड़े हैं, यद्यपि उनके लेखक अधिकारि-वर्ग से अत्यन्त प्रशंसित हैं और वे इतिहास-पुस्तकें हम सभी को पढ़ाई जा रही हैं।

ऐतिहासिक अनुसन्धान के कुछ अनिवार्य सिद्धान्तों की उपेक्षा का यह दुष्परिणाम हुआ है कि विद्यालय के छात्रों की भद्दी भूलों की ही भाँति कुछ त्रुटियाँ अनुलंघनीय, परमपावन विगत-घटनाएँ बनकर भारतीय इतिहास में स्थाई रूप धारण कर बैठी हैं। उनमें से एक यह है कि चूँकि कुछ भवनों के बारे में यह ज्ञात है कि ये भवन जिनमें अकबर, होशंगशाह, मुहम्मद आदिलशाह तथा अन्य बहुत सारे अन्य लोगों के मकबरे बने हुए हैं उन्हीं लोगों की मृत्यु से पूर्व विद्यमान थे, इसलिए उन बाह्य व्यक्तियों को श्रेय दिया जाता है कि उन्होंने अपने जीवन-काल में ही अपने-अपने मकबरों का निर्माण करवा लिया था।

दूसरी भद्दी भूल यह है कि अहमदाबाद, अल्लाहाबाद, फिरोजाबाद, फैज़ाबाद, आगरा, दिल्ली, फतहपुर सीकरी और जौनपुर जैसे असंख्य

भारतीय नगर तुर्कों, अरबों, अफ़गानों, अबीसीनियनों, कज़ाकों, उज़बेकों, मंगोलों और तथ्य तो यह है कि भारतीयों के अतिरिक्त प्रत्येक अन्य समुदाय द्वारा निर्मित कहे जाते हैं।

तीसरी भद्दी भूल यह है कि ये विदेशी लोग, जिनके मध्यकालीन अथवा प्राचीन साहित्य में वास्तुकला और नगर-रचना शास्त्रों से सम्बन्धित एक भी मूल-ग्रन्थ का अभाव है, ऐसे कुशल निर्माता थे, जिन्होंने सैकड़ों की संख्या में भारत में नगरों, किलों, राजमहलों और भवनों का निर्माण करवाया था। इस सम्बन्ध में हम यह पूछना चाहते हैं कि यदि अहमदाबाद की स्थापना का श्रेय किसी अहमदशाह को और फ़िरोज़ाबाद का श्रेय किसी फ़िरोजशाह को मात्र इसलिए दिया जाता है कि उन नगरों के साथ उन लोगों के नाम जुड़े हुए हैं, तब तो अल्लाहाबाद की स्थापना का श्रेय स्वयं अल्लाह को ही देना पड़ेगा !

चौथी भद्दी भूल यह विश्वास है कि प्रत्येक हिन्दू-वस्तु से घोर घृणा करने वाले आक्रमणकारी मुस्लिम लोगों ने अपने सभी मकबरों, मस्जिदों, किलों, भवनों और राजमहलों का निर्माण पूर्णतः——नितान्त हिन्दू शैली में ही करवाया था।

पाँचवीं भद्दी भूल यह है कि मुस्लिम आक्रमणकारियों और शासकों ने मृत पूर्वजों के लिए मकबरे के बाद मकबरे, और निम्न-वर्गीय लोगों के लिए मस्जिदों के बाद मस्जिदें बनवायीं किन्तु उनके लिए अथवा उनकी सन्तानों के लिए कोई राजमहल अथवा भवन नहीं बनवाए। इस प्रकार, लगभग प्रत्येक मृत फकीर, सफाई कर्मचारी, सरदार अथवा भारत में मुस्लिम दरबार से सम्बन्धित प्रत्येक बेगम अथवा सुलतान की मृत देह को आश्रय देने के लिए, मानो किसी जादू से ही, एक भवन मिल गया किन्तु जीवित रहते और ठोकरें खाते फिरने के समय निवास के लिए एक भी भवन नहीं मिला।

छठी भद्दी भूल यह है कि प्रत्येक शासक, जो अपने पिता और पितामह के खून का प्यासा रहता था, राजगद्दी छीन लेने के बाद इतनी अधिक मात्रा में पितृ-प्रेम से ओत-प्रोत हो गया कि अपने घृणित और हत्या कर दिये गए

सम्बन्धियों के लिए विशाल मकबरे बनवाने हेतु दिवालिए-पन की स्थिति में भी पहुँच जाने के लिए तैयार हो गया।

सातवीं भद्दी भूल यह कही जा सकती है कि यद्यपि शाहजहाँ के अपने दैनंदिन तिथिवृत्त 'बादशाहनामा' में पृष्ठ ४०३ (एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल प्रकाशन की बिब्लियोथेका इंडीका सीरीज़, खण्ड I) पर स्वीकार किया गया है कि ताजमहल एक पूर्वकालिक हिन्दू राजमहल है, तथापि हमारे इतिहास-ग्रन्थों में शाहजहाँ द्वारा भूमि के एक टुकड़े पर मकबरा बनवाने के अत्यन्त धोखेपूर्ण किन्तु बढ़ा-चढ़ाकर कहे गए विवरण भरे पड़े हैं।

आठवीं भद्दी भूल यह है कि आर्यों की एक काल्पनिक जाति के चारों ओर समस्त सिद्धान्तों, मान्यताओं का निर्माण कर लिया गया है, जबकि ऐसी कोई जाति थी ही नहीं। यदि ऐसी कोई आर्य-जाति रही होती, तो अनार्य-वंशोद्भवों को प्रवेश-वर्जित करने के कारण आर्यसमाज तो पहले दर्जे की साम्प्रदायिक संस्था होती। इसके विपरीत आर्यसमाज तो सभी लोगों को अपने में सहर्ष अंगीकार करने वाला संगठन है, जहाँ वर्ण, वर्ग, जाति या राष्ट्रीयता की विशिष्टताओं को कोई मान्यता नहीं दी जाती।

ये सब त्रुटियाँ ऐतिहासिक विधि-तन्त्र के कुछ मौलिक नियमों की पूर्णतया घोर उपेक्षा करने के परिणामस्वरूप ही उत्पन्न हुई हैं।

ऐतिहासिक अनुसन्धान की प्रथम आवश्यक प्रवंच्य पहुँच के स्थान पर गुप्तचर प्रकार की पहुँच करना है। 'प्रैक्टिसिंग हिस्टोरियन' शीर्षक अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक में प्रोफ़ेसर डब्ल्यू० एच० वाल्श कहते हैं—"जब कोई इतिहास-लेखक 'मूल स्रोतों' में से इस या उसमें कोई कथन पढ़ता है, तो वह उसे स्वतः स्वीकार, मान्य नहीं कर लेता है। यदि वह अपना कार्य भलीभाँति जानता है, तो इस कथन के प्रति उसका दृष्टिकोण सदैव आलोचनात्मक होता है। उसे यह निश्चय, निर्णय करना होता है कि वह उसे स्वीकार करे अथवा नहीं—उस कथन पर विश्वास करे अथवा नहीं।" दुर्भाग्यवश, हम पूर्णतया असावधानी की वृत्ति के दर्शन करते हैं, चाहे विशिष्ट प्रमाण भी दिखाए गए हों—जैसाकि ताजमहल के मामले में हुआ है।

कोलिंगवुड को उद्धृत करने के पश्चात्, जिसने इतिहास-लेखक की कार्य-विधि की तुलना एक गुप्तचर की कार्य-विधि से की है, प्रोफ़ेसर वाल्श

आगे कहते हैं—"इतिहास-लेखक का मामला यथार्थ रूप में समानान्तर है। यदि आवश्यकता पड़ जाय, तो उसे स्वयं अपने अटल, अटूट विश्वासों, धारणाओं पर भी सन्देह करने को तैयार रहना चाहिये।" हम इसको ताजमहल तथा अन्य मध्यकालीन भारतीय भवनों और नगरियों के बारे में घटित होते हुए नहीं देखते हैं यद्यपि उनके निर्माण के कार्यों को चुनौती दी गई है।

ऐतिहासिक अनुसन्धान की एक अन्य अनिवार्य आवश्यकता विधि-सम्मत, वैध पहुँच है। किसी अभियुक्त द्वारा अपना अपराध स्वीकार कर लेने पर भी कानून का आदेश है कि दण्डाधिकारी मजिस्ट्रेट अभियुक्त को चेतावनी दे दे कि अभियुक्त के लिए विवशता नहीं है कि वह अपराध स्वीकार करे, किन्तु यदि वह अपराध स्वीकार करना श्रेयस्कर समझता है, तो उसका कथन उसके विरुद्ध ही प्रयोग में लाया जायगा, न कि उसके पक्ष में। मुस्लिम तिथिवृत्त इसी प्रकार के स्वार्थ-सिद्धिपरक कथन हैं, और यदि आवश्यकता ही हो, तो उनको उन लोगों के विरुद्ध ही प्रयोग में लाना चाहिये जिनके पक्ष में इनमें दावे सन्निहित हों, किन्तु उनके पक्ष में कभी नहीं।

लार्ड संके ने ऐतिहासिक संस्था (हिस्टोरिकल एसोसियेशन), लंदन के सम्मुख सन् १९३९ ई० में दिए गए अपने भाषण में इतिहास-लेखक और विधि-वेत्ता के कार्य के बीच सादृश्य स्थापित करते हुए विधि-सम्मत पहुँच के सिद्धान्त का समर्थन किया था।

डॉक्टर जी० जे० रेनियर अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री—इट्स परपज़ एण्ड मैथड' में कहते हैं: "साक्ष्य के नियमों के प्रति दुराराध्य लगाव के कारण कानून जानबूझकर आत्मसंयम करता है, और निष्कर्ष पर पहुँचने के अवसरों को बारम्बार स्थगित कर देता है। साक्ष्य से निपटते समय कानून उस इतिहास-लेखक की अपेक्षा अधिक यथार्थवादी और आलोचनात्मक होता है जो सापेक्षवाद के संसार में विचरण करता है।"

प्राचीन भारतीय इतिहास-ग्रन्थ साक्ष्य के नीर-क्षीर विवेचन और कानूनी क्रम-विन्यास के प्रति अत्यल्प मान-सम्मान पर आधारित हैं। इस प्रकार, यद्यपि शाहजहाँनी कथा में ताजमहल के वास्तुकलाकारों के रूप में आधे दर्जन से अधिक व्यक्तियों के नामों पर विश्वास किया जाता है,

विभिन्न वर्णन-ग्रन्थों में इसकी निर्माणावधि १० से २२ वर्ष तक दी गयी है, इसकी निर्माण-सम्बन्धी लागत रु० ४०·०० लाख से लेकर रु० ९·०० करोड़ १७ लाख तक आँकी गई है, कीन ने (अपनी 'हैण्डबुक फ़ार विजिटर्स टु आगरा एण्ड इट्स नैबरहुड' पुस्तक में) तारीख-ए-ताजमहल प्रलेख को जाली घोषित किया है,—आदि-आदि कुछ मुख्य दोष सम्मुख प्रस्तुत किए हैं, तथापि परम्परागत विचारधारा के समर्थक लोगों को उस कथा में कोई दुर्गन्ध नहीं आती है क्योंकि उनके ऐतिहासिक चेहरे में उनकी कानूनी नाक गायब है।

ऐतिहासिक अनुसन्धान के लिए तीसरी आवश्यक वस्तु तर्क है। तर्क को विज्ञानों का विज्ञान ठीक ही कहा जाता है क्योंकि इसका सम्बन्ध दोष-रहित युक्तियों से होता है जो किसी भी क्षेत्र में सही निर्णयों तक पहुँचने की एक मूल आवश्यकता है। आइए, हम एक व्यावहारिक—नित्य जीवन का उदाहरण लें। यदि किसी शव-पिंड पर ऐसा एक टिप्पणी-पत्र उपलब्ध है जिसमें कहा गया है कि मृतक ने आत्महत्या की है जिसके लिए किसी को भी दोष देने की आवश्यकता नहीं, किन्तु उस शव की पीठ में भौंका हुआ एक छुरा भी मिलता है, तो तार्किक निष्कर्ष यह होगा कि मृत्यु तो हत्या का परिणाम ही है, और उस शव-पिंड पर रखा गया वह टिप्पणी-पत्र जाली है। लिखित शब्दों को ठोस परिस्थिति-साक्ष्य के साथ अस्वीकार, अमान्य करने में इस प्रकार की तार्किक-विवेकशीलता का भारतीय इतिहास में बहुत सारे निष्कर्षों तक पहुँचने में नितान्त अभाव रहा है—यह दुःखद स्थिति है।

ऐतिहासिक अनुसन्धान की चौथी आवश्यकता मौलिक चिन्तन है। दुर्भाग्य है कि भारत में यदि किसी व्यक्ति के पास इतिहास की उपाधि है, अथवा वह इतिहास पढ़ाने के कार्य में नियुक्त है, अथवा इतिहास से सम्बन्धित किसी विभाग या संस्था में काम कर रहा है, तो सामान्य जनता व स्वयं वही व्यक्ति अपने आप को 'इतिहासकार, इतिहास-लेखक, इतिहासज्ञ' मान लेते हैं। प्रोफ़ेसर वाल्श कहते हैं : "इतिहास-लेखकों में प्रायः उस सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का अभाव रहता है जो पर्याप्त पुनर्रचना के लिए ज़रूरी होती है···और वे प्रायः उन एकाकी तथ्यों का उल्लेख करने के लिए बाध्य हो

गए प्रतीत होते हैं जिनको वे एक संगत शृंखला में बद्ध भी नहीं कर पाते। ऐतिहासिक चिन्तन में पुनरुज्जीवित होने की प्रक्रिया प्रधान वस्तु है। कोलिंगवुड ने ब्रैडले का एक कथन प्रस्तुत किया है कि "इतिहास-लेखक की कसौटी यह है कि साक्ष्य के अध्ययन में अपने साथ 'कुछ' लेकर आता है, और यह 'कुछ' सहज, स्वाभाविक रूप में उसका 'स्वयं' ही है।"

ऐतिहासिक अनुसन्धान का पाँचवाँ आधारभूत तत्त्व यह है कि अन्वेषक इतिहासकार में किसी प्रकार की निष्ठा की झूठी भावना नहीं होनी चाहिये। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो कह सकते हैं कि सच्चे इतिहासकार को एक प्रकार का विद्रोही होना चाहिये। डाक्टर रेनियर सच्चे इतिहासकार को आश्वस्त करते हैं कि "इतिहासकार से अपने पूर्वजों के सम्मुख अन्ध-समर्पण की माँग कहीं, कभी नहीं की जाती है।" प्रोफ़ेसर वाल्श चाहते हैं कि "एक सच्चा इतिहासकार, उसको सौंपे गए तथ्यों अथवा विचारों की जाँच-पड़ताल करने के लिए प्रत्येक प्रकार की अत्यल्प और तकनीकी सामान्य जानकारी का स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग करे।" भारत में वृत्ति इसके सहज विपरीत रही है—अर्थात् परम्परागत मत का चरण-चुम्बन करने की रही है, और परम्परागत मान्यताओं के प्रति किसी भी प्रकार की शंका प्रकट करने वाले प्रत्येक प्रयत्न को धर्मद्रोह, पहले दर्जे की नास्तिकता से कलंकित किया जाता है।

ऐतिहासिक अनुसन्धान के लिए आवश्यक छठा तत्त्व असामान्य कल्पना प्रवणता, रचनात्मकता, क्षमता—अर्थात् श्रेष्ठ प्रतिभा है। जैसा श्री एफ० सी० एस० शिल्लर कहते हैं कि इस प्रकार की प्रतिभा उस समय अन्वेषक का रक्त खौलाकर और हृदय जलाकर आत्म-निरूपित होती है यदि "उस समय संदेह, शंका उत्पन्न हो जाती है जब कोई आरोपित सत्य हमें सन्तुष्ट करने में विफल हो जाता है।" दुर्भाग्यवश, भारतीय इतिहास में प्रचलित धारणाओं के विरुद्ध सैकड़ों शंकाएँ प्रस्तुत करने पर भी किसी व्यक्ति के कान पर जूँ तक रेंगी प्रतीत नहीं होती है।

वास्तविक अनुसन्धान की सातवीं आवश्यकता वह है जिसे श्री जी० एन० क्लार्क "स्वीकृत, मान्य निष्कर्ष के विवरणों को बारम्बार संशोधित और सही करने की तत्परता" कहते हैं।

ठीक-ठाक अनुसन्धान के लिए एक अन्य अनिवार्य वस्तु मनोविज्ञान-सम्बन्धी स्वतन्त्रता है। स्वर्गीय अमरीकी राष्ट्रपति फ्रैंकलिन डिलानो रूज़वेल्ट ने एक बार कहा था कि व्यक्ति तबतक सत्य की खोज नहीं कर सकता जबतक वह उसकी खोज करने के लिए स्वयं को स्वतन्त्र, मुक्त अनुभव नहीं करता। दुर्भाग्यवश, भारत में इतिहास से सम्बन्धित अध्यापक, प्रोफ़ेसर और सरकारी कर्मचारी-गण ऐसा अनुभव करते हैं कि उनको अफ़सरशाही-दफ्तरशाही के सींखचों के पीछे मुख-बन्धन और पिंजरे में बन्द रहने के लिए बाध्य किया जाता है। अतः, यह सहज स्वाभाविक ही है कि भारतीय इतिहास में किसी सार्थक अनुसन्धान कार्य का पूरा-पूरा अभाव हो, यद्यपि यहाँ खोज करने के लिए बहुत अधिक तथ्य पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं क्योंकि भारत में विदेशी राज्यशासन की हज़ारों वर्षों की अवधि में तोड़-मरोड़ों और विसंगतियों, विकृतियों के अम्बार-के-अम्बार लग चुके हैं।

भारतीय ऐतिहासिक अनुसन्धान में उपर्युक्त सभी आवश्यक बातों का घोर अभाव बहुत बड़ी सीमा तक रहा है—इसी कारण-वश विवश होकर प्रोफ़ेसर वाल्स को कहना पड़ा कि "कम-से-कम आधुनिक इतिहासकारों के सम्बन्ध में वैज्ञानिक स्तर का जो दावा बहुधा किया जाता है, वह ऐसा है जिसे सिद्ध नहीं किया जा सकता, जो स्वीकार नहीं किया जा सकता।" यह पर्यवेक्षण उन लोगों के सम्बन्ध में और भी अधिक सत्य है जिनको भारत में इतिहासकारों के नाम से पुकारा जाता है क्योंकि यहाँ तो साम्प्रदायिक और उग्रवादी विचारधाराएँ भी उनके अनुसन्धान-स्वातन्त्र्य में निरोध उत्पन्न करते हैं। इन्ही कारणों से प्रचलित ऐतिहासिक पाठ्य-ग्रन्थ भयंकर भूलों और भद्दी त्रुटियों से भरे पड़े हैं।

प्राचीन हिन्दू साम्राज्य के अस्तित्त्व की परख करने के मापदण्ड

अज्ञात अथवा मात्र अस्पष्ट भूतकालिक घटनाओं की जानकारी का संग्रह और सम्पादन करने की एक महत्त्वपूर्ण विधि है। वह विधि ज्ञात से अज्ञात की ओर जाने की है। यही वह विधि है जिसका उपयोग हम उस मापदण्ड की स्थापना हेतु करने वाले जिससे उन साम्राज्यों का अस्तित्त्व सिद्ध होता है जिसे इतिहास विलुप्त कर चुका है।

आइए, हम ब्रिटिश साम्राज्य का उदाहरण लें जो सन् १९४७ ई० से शनैः-शनैः खण्डित होना प्रारम्भ हुआ था। चूँकि विश्व के एक बहुत बड़े भाग पर ब्रिटिश लोगों का शासन था, इसलिए उन लोगों की भाषा—अंग्रेजी—अमरीका से आस्ट्रेलिया तक फैले विशाल भू-खण्ड में बोली जाने लगी। कहने का भाव यह है कि यदि कोई शक्ति दावा करती है कि उसका साम्राज्य बहुत विशाल था, तो उस शक्ति को यह अवश्य सिद्ध करना पड़ेगा कि उसकी भाषा का प्रभुत्त्व विश्व के एक बहुत बड़े भाग पर था।

दूसरा मापदण्ड धर्म अथवा जीवन-पद्धति के सम्बन्ध में है। जहाँ कहीं ब्रिटिश लोगों का शासन रहा, उनका धर्म अर्थात् ईसाई-मत मात्र ही नहीं, अपितु ईसाई-मत की छाया प्रोटेस्टेण्ट धर्म और इंग्लैंड के गिरजाघर के अनुयायी भी बहुत बड़ी संख्या में बन गये। इस बात पर यह प्रदर्शित करके और भी अधिक बल दिया जा सकता है कि भारत में गोवा का प्रदेश पुर्तगालियों द्वारा अधिशासित था, और पांडेचरी तथा अन्य छोटे स्थानों-ठिकानों पर सैकड़ों वर्ष तक फ्रांसीसी लोगों का शासन रहा था। चूँकि पुर्तगाली और फ्रांसीसी, दोनों प्रकार के लोग ही कैथोलिक सम्प्रदाय के थे,

इसलिए ईसाई-मत के ये वर्ग भारत की बस्तियों—उपनिवेशों में खूब पनपे, फूले-फले। उनकी भाषाओं को भी अपने-अपने क्षेत्रों में वहाँ के प्रबुद्ध जनों और प्रशासकों का पूर्ण संरक्षण मिला था। इस प्रकार यह सुस्पष्ट रूप में दर्शनीय है कि जहाँ कहीं कोई देश अपना आधिपत्य रखता है, वहाँ इसका धर्म व जीवन-पद्धति प्रचलित हो जाते हैं, जन-प्रिय बन जाते हैं।

किसी विलुप्त साम्राज्य के अस्तित्त्व को सिद्ध करने वाला तीसरा मापदण्ड विश्व के विशाल भू-भाग पर दिखायी देने वाली रीतियों, पौराणिकता, और उस साम्राज्य के नामों व देव-देवियों की विद्यमानता है। इस प्रकार, उदाहरण के लिए, जहाँ कहीं ब्रिटिश, फ्रांसीसी, पुर्तगाली, डच, जर्मन और इतालवी जैसी ईसा-शक्तियों ने शासन किया, वहीं रविवारीय प्रार्थनाओं और क्रिसमस-समारोह जैसी रीतियाँ, उनके नाम, क्रिस्त और मैरी जैसे उनकी देव-मूर्ति, बाइबल जैसी उनकी पवित्र पुस्तकें, उनकी पौराणिकता, उनके (पश्चिमी-प्रकार के) नाम उत्तरोत्तर रूप में अंगीकार किये जाने लगे। इसी प्रकार, अपनी मशाल और तलवार लेकर जब अरब के लोग विश्व पर छा गए, तब वे अफ्रीका से इण्डोनेशिया तक के विशाल भू-भाग के निवासियों को इस्लाम-धर्म स्वीकार कराने के लिए आतंकित करने में सफल हो गए। अब उन आतंकित धर्म-परिवर्तितों के वंशज ही अपने पूर्वजों के भयावह, यातनापूर्ण अनुभवों को भुला चुकने के कारण इस्लाम पर ही स्नेह-वर्षा करते रहते हैं जो अज्ञान की महिमा सिद्ध करता है। अतः, जो समुदाय यह दावा करता हो कि वह किसी समय विश्व की महान् शक्ति रहा था, उसे यह सिद्ध करना पड़ेगा कि विश्व के एक पर्याप्त बड़े भू-भाग में उस समुदाय की रीतियों, पौराणिकता, नामों और देवताओं-देवियों को स्वीकार किया गया था।

विश्वव्यापी साम्राज्य का चौथा मापदण्ड माप और नाप-तौल का है। जब कोई देश विश्व के विशाल भागों पर राज्य-शासन करता है, तब उसके माप और नाप-तौल की प्रणालियाँ उन प्रदेशों में भी प्रचलित हो जाती हैं। इस प्रकार, जिन प्रदेशों में ब्रिटिश लोगों ने शासन किया अथवा अनुपस्थित रहने पर भी वहाँ की राजनीतिक सत्ता अपने ही हाथों में रखी,

वहाँ ब्रिटिश लोगों के पौंड, टन, बुशल, फुट और गज़ जैसे नाप-तौलों को अंगीकार कर लिया गया था।

पाँचवाँ मापदण्ड समय का मापन है। इस प्रकार, जब यूरोपीय लोगों ने विश्व पर शासन किया, तब नव-वर्ष-दिवस के रूप में जनवरी के प्रथम दिन से प्रारम्भ होने वाले पश्चिमी पंचांग, सौरवर्ष, और सैकण्ड व मिनट जैसे लघु समय-विभाजनों को उद्धृत किया जाने लगा।

किसी समय अस्तित्त्व में रहे किन्तु अब विस्मृत साम्राज्य का छठा मापदण्ड शैक्षिक-नियन्त्रण है। जहाँ कहीं यूरोपीय शक्तियों ने शासन किया, वहीं उनकी विशेष शिक्षा-प्रणाली का अनुसरण किया जाने लगा। उनकी पाठ्य-पुस्तकों को अंगीकार किया गया, उनके अध्यापक प्रभावी बने रहे, उनकी भाषा शिक्षा का माध्यम बन गयी, और सामान्य रूप में उनकी प्रणाली, विधि और प्रशिक्षण को महत्त्व मिलने लगा अथवा सम्मान—गर्व की बात समझा जाने लगा।

एक विस्मृत साम्राज्य के अस्तित्त्व का निश्चय करने का सातवाँ मापदण्ड भौगोलिक और रूप-चित्रण सम्बन्धी नाम हैं। विश्व के किसी बड़े भू-भाग पर शासन करने वाला देश अपनी ही भाषा में और अपने ही देश के वीरों, नेताओं के नामों पर विजित भूमि-क्षेत्रों, सीमाओं, प्रदेशों, देशों, सागरों, नदियों, पहाड़ों, सड़कों और पुलों के नाम रखने की वृत्ति रखता है।

हम जब दावा करते हैं कि प्राचीन भारतीय क्षत्रियों का विश्वव्यापी साम्राज्य था, यद्यपि इतिहास इसको विलुप्त कर चुका है, तब हम इस दावे को ऊपर लिखे हुए मापदण्डों व उनकी व्याख्या की सहायता से ही सिद्ध करते हैं। ऐसा करने में हम कोई नयी बात न करके शिक्षा और ज्ञानार्जन की मान्य प्रणालियों का अनुसरण ही कर रहे हैं। उदाहरण के लिए, ज्यामिति में सर्वप्रथम एक बिन्दु और रेखा की परिभाषा करने से प्रारम्भ करके एक प्रमेय से दूसरे प्रमेय, सूत्र तक पहुँचा जाता है। विस्मृत ऐतिहासिक तथ्यों को सिद्ध करने में भी हम अप्रासंगिक, क्रम-हीन आभासित होने वाले सूत्रों से ही प्रारम्भ करते हैं। जिस प्रकार ज्यामितीय रेखा लघु, अस्पष्ट बिन्दुओं से मिलकर बनती है, उसी प्रकार एक सम्पूर्ण ऐतिहासिक

ग्रन्थ की रचना भी छोटे-छोटे, प्रत्यक्षतः नगण्य प्रतीत होने वाले सूत्रों को एकत्र कर इस प्रकार की जा सकती है कि वे अकाट्य-साक्ष्यों की एक सुदृढ़ कड़ी बन जाएँ।

सर्वप्रथम, यह भी पूछा जाना चाहिये कि यदि वास्तव में एक साम्राज्य कभी रहा है, तो इसका नाम-निशान इतिहास से किस प्रकार, क्योंकर नष्ट हो गया? एक प्राचीन हिन्दू साम्राज्य का उल्लेख इतिहास से क्यों विलुप्त हो गया? इसके कई स्पष्टीकरण हैं। एक स्पष्टीकरण यह है कि समय के असीमित विस्तार में बीती हुई घटनाएँ क्रमशः, शनैः-शनैः जन-स्मृति और अभिलेख से ओझल होती जाती हैं। इस बात को पाठक स्वयं अपने ही अनुभव से परख सकता है। यदि आपसे मात्र इतना ही पूछा जाय कि आप अपने पितामह के पितामह का नाम ही बता दें, तो आप हतबुद्धि हो जाएँगे, चक्कर में पड़ जाएँगे। जब आप अपने पितामह के पितामह का नाम भी नहीं जानते, तब उनके जीवन-चरित सम्बन्धी आपका ज्ञान तो स्पष्ट रूप में नहीं के बराबर ही होगा। इस आत्म-अनुभव से आपके लिए यह समझ पाना भी कठिन नहीं है कि आपके पौत्र के पौत्र के बारे में भी पूरी-पूरी सम्भावना है कि उसे आपका नाम भी कदाचित् पूर्णतः अज्ञात होगा। इसका कारण यह है कि उनको इस बात का कोई व्यावहारिक उपयोग नहीं होता है। इसी तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि हमारे इतिहास-ग्रन्थों में किसी प्राचीन विश्वव्यापी हिन्दू साम्राज्य का कोई उल्लेख क्यों समाविष्ट नहीं है। इतिहास-लेखक इसे भूल चुके हैं। प्राचीन हिन्दू साम्राज्य उनकी स्मृति से ओझल हो चुका है। किन्तु इसके विवरणों को उन विधियों से भ्रंशोद्धार किया जा सकता है जिनका उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं। नये साम्राज्यों के निर्माण होने के कारण प्राचीन हिन्दू विश्व-व्यापी साम्राज्य इतिहास से उसी प्रकार ओझल हो गया जिस प्रकार अनुवर्ती पीढ़ियों के कारण पूर्ववर्ती पीढ़ियाँ ओझल होती जाती हैं। नया आने पर पुराना जाना ही होता है।

प्राचीन हिन्दू विश्व-साम्राज्य को भुला देने का दूसरा कारण कलाकृति का विनाश, सत्यनाश है। जिस प्रकार सागर की उफनती, आगे बढ़ती हुई लहरों के कारण रेत पर लिखावट आहिस्ता-आहिस्ता मिटती जाती है,

उसी प्रकार अनुवर्ती शासन पूर्ववर्ती शासन के स्मरण-चिह्नों को नष्ट करते जाते हैं। प्राचीन हिन्दू विश्व-साम्राज्य के अभिलेखों और स्मरण-चिह्नों को ईसाई-प्रभुत्त्व की उन (आघातकारी) लहरों ने विनष्ट किया जिन्होंने पहले-पहल यूरोप को और बाद में विश्व के अन्य क्षेत्रों को अपनी चपेट में ले लिया था। हिन्दू साम्राज्य के जो कुछ चिह्न ईसाई-आघातों से बच पाये, वे भी एक अन्य दुर्दान्त आघात से समूल नष्ट हो गये। वह भीषण प्राण-घातक आँधी थी बर्बर अरब-वासियों की, जिसने इस्लाम के अभ्युदय के नाम पर सर्वनाश ढाया था।

इतिहास विनष्ट होने का तीसरा कारण विपदा और महाप्रलय हैं चाहे मनुष्य-प्रेरित हों अथवा प्राकृतिक जैसे, दुर्भिक्ष, आक्रमण, निर्धनता, ज्वालामुखी विस्फोट, भूचाल, नर-हत्याएँ और दीमक-क्षय आदि।

अत: मात्र इस तथ्य के कारण कि हमारे इतिहास-ग्रन्थों में किसी प्राचीन हिन्दू विश्व-साम्राज्य का उल्लेख नहीं किया जाता है, किसी व्यक्ति को व्यंग रूप में उपहास नहीं करना चाहिये अथवा अविश्वास के रूप में सिर नीचे नहीं लटका देना चाहिये यदि ऐसे किसी साम्राज्य का दावा ऊपर निर्धारित मापदण्ड की सहायता से सिद्ध किया जा सकता हो। जब ईश्वर अथवा मृत्यु के बाद जीवन जैसे सूक्ष्म विचारों, तत्त्वों के अस्तित्त्व को प्रमाणित करने के लिए दार्शनिक-युक्ति का उपयोग किया जाता है, तब कोई कारण नहीं है कि भूतकाल की घटनाओं को पुन: जोड़ने के लिए ठोस सूत्रों का उपयोग न किया जाये, उनका सहारा न लिया जाये।

एक प्राचीन साम्राज्य के अस्तित्त्व को सिद्ध करने का कार्य इस कारण और भी कठिन, दुष्कर हो जाता है कि आज 'साम्राज्य' की भावना के प्रति घृणा, असन्तोष, विरोध विद्यमान है। जनता उस शब्द मात्र से ही एक देश के लोगों द्वारा अन्य देशवासियों पर ढाये गये भीषण अत्याचारों, यातनाओं की कल्पना करने लगती है। परिणाम यह है कि ऐसे साम्राज्यों के अस्तित्त्व को सिद्ध करने वाले सूत्रों का अस्पष्ट रूप में भी ज्ञान रखने वाले व्यक्ति भी यह अनुभव करते प्रतीत होते हैं कि ऐसे साम्राज्य की स्मृतियों को भुला देना ही अच्छा है, अथवा इनको अदृश्य और अभिलेख-विहीन ही रहने दिया जाय तो श्रेयस्कर है।

यह दृष्टिकोण सर्वप्रथम तो अ-शास्त्रीय है। एक इतिहास-लेखक एक शिक्षा-शास्त्री ही है। उसे राजनीति से डोलायमान, प्रभावित नहीं होना चाहिये। एक शिक्षक के रूप में उसका कर्तव्य है कि वह उन तथ्यों की खोज करे जो अज्ञात हैं अथवा जिनकी पूरी-पूरी जानकारी नहीं है। दूसरी बात यह है कि एक प्राचीन हिन्दू विश्व-साम्राज्य की अनुभूति रखने में अन्यमनस्कता का भाव भी अज्ञान का परिचायक है। हिन्दू साम्राज्य, ईसाई और मुस्लिम साम्राज्यों से सर्वथा भिन्न था, अत्याचारी नहीं था। इसमें और अन्य साम्राज्यों में आकाश-पाताल का अन्तर था।

जिस प्रकार कोई व्यक्ति अँधेरे में अथवा अज्ञात स्थान पर जाते समय अपने हाथ में एक लकड़ी अथवा अन्य उपकरण रखता है, उसी प्रकार हिन्दू विजेता और समन्वेषक-गण विश्व के समस्त भागों में गये थे, किन्तु निश्चित है कि उनके साथ सेनाएँ भी गयी थीं। किन्तु वह बात कुछ पश्चिमी निष्क्रमणार्थियों जैसी थी जिन्होंने अमरीकी उपद्वीपों के वन-खण्डों में अपनी बस्तियाँ बसाई थीं और दोनों ध्रुव-प्रदेशों के बर्फीले भू-भागों को खोज निकाला था। वे लोग तो ज्ञान के समस्त क्षेत्रों की विधाओं को आगे बढ़ाने, राजनीतिक स्वतन्त्रता दिलाने, सामाजिक क्रान्ति करने और वैज्ञानिक खोज करने की भावना से प्रेरित थे।

प्राचीन हिन्दुस्थान (भारत) से हिन्दुओं (अर्थात् आर्यों) का विश्व के शेष भागों में प्रवेश करना अत्यन्त जटिल और परहित लाभ की भावना से ही था। वह पहला मानव-समुदाय था जिसने न केवल भौतिक प्रगति की थी, अपितु एक ऐसी सामाजिक और राजनीतिक प्रणाली की सृष्टि की थी जिसने सभी मानवों के लिए इस पृथ्वी को सभी का घर घोषित किया था—यह घर ऐसा था जिसमें सामाजिक क्षेत्र में जितना ऊँचा कोई व्यक्ति उठ जाता था, उतना ही उसका जीवन मितव्ययी, संयमी होता था। इस प्रकार, सामाजिक क्रान्ति की ब्राह्मण-पदवी (स्तर) पर पहुँचने वाले व्यक्तियों का कर्तव्य था कि वे अपने पास चल-अचल सम्पत्ति का एक भी कण न रखें और सेवा-निवृत्ति की आयु प्राप्त करने पर सभी सांसारिक-धन्धों का परित्याग कर दें। जो ब्राह्मण-स्तर तक पहुँच पाने में विफल होते थे, और स्वयं को क्षत्रिय-स्तर तक रखने में ही सन्तुष्ट थे, उनमें भी मानव-

समुदाय की परम-सेवा के उद्देश्य से स्वयं में शौर्य, साहस और नेतृत्व के उच्चतम-स्तर निर्माण करने की अनिवार्य आवश्यकता होती थी।

अनुवर्ती शासन किस प्रकार पद-दलित विश्व पर ग़लत धारणाओं को थोंप देता है, इस तथ्य को पश्चिमी पाठ्य-पुस्तकों के सन्दर्भ में भलीभाँति दर्शाया जा सकता है। उन पुस्तकों ने २०वीं शताब्दी के बुद्धिजीवी संसार के कानों में ठूँसने का यत्न किया है कि ईसाई-मत के अभ्युदय से पूर्व मानव आदिम-स्तर पर था और ये तो पश्चिमी समन्वेषक, भूगोलवेत्ता और वैज्ञानिक लोग ही थे जिन्होंने सर्वप्रथम यह खोज निकाला कि पृथ्वी गोलाकार थी, इसका विषुवत् घेरा लगभग २५,००० मील का है, उनके प्रवर्तकों ने ही सर्वप्रथम अज्ञात अमरीकी उपद्वीपों का पता लगाया था, और ये तो उन्हीं के विद्वान् लोग थे जिन्होंने औषधों, ज्यामिति आदि का विकास किया था।

इन निराधार दावों को क्षण-भर में ही यह स्पष्ट संकेत करके निरस्त किया जा सकता है कि भारतीय खगोल-शास्त्र, जो अविचारणीय प्राचीनता का शास्त्र है क्योंकि चाहे हम कितने ही प्राचीन युग का विवरण क्यों न लें, हमें उसमें भी यह विद्यमान दृष्टिगोचर होता है, यथार्थतः सत्य रूप में ग्रहणों और अन्य ब्रह्माण्डिक घटनाओं की भविष्यवाणियाँ करता रहा है। क्या प्राचीन हिन्दू यह जाने बिना ही कि भूमि और अन्य ग्रह गोलाकार थे, भूमि का विषुवत् घेरा लगभग २५,००० मील का था आदि-आदि, ब्रह्माण्डिक गणित में इतनी दक्षता प्राप्त कर सकता था? तथ्य तो यह है कि हमारी अपनी अन्तरिक्ष-यान वाली पीढ़ी के सबसे अधिक बुद्धिमान् व्यक्ति से भी, खगोल-शास्त्रीय ज्ञान के सम्बन्ध में उनकी पूर्णता अधिक थी। यह बात उनकी अत्यधिक वैज्ञानिक शब्दावली में प्रत्यक्ष है; यथा सौर-प्रणाली में सबसे बड़े ग्रह 'बृहस्पति' का नाम 'गुरु' अर्थात् 'महान्' अथवा 'बड़ा' है; 'मंगल' के लिए 'कुजा' शब्द है जो इस बात का द्योतक है कि मंगल ग्रह पृथ्वी से अलग हो गया था'''आदि। यदि प्राचीन हिन्दू लोग पृथ्वी का घेरा और उसका कुल फेरा—प्रसार जानते थे, तो क्या यह कहना ठीक प्रतीत होता है कि जबतक १५वीं शताब्दी में कोलम्बस ने अमरीका को नहीं खोज निकाला था, तबतक उनके बारे में किसी को भी

ज्ञान नहीं था ? इस तथ्य से किसी ऐतिहासिक-तर्क का अनुसरण करने की सामर्थ्य उत्पन्न करने का और ज्ञात तथ्यों से परिणाम पर पहुँचने का महत्त्व प्रत्यक्ष हो जाता है।

खगोल-शास्त्र के समान ही, प्राचीन हिन्दुओं के बारे में यह भी ज्ञात है कि उन्होंने चिर अतीतकाल से ही अपना शिल्प, वास्तुकला, संगीत, आयुर्वेद नाम से विख्यात औषध-प्रणाली, दार्शनिक सिद्धान्त और त्रि-गुण-मिति (क्योंकि तीन कोणों का मापक यह संस्कृत शब्द है) आदि विकसित कर लिये थे। तब क्या यह निष्कर्ष निकालना अशुद्ध है कि उन्होंने उसी प्रकार की प्रगति सभी कलाओं और विज्ञानों में भी कर ली थी क्योंकि मानव-शिक्षा और अन्य विकास सभी प्रकार परस्पर आधारित है ? यदि मानव के मस्तिष्क में प्रतिभा के विभिन्न प्रकारों के कोशों को स्पष्ट रूप में परखा जा सके, तो ऐसा कभी ज्ञात नहीं हो सकेगा कि एक युग में, एक विशेष समुदाय में उन कोशों में से कुछ ही आश्चर्यजनक उच्च-स्तर पर कार्य करते रहे तथा अन्य सभी कोश आदिम स्तर पर सुषुप्तावस्था में ही पड़े रहे। इसी के साथ-साथ सभी विज्ञान और कलाएँ परस्पर निर्भर होने के कारण एक में हुई विशाल और आकर्षक प्रगति मानव-कार्य की अन्य शाखाओं में उसी प्रकार की प्रगति को भी तथ्यत: सिद्ध करती है।

इस थोड़े-से विषयान्तर के पश्चात्, आइए हम अपने मुख्य विषय की ओर फिर ध्यान दें। एक प्राचीन विश्व हिन्दू साम्राज्य की आधार-सामग्री संग्रह करने के कारण किसी प्रकार का संकोच करने की आवश्यकता नहीं है। प्राचीन हिन्दू शासकों, प्रशासकों, अध्यापकों और समाजशास्त्रियों का विश्वव्यापी मन्त्रमुग्धकारी प्रभाव किसी भी प्रकार लज्जाकारी नहीं था। वे उस समय विश्व में फैले थे जब मानवता आदिम-स्तर के जटिल निदेशन और नेतृत्व की टोह ले रही थी। ठीक प्रकार से समझ लेने की यह पहली बात है। दूसरी समझने की बात यह है कि लोगों को बलात् ईसा अथवा मुहम्मद को स्वीकार कराने वाले ईसाइयों और मुस्लिमों से सर्वथा भिन्न, हिन्दुओं ने तो मात्र ऐसे नियमों और सिद्धान्तों को प्रयोग में लाया जैसे माता-पिता अपनी सन्तानों पर लागू करते हैं; यथा रात्रि को जल्दी सोना और प्रात: शीघ्र उठ जाना, सत्य बोलना, कठिन परिश्रम करना, परहित

करना, विवाह में ईमानदारी—एकनिष्ठा, मानव-सौहार्द्र की भावना और सभी प्रकार के जीवन के प्रति सम्मान करना। इस प्रकार, हिन्दू प्रशासन प्रत्येक प्रकार के आग्रहों, मत-मतान्तरों, उग्रवाद और शोषण से सर्वथा रहित था। किसी भी प्रकार की ताड़ना मात्र सुधार की दृष्टि से ही वैसे थी जिस प्रकार माता सुधार की भावना और प्रेम-वश ही अपने बालकों से व्यवहार करती है। इस तथ्य का एक विशिष्ट प्रमाण यह है कि भारतीय शासक, प्रशासक और अध्यापक जहाँ कहीं भी गये, वे वहीं बस गये और स्थानीय जनता के साथ आत्मसात हो गये। हिन्दुओं ने उन स्थानीय लोगों को कभी भी द्वितीय-श्रेणी का नागरिक अथवा तिरस्कार के पात्र नहीं समझा। उनका यह आचरण उन अरबों, तुर्कों, फ़ारसियों और अन्य मुस्लिम समुदायों से सर्वथा भिन्न था जिन्होंने विगत हज़ार वर्षों में भारत पर आक्रमण किये और अपने ही मत-मतान्तरों, सिद्धान्तों को विजित लोगों पर थोपा था।

विस्मृत इतिहास के बारे में मानव-ज्ञान को अग्रसर करन के लिए महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सूत्रों का सदुपयोग करने के सम्बन्ध में शैक्षिक आवश्यकता का दिग्दर्शन कराने और यह स्पष्ट कर देने के बाद कि प्राचीन हिन्दुओं के विश्व-साम्राज्य की स्मृतियों को पुनः सजग करने में कोई लज्जा की बात न होकर समस्त मानवता के लिए गर्व की बात है, हम अब मापदण्ड के उन सूत्रों पर विचार करेंगे जो इस साम्राज्य के अस्तित्त्व को प्रमाणित करते हैं।

हम अब एक-एक करके स्पष्ट करेंगे कि किस प्रकार हमारे द्वारा समीक्षित उपर्युक्त सातों मापदण्डों में से प्रत्येक मापदण्ड प्राचीन हिन्दुओं के विस्मृत विश्व-साम्राज्य के अस्तित्त्व को प्रमाणित करता है।

प्राचीन हिन्दू लोग जिस भाषा का प्रयोग करते थे वह संस्कृत थी जैसाकि वेदों से प्रत्यक्ष है जो संस्कृत में हैं और जिनको सामान्यतः स्वीकार किया गया है कि वे ही मनुष्य-विरचित प्राचीनतम साहित्य है जो आज भी विद्यमान है। अतः, यदि अन्य भाषाएँ संस्कृत से कुछ भी मेल खाती हैं, तो स्पष्ट रूप में वे संस्कृत से ही व्युत्पन्न हैं, समानान्तर नहीं हैं। सभी तथाकथित भारो-आर्य भाषाएँ संस्कृत की व्युत्पत्तियों के अतिरिक्त कुछ भी

नहीं हैं, चूँकि संस्कृत भाषी हिन्दुओं ने विश्वभर में संस्कृत भाषा का प्रचार-प्रसार किया था और सभी लोगों को संस्कृत भाषा के माध्यम से ही शिक्षित किया था। 'ट्रिगोनोमेट्री' शब्द के सन्दर्भ से यह बात पहले ही प्रदर्शित की जा चुकी है कि वे संस्कृत शब्द नाम आज भी किस प्रकार प्रचलन में हैं। तथ्य तो यह है कि प्राचीन हिन्दू साम्राज्य के अस्तित्त्व का बोध कराने वाला स्पष्टीकरण शिक्षा की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्व की बात है क्योंकि इस प्रकार के साम्राज्य का अस्तित्त्व मात्र ही पर्याप्त सन्तोषजनक रूप में स्पष्टी-करण प्रस्तुत कर पाता है कि आज भी ग्रीक, लैटिन, इतालवी, जर्मन, फ्रैंच, स्पेनिश, अंग्रेजी, रूसी और अन्य यूरोपीय भाषाओं, फ़ारसी, पश्तो, तुर्की और सुदूर पूर्व की अन्य अधिकांश भाषाओं में संस्कृत भाषा का पर्याप्त अंश क्यों विद्यमान है।

प्रसंगवश, यह भी कहना उचित है कि भारो-आर्य (इण्डो-आर्यन) पदनाम भ्रामक शब्दावली है क्योंकि 'भारतीय' और 'आर्य' पर्यायवाची हैं। 'आर्य'-धर्म तो हिन्दुओं की जीवन-पद्धति थी। इसलिए, जो कुछ भी आर्यन है, वह भारतीय है। अत: इण्डो-आर्यन शब्दावली एक ही विचार की प्रति-लिपि है। तब यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिये कि किस प्रकार इण्डो-आर्यन शब्दावली दुहरे रूप में भी मध्य और सुदूर-पूर्व की भाषाओं के साथ-साथ सभी यूरोपीय भाषाओं के भारतीय मूल को प्रधानता देती है।

हमने दूसरा मापदण्ड 'धर्म' उल्लेख किया था। भारतीय धर्म अर्थात् भारतीय जीवन-पद्धति प्राचीन विश्व के विशाल भू-भाग पर प्रसारित हो चुकी थी। हिन्दू देवता 'शिव' की पूजा सुदूर-पूर्व में जापान से लेकर सुदूर पश्चिम में अमरीकी महाद्वीप तक प्राचीन विश्व के लगभग सभी भागों में होती थी। सूर्य और गौ, और सर्प व ग्रहों की पूजा भी विश्व के अधिकांश भागों में होती थी—हिन्दुओं की ही भाँति। 'आर्य' वह शब्द है जो हिन्दू अर्थात् प्राचीन भारतीय जीवन-पद्धति का द्योतक है। चूँकि आर्य जीवन-पद्धति प्राचीन विश्व के एक बहुत बड़े भू-भाग पर फैल चुकी थी, इसीलिए हम अभी भी देखते हैं कि सभी यूरोपीय, ईरानी, तुर्की अन्य बहुत सारे राष्ट्र सगर्व, अपने-आपको आज भी आर्य कहते हैं। उनमें से कुछ राष्ट्रों ने अभी भी आर्य-चिह्न अंगीकार किये हुए हैं; यथा जर्मनों ने स्वस्तिक और यहूदियों

ने सोलोमन का तारक अर्थात् षटकोणी शक्ति-चक्र शिरोधार्य किए हुए हैं।

तीसरा मापदण्ड हमने पौराणिकता, रीतियाँ, नाम और देव-देवियाँ बतायी थीं। यह प्रदर्शित किया जा सकता है कि प्राचीन विश्व ने इनको भारत से ही प्राप्त किया था। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि किस प्रकार सम्पूर्ण विश्व में हिन्दू-देवता शिव की पूजा हुआ करती थी। इसी की पूजा उन स्थानों पर भी हुआ करती थी जिनको आज ईसाई-मत और इस्लाम के मुख्यालय समझा जाता है—अर्थात् इटली के वेटिकन में और मक्का में। ईसाई पादरी पोप के पूर्वज हिन्दू पुरोहित थे। उनकी 'वेटिकन' संस्कृत शब्द वाटिका अर्थात् वन्य कुटिया है। वेटिकन-परिसर की दीवारों और कोठरियों में गड़े हुए बहुत सारे शिव-लिंग हैं। बहुत सारे ऐसे शिव-लिंग के प्रतिरूपों को इटली में खोदकर निकाल लिया गया है। वेटिकन में पाये गये अनेक शिवलिंगों में से एक वेटिकन-स्थित एट्रूस्कन संग्रहालय में सुरक्षित रखा है। मनुष्यों और पशुओं-पक्षियों को सम्मोहित करने वाले बाँसुरी के बजैया हिन्दू कृष्ण की मनोहर कथा स्कैण्डीनेवियन और इटेलियन परम्पराओं की अभी भी महत्त्वपूर्ण अंश है। 'अमुन्दसेन' और 'सोरेनसेन' जैसे स्कैण्डीनेवियन शब्दों में 'सेन' अन्त्य-शब्द भद्रसेन और उग्रसेन के समान अन्त्य-शब्दों की ही भाँति अन्त्य-शब्दांश हैं। अंग्रेजी शब्द 'बोरो' का स्पष्टीकरण, अंग्रेजी शब्दकोश के अनुसार, 'एक दुर्गयुक्त स्थान' के अर्थ-द्योतक 'दुर्ग' से व्युत्पन्न बताया गया है। यह स्पष्टतः संस्कृत शब्द 'दुर्ग' है। ब्रिटिश लोगों को अज्ञात इस शब्द से व्युत्पन्न अन्य संस्कृत शब्द 'पुरा' है जो एक उप-नगर अथवा बस्ती का द्योतक है। अंग्रेज़ लोग 'पुरा' को 'पोर' करके उच्चारण करते हैं जैसे 'सिंहपुर' को 'सिंहापोर', और 'प' प्रायः 'ब' में बदल जाता है। इस प्रकार, संस्कृत 'पुरा' अंग्रेजी 'बोरो' हो गया है। जहाँ तक अन्य देशों का सम्बन्ध है, भारत और स्कैण्डीनेविया की पौराणिकता में बहुत समानता है। स्लाव लोग (अर्थात् चैकोस्लोवाक्स, यूगोस्लोव्स आदि) भी प्राचीन युग में हिन्दू-देवता इन्द्र, यम उपनाम मोक्ष (मृत्यु-देवता), वरुण (जल-देवता), और हरिदाश्व उपनाम होर्देस (अर्थात् सूर्य) और अनेक अन्य देवताओं की पूजा-अर्चना किया करते थे—ऐसा भलीभाँति ज्ञात ही है।

साइबेरिया में, जब कोई व्यक्ति गम्भीर रूप में बीमार हो जाता है, तब स्थानीय लोग इस युग में भी हिन्दू-देवता 'आयु' की पूजा करते हैं जो दीर्घायु देने वाला है। यह रीति एक प्राचीन हिन्दू रीति है—इस बात का उल्लेख दक्षिण भारत के अय्यर हिन्दू ब्राह्मण-वर्ग के बारे में लिखित डमा सीताराम के लेख में भी किया गया है। यह लेख (बम्बई से प्रकाशित) 'दि इलस्ट्रेटेड वीकली ऑफ इण्डिया' के २३ जून, १९७२ के अंक में प्रकाशित हुआ था। उस अंक के पृष्ठ ८ पर दिये गये एक चित्र का शीर्षक 'आयुष्यहोमम्' दिया गया है। माता-पिता की यह पद्धति है कि वे अपनी सन्तान के जन्म दिवस पर हवन करते हैं (अर्थात् पवित्र अग्नि को भेंट चढ़ाते हैं)। आयु-देवता अर्थात् मनुष्य के जीवन-काल का अधिष्ठाता देव और मृत्युंजय (मृत्यु को पराजित करने वाला शिव) का आह्वान किया जाता है। जापानी लोग भी अपने 'शिन्तो' देवालयों में हिन्दू देवताओं की आराधना करते हैं। तथ्य तो यह है कि 'शिन्तो' शब्द स्वयं ही सिन्धु-क्षेत्र के धर्म अर्थात् हिन्दू-धर्म के सिन्धु अर्थात् हिन्दू शब्द का अपभ्रंश रूप है। इस तथ्य का उल्लेख तो हमारे इतिहास-ग्रन्थों में अभी भी किया जाता है कि अफ़गानिस्तान से कोरिया तक फैला हुआ क्षेत्र हिन्दू-धर्म का अनुसरण करता था। किन्तु यही नहीं, अमरीका की मय और इंका सभ्यताएँ भी प्राचीन हिन्दू सभ्यताएँ ही थीं। विश्वभर में फैला हुआ बौद्ध-मत भी अनुवर्ती हिन्दू-मत है जो स्वतः उन्हीं क्षेत्रों में पूर्वकालिक पुरातनवादी हिन्दू धर्म के अस्तित्त्व को सिद्ध करता है। राजाओं को सम्बोधन करने के लिए प्रयुक्त (सिंह का अर्थ-द्योतक) हिन्दू पद 'केसरी' जर्मन और रोमन सम्राटों के लिए 'कैसर' के रूप में प्रयुक्त आज भी देखा जा सकता है। हिन्दू सम्मानोपाधि 'श्री' को भी इंग्लैंड में 'सर' और दक्षिणी यूरोप में 'साइनर' के रूप में विश्व के सभी भागों में प्रचलित देखा जा सकता है। महिला के लिए हिन्दू सम्मानोपाधि 'श्रीमती' है जो 'साइनरीता' के रूप में यूरोप में अभी भी प्रयोग की जाती है।

एक विलुप्त विश्व-साम्राज्य के अस्तित्त्व को पुनः खोज निकालने के लिए हमने चौथे मापदण्ड के रूप में माप-तौलों के व्यापक प्रचलन का उल्लेख किया था। कवियों से दर्जियों तक के विभिन्न-वर्गीय व्यक्तियों

द्वारा 'मीटर' माप का विश्वव्यापी व्यवहार हिन्दू शब्द 'मात्रा' का ही उपयोग है जो हिन्दू ओषधियों, कविताओं और अन्य वस्तुओं का परिमाण प्रस्तुत करने में काम में आता है। १२ इंचों और पद्य की पंक्ति के विभाजन का अर्थद्योतक अंग्रेजी 'फुट' शब्द संस्कृत के 'चरण' शब्द का यथार्थ रूपान्तर है जिसका स्वयं अर्थ 'फुट' है।

पाँचवाँ मापदण्ड समय का माप है। जैसा इसी पुस्तक में अन्यत्र स्पष्ट किया जा चुका है, क्षण से लेकर मिनट-दिन-मास और वर्ष तक के सभी हिन्दू समय-परिमापों का अनुसरण ही सम्पूर्ण विश्व करता रहा है। यह सब सम्भव नहीं हुआ होता, यदि हिन्दुओं ने प्राचीन विश्व पर प्रशासन न किया होता और उसे शिक्षित न किया होता।

एक विस्मृत साम्राज्य के अस्तित्त्व को पुनः जोड़ने वाला छठा मापदण्ड शिक्षा-नियन्त्रण है। यह स्वीकार किया जा चुका है कि ये तो भारतीय ही थे जिन्होंने प्राचीन विश्व को शिक्षित किया था। सामान्यतया यह कल्पना की जाती है कि भारतीयों ने अरबों को शिक्षित किया था और बाद में इन्हीं अरबों द्वारा सम्पूर्ण यूरोप को शिक्षित किया गया था। इस धारणा में तनिक परिमार्जन अभीष्ट है। चूँकि यूरोप और अमरीका की ओर जाने वाले भारतीय शिक्षकों और प्रशासकों के मार्ग में साइबेरिया एक पड़ाव-स्थल था, इसलिए यह अशुद्ध कल्पना की गई है कि अरब लोगों ने ही पश्चिमी विश्व को शिक्षित किया था। तथ्य तो यह है कि भारतीय लोगों ने एक ही साथ एशिया, यूरोप और अमरीका-द्वय जैसे सभी महाद्वीपों में प्राचीन विश्व के सभी शेष भागों को भी शिक्षित किया था। साथ ही, चूँकि प्राचीन हिन्दू लोग सम्पूर्ण मानवता को भ्रातृत्त्व की दृष्टि से देखते रहे, इसलिए इस बात से कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता था कि यूरोप अथवा अमरीका-द्वय जाने वाले शिक्षक वास्तव में भारत के निवासी थे, अथवा अरब या अन्य किसी देश के। इस बात का इसलिए भी कोई महत्त्व नहीं था क्योंकि वे सभी हिन्दू धर्मानुसार ही जीवन-यापन करते थे और विज्ञानों, कलाओं व धार्मिक-कार्यों में समान ज्ञान रखते थे। हिन्दू शासन के अन्तर्गत कोई राष्ट्रीय या राजनीतिक व्यवधान नहीं थे। किसी भी मानव को एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के पारगमन-पत्र अथवा प्रवेश-पत्र की आवश्यकता

नहीं थी क्योंकि प्राचीन हिन्दू विश्व के प्रति अपने उदारमना दृष्टिकोण से भूमि के क्षेत्रों और उन क्षेत्रों के निवासियों के पुरुष और महिलाओं के मध्य किसी भी प्रकार का भेद-भाव करने के भाव को तिरस्कृत करते थे। विश्वभर में अंगीकृत धार्मिक सभी पाठ और विज्ञान व कलाएँ हिन्दुओं की ही थीं—इस बात को ट्रिगोनोमेट्री शब्द के उद्धरण से ऊपर दर्शाया ही जा चुका है। यह भी स्मरण रखा जा सकता है कि अरब वाले जिसे ओषधियों का यूनानी प्रकार कहते हैं, वह हिन्दू आयुर्वेद के अतिरिक्त कुछ नहीं है। स्पष्ट रूप में बात यह है कि इस विज्ञान का 'यूनानी' शब्द इस तथ्य का द्योतक है कि भारत के ओषधि-विशेषज्ञ अरब देश जाने के लिए उस मार्ग से जाते रहे हैं जिसे हम आज 'यूनान' कहते हैं। यह तथ्य हमारे उपर्युक्त उस कथन का समर्थन करता है कि वह धारणा सही नहीं है कि अरब-वासियों ने ही यूरोप में भारतीय ज्ञान का प्रचार-प्रसार किया था।

हमने किसी प्राचीन विस्मृत-साम्राज्य की परख करने के लिए जिस सातवें मापदण्ड का उल्लेख किया था, वह शासक समुदाय की भाषा और रुचि के अनुसार विश्वभर में प्रचलित भौगोलिक और स्थानीय नामों का अस्तित्व है।

प्राचीन भूगोल संस्कृत नामों से भरा पड़ा है। बलूचिस्थान, अफगानिस्थान, कुर्दिस्थान, क़ाफिरिस्थान, (चीनी) तुर्किस्थान, ग़ाबुलिस्थान, घरूचिस्थान, (अरेबिया के रूप में अपभ्रंश) अर्बस्थान, कज़ाकस्थान, उज़बेकस्थान आदि में ('स्थान' रूप में अपभ्रंश) 'स्थान' प्रत्यय से समाप्त होने वाले सभी स्थान-वाचक नाम संस्कृत भाषायी हैं। इसी प्रकार, ब्रह्मदेश (बर्मा), जावा, सुमात्रा, मलय, सिंहपुर, इराक, ईरान (जो इरावती के समान, जो अपभ्रंश रूप में इर्रावाडी उच्चारण किया जाता है, 'इर्' धातु से व्युत्पन्न है) सभी संस्कृत नाम हैं। इंग्लैंड, ड्यूशलैंड आदि में 'लैंड' शब्द के साथ समाप्त होने वाले सभी शब्द संस्कृत भाषा के हैं। 'सीरियन' और 'असीरियन' शब्द 'सुर' और 'असुर' समुदायों के द्योतक हैं जिनका उल्लेख भारतीय महाकाव्यों में किया गया है। उनका भारत से सम्पर्क समाप्त होने से पूर्व वे सभी देश संस्कृत भाषा बोलते थे। निशापुर, जनदीशपुर, रामसर, नव बहार और समरकन्द नाम से पुकारे जाने वाले

नगर और 'श्र्यूसबरी', 'ऐन्सबरी' व 'वाटरबरी' में 'बरी' अन्त्य-शब्द वाली बस्तियाँ जो इंग्लैंड में हैं, सभी संस्कृत शब्दावली हैं।

इस प्रकार हम स्पष्ट देखते हैं कि एक प्राचीन हिन्दू साम्राज्य के अस्तित्व को परखने वाले सभी मापदण्ड किस प्रकार, बिना किसी दोष के, ऐसे ही एक साम्राज्य के अस्तित्व की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं, यद्यपि यह तथ्य जन-मानस की स्मृति से ओझल हो चुका है। भविष्य में प्रकाशित होने वाली ऐतिहासिक पाठ्य-पुस्तकों और अन्य ग्रन्थों में इन सभी विलुप्त अध्यायों का पुनर्लेखन होना चाहिये जिनकी प्राचीन हिन्दू विश्व-साम्राज्य के सन्दर्भ में हम चर्चा कर आये हैं और कुछ ऐसे ही अन्य विलुप्त अध्याय भी हो सकते हैं जो भविष्य में खोजे जा सकें। लोगों को अपनी यह वृत्ति भी त्याग देनी चाहिये कि यदि उनको इतिहास-ग्रन्थों में किसी घटना का उल्लेख समाविष्ट नहीं मिलता, तो वे यह मानने में अन्धाधुन्ध अन्धानुकरण करें कि वह घटना हुई ही नहीं होगी। मानव त्रिकालज्ञ न होने के कारण, उसका ज्ञान कभी भी पूरा अथवा पूर्ण नहीं है। ज्ञान ओझल होता रहता है और इसको पुनः खोजना ही होता है। यही कारण है कि विद्यालय की परीक्षाओं में परीक्षार्थियों को सिखाया जाता है कि वे विचार करें और दिये गए टूटे-अधूरे वाक्यों में विलुप्त शब्दों को भरें। इतने सुविचार के बाद विद्यालय-पाठ्यक्रमों में सम्मलित की गयी इस विधा को कभी विस्मृत नहीं करना चाहिये। वह एक महत्त्वपूर्ण विधा है जो वयस्क को इस योग्य बनाती है कि वह ज्ञान की अन्य शाखाओं में भी विलुप्त प्रकरणों को प्रदान करे। ऐसी अन्य शाखाओं में इतिहास भी एक अत्यधिक आवश्यक, महत्त्व-पूर्ण शाखा है।

हिन्दू विश्व-साम्राज्य के अवशेष

समय के अनन्त विस्तार में अनेक तथ्य अप्राप्य रूप में गुम और विस्मृत हो जाते हैं। ऐसा ही एक तथ्य प्राचीन हिन्दुओं के विश्व-व्यापी साम्राज्य का है। इस २०वीं शताब्दी के हमारे इतिहास-ग्रन्थों में एक प्राचीन, विश्व-व्यापी हिन्दू साम्राज्य का कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसका कारण कुछ अंश में अज्ञान है, और कुछ अंश में प्रतिकूलता। सम्पूर्ण विश्व के लोगों के दिमाग़ों को इस प्रकार साफ़ कर दिया गया है कि वे प्राचीन हिन्दुओं के उस विश्व-व्यापी साम्राज्य के सभी आवर्ती चिह्नों और प्रमाणों की अवहेलना कर देते हैं, और आज यदि कोई व्यक्ति दावा करता है कि ऐसा एक हिन्दू साम्राज्य किसी समय अवश्य विद्यमान था तो उसे या तो बेवकूफ़ समझा जाता है अथवा धोखेबाज, बे-ईमान।

तथापि, सौभाग्यवश, हमें सम्पूर्ण विश्व में इधर-उधर बिखरे हुए उस साक्ष्य के चिह्न मिलते हैं, जिनको यत्नपूर्वक एकत्रित कर देने पर किसी व्यक्ति के मन में यह सन्देह नहीं रह जायेगा कि प्राचीन हिन्दुओं का साम्राज्य किसी समय विद्यमान था।

पुराना इतिहास आहिस्ता-आहिस्ता विस्मृत और विलुप्त होता जाता है—इसके दो मुख्य कारण हैं। एक कारण यह है कि जब कभी किसी नयी पीढ़ी का जन्म होता है, उससे पुरानी एक पीढ़ी का इतिहास उत्तरोत्तर रूप में भूलता जाता है। किसी व्यक्ति से पूछो कि वह अपने पिता के सम्बन्ध में क्या-कुछ जानता है। वह उनके जीवन के सम्बन्ध में थोड़ा-बहुत कुछ जानता होगा। अपने बाबा-पितामह—पिता के पिता—के सम्बन्ध में तो वह और भी कम ज्ञान रखता होगा। और अपने प्रपितामह के सम्बन्ध में तो कदाचित् वह उनका नाम भी नहीं जानता होगा। यह तथ्य स्पष्ट रूप में

प्रदर्शित करता है कि किस प्रकार, ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है, विस्मृति की प्राकृतिक प्रक्रिया द्वारा, पूर्वकालिक पीढ़ियों का इतिहास उपेक्षा, विस्मृति के कूप में धकेल दिया जाता है। यह सहज, स्वाभाविक ही है क्योंकि अभिलिखित तथ्यों को स्मरण रखने अथवा सँजोये रखने की मानव-सामर्थ्य सीमित है।

इतिहास क्यों लुप्त और विस्मृत हो जाता है—इसका अन्य महत्त्वपूर्ण कारण मानव वैर-भाव और प्रतिद्वन्द्विता है। अहितेच्छु अनुवर्ती लोग मशाल और तलवार, हथौड़ा और दराँती हाथ में लेकर, चारों ओर गये और विभिन्न प्रकार से परवर्ती सभ्यताओं के चिह्नों को तोड़-फ़ोड़ते, जलाते और विनष्ट करते रहे। इस प्रकार, प्राचीन हिन्दू साम्राज्य के चिह्न ईसाई-मत और इस्लाम के सुनियोजित आघातों से शनैः-शनैः नष्ट होते गये।

यूरोप और अमरीका-द्वय में सर्वप्रथम ईसाई-मत ही था जिसने वहाँ से हिन्दू साम्राज्य के अवशेषों को नष्ट किया। एशिया में यह मुख्यतः इस्लामी आघात था जिसने हिन्दू-इतिहास को निरंकुश रूप में विनष्ट कर डाला और हिन्दू-भवनों को अपनी मस्जिदों व अपने मकबरों का रूप दे डाला।

किन्तु जिस प्रकार कोई हत्यारा व्यक्ति हत्या करने के सभी चिह्नों को यत्नपूर्वक विनष्ट कर देता है और भ्रामक सूत्रों की उत्पत्ति कर देता है, फिर भी हत्या का पता लगा ही लिया जाता है, उसी प्रकार उस सम्पूर्ण साक्ष्य को विनष्ट कर दिये जाने के बाद भी, सौभाग्यवश, कुछ ऐसे साधन और उपाय हैं जिनके द्वारा भूतकालिक घटनाओं की कहानी को पुनः रचा जा सकता है। इस कार्य में हमें ब्रह्माण्ड के इस अपरिवर्तनीय सिद्धान्त से सहायता मिलती है कि एक बार एक घटना घटित हो जाने बाद, विनाश के लिए जानबूझ कर किये गये प्रयत्नों तथा समय-प्रवाह के दुष्प्रभावों के बावजूद, इसके चिह्न बने रहते हैं।

आइये, हम सर्वप्रथम कुछ मापदण्ड निर्धारित करें जिनकी सहायता से विस्मृत साम्राज्यों के इतिहासों की पुनः रचना की जा सकती है। हम इस प्रकार के छः मापदण्ड प्रस्तुत करते हैं। **प्रथम** मापदण्ड है भौगोलिक नाम —जो कोई समुदाय यह दावा करता हो कि उसका विश्व-व्यापी साम्राज्य था, उसे यह सिद्ध करने के लिए समर्थ होना चाहिये कि प्राचीन भूगोल-

मानचित्र में समुद्रों, नदियों, पर्वतों और प्रदेशों के लिए इस समुदाय ने अपने नाम रखे हुए थे। **दूसरा** मापदण्ड है उस समुदाय का धर्म—विश्व पर शासन करने वाले समुदाय को इस योग्य होना आवश्यक है कि वह प्रदर्शित कर सके कि विश्व के सभी भागों के बड़े-बड़े स्थानों पर उस समुदाय का धर्म प्रचारित-प्रसारित था। **तीसरा** मापदण्ड यह है कि यदि किसी समुदाय का विश्व-व्यापी प्रभुत्व रहा है, तो इसकी संस्कृति अर्थात् इसकी पौराणिकता और इसकी रीति-नीतियाँ कई युगों तक चलती रहेंगी, चाहे इसका शासन अथवा प्रशासन समाप्त भी हो जाये। **चौथा** मापदण्ड विश्व-व्यापी साम्राज्य करने वाले समुदाय की भाषा है जो विश्व के विभिन्न भागों के लोगों की वाणी में तब भी बनी रहती है जबकि इसका राजनीतिक और प्रशासनिक अधिकार समाप्त हो जाता है। **पाँचवाँ** मापदण्ड यह है कि यदि किसी समुदाय ने विश्व पर शासन किया है, तो उस समुदाय के नाप-तौल उसका साम्राज्य समूल नष्ट हो जाने के बहुत बाद भी विश्व के बहुत बड़े भाग में प्रचलित रहेंगे। **छठा** मापदण्ड कुछ सारगर्भित, आत्मकथा कहने वाले वाक्यांश और शब्दों की विद्यमानता है जो किसी साम्राज्य की समूल समाप्ति हो जाने के बाद भी बहुत समय तक, समय और इतिहास के द्वारों पर, उपस्थित रहते हैं—ज्यों-के-त्यों बने रहते हैं।

हमने ऊपर जिन मापदण्डों को स्थिर, निर्धारित किया है, उनको एक विशाल प्राचीन हिन्दू साम्राज्य का अस्तित्त्व सिद्ध करने में उपयोग करने से पूर्व, आइये, हम देखें कि वे ठोस भी हैं अथवा नहीं।

हम जानते हैं कि हमारे अपने ही जीवनकाल में, आज से लगभग २५ वर्ष पूर्व तक ब्रिटिश लोगों का एक विश्व-व्यापी साम्राज्य था। चूँकि उनके देश का नाम इंग्लैंड था, और उनकी भाषा अंग्रेज़ी थी तथा उनका विश्व-व्यापी अधिकार था, इसलिए आइसलैंड, सोमालीलैंड, बुखानालैंड, इण्डियन ओशन (हिन्द महासागर), व्हाइट-सी (श्वेत सागर) जैसे अंग्रेज़ी भौगोलिक नाम प्रचलित हो गये। (२) चूँकि अंग्रेज लोग ईसाई थे, इसलिए ईसाई-मत उन-उन क्षेत्रों में फैल गया जहाँ उन्होंने शासन किया। (३) विश्व पर ब्रिटिश साम्राज्य के उत्कर्ष के दिनों में अंग्रेजों के रीति-रिवाज़ों, कहानियों, शीर्षकों, पौराणिक बातों और प्रतीक-चिह्नों की नकल की जाने

लगी, उनका अनुकूलन होने लगा, और उनका व्यापक रूप में, विश्व के विशाल भू-भाग पर प्रचार-प्रसार हुआ। (४) अमरीका-द्वय से न्यूज़ीलैंड तक अंग्रेजी भाषा बोली जाने लगी क्योंकि उस विशाल क्षेत्र पर अंग्रेजों का अधिशासन था। (५) उनकी मुद्रा और उनके नाप-तौलों को उद्धृत और विश्व के वाणिज्य एवं उद्योग-धन्धों में प्रयुक्त किया जाने लगा क्योंकि कुछ समय पूर्व ही अंग्रेज-सत्ता विश्व की एक प्रमुख प्रभावी शक्ति थी। विश्व-भर में फुट और इंच, स्टोन और पौंड, फार्दिंग और गिनी, सैकंड और मिनट, तथा नये वर्ष के प्रथम दिवस के रूप में पहली जनवरी को मान्यता दी गयी और इनको विश्व-भर में मात्र इसीलिए अंगीकार कर लिया गया कि वे साम्राज्य-निर्माता अंग्रेज़ों के मापदण्ड—नाप-तौल थे। (६) "ब्रिटिश साम्राज्य में कभी सूर्यास्त नहीं होता"—जैसे कुछ वाक्यांश ब्रिटिश लोगों के विश्व-प्रभुत्व की कथा को तबतक चारों मुखों से कहते रहेंगे जबतक कि यह आज से अनुमानतः पाँच हज़ार वर्ष तक इतिहास का एक अंश बना रहेगा—वैसे, उस समय तक १९वीं और २०वीं शती के ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य चिह्न इतिहास से विलुप्त हो गये होंगे अथवा इतने सूक्ष्म हो गये होंगे कि उनको पहचानना प्रायः असम्भव हो जायेगा।

आइये, हम 'नागालैंड' नामक एक अन्य शब्द का उदाहरण लें। ब्रिटिश शासन से जब भारत स्वतन्त्र हो गया, तब भारत के एक भू-भाग का यह नामकरण किया गया था। यह तो भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ही थे जिन्होंने अति प्राचीन, चिरकालीन हिन्दू, संस्कृत परम्परा वाले, नये स्वतन्त्र भारत के एक भाग के लिए अंग्रेजी नाम चुन लिया। स्वतन्त्र भारत के प्रधानमन्त्री द्वारा, ब्रिटिश शासन के अधिकार से स्वतन्त्र किये गये एक प्रदेश के लिए उस अंग्रेजी नाम का चुना जाना उस हानि का परिमापक है जो दासता के कारण अधीनस्थ व्यक्तियों के मन में उत्पन्न हो जाती है। दासता का यह अवश्यम्भावी दुष्परिणाम होता है। शारीरिक रूप से स्वतन्त्र होने पर भी श्री जवाहरलाल नेहरू मानसिक रूप से ब्रिटिश विचारों के गुलाम बने ही रहे। यदि समय के अनन्त प्रवाह में भारत पर ब्रिटिश आधिपत्य का चिह्न ज्ञात इतिहास के पृष्ठों से लुप्त भी हो जाय, तो भी हज़ारों वर्ष बाद यदि यह स्मृति प्रचलित

रही कि भारत का एक भाग कभी, किसी समय 'नागालैंड' नाम से पुकारा जाता था, तो मात्र उस शब्द से—'नागालैंड' नामक एकाकी शब्द से ही यदि कोई विवेकी इतिहासकार यह निष्कर्ष निकाल ले कि ब्रिटिश लोगों ने कम-से-कम भारत के एक भाग पर तो शासन किया ही था, तो वह गलत नहीं होगा। उसका निष्कर्ष यथार्थतः बिल्कुल सत्य होगा। यदि किसी प्रकार एक भावी इतिहासकार उस वर्ष को खोज निकालता है जब उक्त प्रदेश को 'नागालैंड' नाम दिया था, और उसी से वह यह निष्कर्ष भी निकाल लेता है कि उस क्षेत्र पर कम-से-कम उस वर्ष तक तो ब्रिटिश शासन अवश्य ही रहा होगा, तो अधिक-से-अधिक उसकी गलती ठीक समय का पता लगाने में कुछ समय-मात्र की ही तो होगी, किन्तु वह यह निष्कर्ष निकालने में गलत नहीं होगा कि ब्रिटिश लोगों ने उस क्षेत्र पर किसी समय शासन तो अवश्य ही किया था। कई हज़ार वर्ष पूर्व के इतिहास का सही आकलन करने में समय की छोटी-सी त्रुटि नगण्य ही होगी, किन्तु विश्व-व्यापी ब्रिटिश साम्राज्य के पूरी तरह विस्मृत तथ्य के भ्रंशोद्धार की बात अभिलिखित इतिहास के लिए अमूल्य निधि होगी।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि एक घटना के होने के हज़ारों वर्ष बाद भी इतिहास में प्रचलित एकाकी शब्द और वाक्यांश भी विस्मृत इतिहास की पुनर्रचना में किस प्रकार अत्यधिक मूल्यवान सिद्ध हो सकते हैं। एक विश्व-व्यापी हिन्दू साम्राज्य की कहानी की पुनर्रचना करते समय भी हम स्पष्ट दर्शाएँगे कि विगत हज़ारों वर्षों से समय के अनन्त प्रवाह के साथ चले आ रहे कुछ शब्द ऐसे हैं जो अति प्राचीन विश्व-व्यापी हिन्दू साम्राज्य की कथा को पुनः गढ़ने में असीम, अत्यधिक सहायक हैं। यदि उन शब्दों और वाक्यांशों को ठीक प्रकार समझ लिया जाये और उनका विश्लेषण किया जाये, तो उनमें असीम अर्थ निगूढ़ हैं, तथा वे एक अति प्राचीन हिन्दू साम्राज्य की, जो विश्व-व्यापी था, अकथ कहानी मुखरित करते लक्षित होंगे।

प्राचीन भौगोलिक विश्व-मानचित्र के सभी नाम संस्कृत भाषा के ही थे

बहुत ही सरलतापूर्वक सभी लोग अनुमान लगा लेते हैं कि इतिहास में जो भी कुछ जानने योग्य है, वह सब पहले ही ज्ञात है। यह अनुमान किसी ठोस तथ्य पर आधारित नहीं है। जिस प्रकार रसायन, भौतिकी आदि विषयों में पूरी गुंजाइश है, उसी प्रकार इतिहास में भी अज्ञात बातों की जानकारी खोज लेने के पूरे-पूरे अवसर हैं—बहुत कुछ ज्ञात करना शेष है।

प्राचीन इतिहास में एक बहुत बड़ा रिक्त स्थान पड़ा है जिसका सम्बन्ध प्राचीन भारतीय (हिन्दू) साम्राज्य से है। आधुनिक ऐतिहासिक पाठों में ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता है कि किसी समय एक विश्व-व्यापी हिन्दू साम्राज्य विद्यमान था; फिर भी कुछ ऐसे सूत्र उपलब्ध हैं जिनकी सहायता से उस साम्राज्य की कथा का ताना-बाना पुनः बुना जा सकता है जिसको जन-स्मृति से पूरी तरह विस्मृत किया जा चुका है।

सर्वप्रथम हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि हिन्दू धर्म-ग्रन्थों, महा-काव्यों, और लोक-साहित्य में भारतीय सम्राटों, युवराजों और उनके वंशधरों द्वारा दिग्विजयों के बारम्बार सन्दर्भ और असंख्य उदाहरण समाविष्ट मिलते हैं। सन्देहशील व्यक्तियों के लिए संभावना है कि वे ऐसे सन्दर्भों को काल्पनिक उग्रवाद की मनगढ़न्त ऊहापोह मानकर उपहास करें। किन्तु यह कोई उपहास की बात नहीं है। किन्तु इस प्रकार के कल्पित अति-सूक्ष्म और मात्र पौराणिक सन्दर्भ भी उस समय महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं जब व्यक्ति को प्राचीन भौगोलिक नाम संस्कृत भाषा में होने के कारण उन

सन्दर्भों को पुष्ट करने वाला साक्ष्य प्राप्त हो जाता है। चूँकि प्राचीन हिन्दुओं की भाषा संस्कृत थी, अत: जब वे समस्त विश्व में फैले, तब उन्होंने समुद्रों, पर्वतों, नद-नदियों, और विभिन्न प्रदेशों के नाम संस्कृत भाषा में रख दिये।

प्राचीन हिन्दुओं में सम्पूर्ण विश्व में फैल जाने की सामर्थ्य और सम्यक दृष्टि व्याप्त थी—इस बात का प्रमाण वैदिक धर्मादेश 'कृण्वन्तो विश्व-मार्यम्' अर्थात् 'विश्व को आर्य बनाओ' में मिलता है। हम यहाँ इस बात पर अधिक बल देना चाहते हैं कि 'आर्य' किसी जाति का द्योतक शब्द नहीं है। समकालीन विश्व को यह विश्वास दिलाकर भ्रमित किया गया है कि 'आर्य' कोई जाति थी। 'आर्य' शब्द हिन्दू अथवा वैदिक जीवन-पद्धति का द्योतक है जो इस सांसारिक मानवतावादी सिद्धान्त पर आधारित था कि हम सब दिव्य अंश से उत्पन्न हुए थे, और उसी दिव्य अंश में ही समा जाना हमारा जीवन-लक्ष्य होना चाहिये। हिन्दू-धर्म का एक मूल सिद्धान्त यह है कि हमारा जीवन उसी उच्चादर्श के अनुरूप ढलना चाहिये। उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए, प्राचीन हिन्दुओं ने एक आचार-पद्धति का निर्माण किया था जिसमें मानसिक और शारीरिक शुद्धता का जीवन तथा कर्तव्य-पालन व समाज-सेवा की संहिता का कठोर नियमन अपेक्षित था। 'आर्य' और 'आर्यत्व' से ध्वनित होने वाली वही जीवन-पद्धति है।

विश्व की विशाल जनसंख्या के एक बहुत बड़े भाग द्वारा स्वयं को 'आर्य' कहा जाना इस बात का एक बहुत महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट प्रमाण है कि प्राचीन हिन्दू लोग अपने जीवन-सिद्धान्त 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' (विश्व को आर्य बनाओ) का अनुपालन करने में पूरी तरह सफल हुए थे।

विश्व साम्राज्य स्थापित करने वाला कोई भी देश विभिन्न प्रदेशों, समुद्रों आदि के नाम अपनी रुचि अनुसार ही रखता है। इस प्रकार, चूँकि भारतीय देश का नाम सिन्धु-स्थान था, इसलिए उन्होंने देश-देशान्तरों के नाम, उसी पद्धति पर, बलूचिस्थान, तुरकस्थान, अर्बस्थान आदि रखने प्रारम्भ कर दिये।

अत: प्राचीन विश्व-मानचित्र में भारतीयों द्वारा दिये हुए अथवा भारत द्वारा प्राप्त किए हुए नाम प्रचलित थे। भारतीयों द्वारा किसी

विशाल साम्राज्य का उपभोग करने का यह एक अति महत्त्वपूर्ण प्रमाण है चाहे उस साम्राज्य का उल्लेख आज के प्रचलित इतिहास-ग्रन्थों से सर्वथा विलुप्त कर दिया गया है।

आइए, हम इंडोचीन, इंडोनेशिया और वैस्ट इंडीज़ जैसे शब्दों पर भी विचार करें। ईस्ट इंडीज़ हमारे अपने ही युग में सम्पूर्ण विश्व-मानचित्र पर प्रसारित था। वे शब्द उस युग की ओर संकेत करते हैं जब भारत और भारतीय लोग विश्व का नेतृत्व करते थे। उस प्राचीन विगत काल में भारत विश्व का सर्वाधिक शक्तिशाली राष्ट्र था जो विशालतम भू-भाग पर नियन्त्रण, अधिकार करता था। इससे पूर्व कभी भी, एक ही राष्ट्र-शक्ति ने इतना भू-भाग अपने अधिकार के अन्तर्गत नहीं किया था। यही कारण है कि हर किसी की जिह्वा पर 'भारत' और 'भारतीय' (इण्डिया और इण्डियन) शब्द चढ़े रहते थे, तथा प्रत्येक भूमि अथवा जन-समुदाय की परिभाषा भारत (इण्डिया) को दृष्टि में रखकर ही की जाती थी।

यही वह विश्व-व्यापी सम्मोहन था जिसने कोलम्बस को प्रेरित किया कि वह उस महान् (भारत) देश की खोज करने को निकल पड़ा और अमरीका के आदिम निवासियों को इण्डियन (भारतीयों) की संज्ञा से सम्बोधित करने की भूल कर बैठा।

'इण्डियाना' और 'इण्डियानापोलिस' शब्दावलियाँ, तुलनात्मक रूप में आधुनिक होने पर भी, उसी सराहना-भाव से व्युत्पन्न हैं जो सम्पूर्ण विश्व उस महान् भारतीय साम्राज्य के प्रति रखता था जिसकी स्मृतियाँ उस साम्राज्य के ओझल हो जाने पर भी कई शताब्दियों तक अक्षुण्ण रूप में बनी रही थीं।

विलुप्त और विस्मृत इतिहास की पुनर्रचना में 'इण्डियन ओशन' (हिन्द महासागर) शब्दावली का भी प्रभूत महत्त्व है। विश्व-मानचित्र में देखने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि 'हिन्द महासागर' से 'चिपटा' हुआ इण्डिया (हिन्द अथवा भारत) तो तुलनात्मक रूप में अत्यन्त छोटा देश है। अफ्रीकी महाद्वीप तो बहुत अधिक विशाल, भूमि-प्रदेश वाला क्षेत्र है। हिन्द महासागर के साथ लगा हुआ अरेबियन प्राय-द्वीप भूमि का एक अन्य बड़ा भाग है। फिर उस महासागर का नाम भारत (हिन्द, इण्डिया) के नाम के अनु-

सरण पर क्यों रखा जाय ? स्पष्टतः कारण यह है कि प्राचीन विगत काल में भारतीय नौ-सेना उस समुद्र पर (तथा अन्य अनेक सागरों पर) सर्वोच्च अधिशासन करती थी। अन्य कोई ऐसी शक्ति नहीं थी जो अमरीका-द्वय से लेकर आस्ट्रेलिया तक भारत की महान् नौ-सैना की सामर्थ्य को चुनौती दे पाती। संक्षेप में, भारत तब सागरों का अधिपति था। यही वह अप्रतिम प्रभुत्व था, अनन्य, बे-जोड़ साम्राज्य था जिसके कारण सागर का नाम भारत के साथ जोड़ दिया गया क्योंकि भारत के जहाज़ उस सागर की छाती चीरते हुए समग्र संसार में जाया करते थे।

'मेडिटेरेनियन' शब्द भी संस्कृत नाम है जो उन दिनों का स्मरण दिलाता है जब संस्कृत भाषी भारतीय क्षत्रिय (हिन्दू योद्धागण) उस समुद्र के चारों ओर बने हुए बन्दरगाहों पर अपना नियन्त्रण रखते थे।

'मेडिटेरेनियन' शब्द की संस्कृत-मूलक व्युत्पत्ति इस प्रकार स्पष्ट की जा सकती है, संस्कृत का 'धरातल' शब्द अंग्रेजी के 'टेरेस्ट्रियल' शब्द में बदल जाता है। इसी प्रकार संस्कृत का 'मध्य' शब्द यूरोपीय भाषाओं में 'मेडि' अपभ्रंश रूप धारण कर लेता है। इसलिए, यूरोपीय धातु 'टैरा' संस्कृत की 'धरा' धातु है, और 'मेडि' धातु संस्कृत की 'मध्य' शब्दावली है। संस्कृत-भाषी भारतीयों ने उस सागर का नाम 'मध्य-धरातल' अर्थात् 'पृथ्वी के भू-खण्ड समूहों के केन्द्र में समुद्र' रखा था। अंग्रेजी 'मेडिटेरेनियन' शब्दावली का यथार्थतः यही अर्थ है। इस सागर का संस्कृत-नाम तबतक नहीं पड़ता जबतक कि संस्कृत-भाषी हिन्दुओं ने उस सागर के सभी भागों पर और उसके सभी बन्दरगाहों पर अपना नियन्त्रण न रखा होता। 'मेडिटेरेनियन' शब्द के संस्कृत-मूल से हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, उसको उन क्षेत्रों के इतिहासों और नामों के मूल को खोजकर भी सत्यापित किया जा सकता है।

'रक्त सागर' (रैड सी) भी इसीलिए नाम पड़ा है क्योंकि प्राचीन हिन्दुओं ने यही नाम रखा था। हम रामायण में इसका उल्लेख 'लोहित सागर' के रूप में उस समय पाते हैं जब भगवान् श्रीराम के दूत अपहृता सीताजी को खोज निकालने के लिए सभी दिशाओं में गये थे। 'लोहित' का

अर्थ 'रक्त'—लाल है। इस प्रकार 'रैड सी' नाम एक प्राचीन संस्कृत नाम का अंग्रेजी अनुवाद मात्र है।

इसी प्रकार 'ह्वाइट सी' (श्वेत सागर) नाम भी प्राचीन हिन्दुओं द्वारा निश्चित किए गए 'क्षीर सागर' नाम का ही यन्त्रवत अनुवाद है। इतिहास में ऐसा होता है कि साम्राज्य-निर्माताओं द्वारा प्रयुक्त नाम स्थानीय भाषाओं में अनूदित रूप में ही अक्षुण्ण बने रहते हैं—स्थानीय जन-बोलियों में प्रचलित रहते हैं। 'ह्वाइट सी' और 'रैड सी' इसी प्रकार के शब्द हैं। ये दोनों नाम प्राचीन हिन्दुओं के विश्व-व्यापी प्रभुत्व को प्रमाणित करते हैं।

जो समुदाय, विश्व पर शासन करता है, प्राय: विभिन्न विजित प्रदेशों के नाम अपने देश के नामों की पद्धति पर ही रखने का उपक्रम करता है। इसी प्रकार, उदाहरणार्थ, जब इंग्लैंड विश्व की प्रभावकारी राजनीतिक शक्ति बन गया, तब बसूटोलैण्ड और बुखानालैण्ड जैसे नाम जन-प्रिय हो गए। इसी प्रकार, जब हिन्दुओं का सम्पूर्ण विश्व पर अधिशासन था, तब चूँकि उनके अपने देश का नाम सिन्धुस्थान था (जो अपभ्रंश रूप में हिन्दुस्थान हो गया) इसलिए उन्होंने अपने प्रभुत्व के अन्तर्गत प्रदेशों के नाम उसी प्रणाली पर अफ़गानिस्थान, बलूचिस्थान, तुरग्स्थान (आधुनिक तुर्की), अर्बस्थान (आधुनिक अरेबिया), घरूचिस्थान, घबूलिस्थान, कुर्दि-स्थान, कज़ाकस्थान और उजबेकस्थान आदि रख दिए।

'ईरान और 'इराक' नाम भी हिन्दू, संस्कृत मूल के ही है। वे 'इरावती' (इरावदी) में प्रयुक्त 'इर' संस्कृत धातु से व्युत्पन्न हैं। संस्कृत शब्दकोश में 'ईरान' शब्द की परिभाषा 'लवणयुक्त, निर्जल प्रदेश' है। ईरान यथार्थत: यही तो है। 'कच्छ-रण' शब्द में प्रयुक्त 'रण' शब्द भी उसी संस्कृत धातु से व्युत्पन्न है। लघु एशिया में ऐसे नगर थे जिनके नाम संस्कृत-प्रणाली पर थे; यथा जनदिशापुर और विदिशा (एडिसा)। सीरिया और असीरिया नामों का उच्चारण ग्रीक-भाषा मे 'सुरिया' और 'असुरिया' होता है। उनकी व्युत्पत्ति दो संस्कृत-भाषी प्राचीन हिन्दू समुदायों 'सुर' और 'असुर' से है, जिनका उल्लेख हिन्दू धर्म-ग्रन्थों में प्राय: मिलता है।

दो अफ्रीकी देश माली और सुमाली रामायण में वर्णित दैत्य-समुदाय के दो नायकों के नाम से व्युत्पन्न हैं।

सीताजी के लिए विश्व-व्यापी खोज के अवसर पर रामायण में सुन्द-जलडमरूमध्य का भी उल्लेख आता है।

'सुमेरियन्स' शब्दावली 'सुमेरु' से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ 'स्वर्णिम पर्वत' है और जिसका बारम्बार उल्लेख हिन्दू धर्म-ग्रन्थों में प्राप्त होता है। 'अल्टाई' शब्द भी संस्कृत के 'सुमेरु' शब्द का स्थानीय भाषायी रूपान्तर है।

जैसा एक आगामी अध्याय में स्पष्ट किया गया है, इंगलैंड शब्द भी संस्कृत शब्द 'आंग्ल-स्थान' से ही बना है।

'स्कैण्डीनेविया' शब्द योद्धाओं की भूमि के द्योतक, संस्कृत भाषा के 'स्कन्ध-नाभि' शब्द का अपभ्रंश रूप है। (यूरोप में एक प्रदेश) स्कैण्डी-नेविया के वीकिंग्स लोग अपने योद्धासम गुणों के लिए विख्यात थे।

जर्मन लोग अपने देश को 'ड्यूत्सलैण्ड' बोलते हैं। यह नाम 'दैत्यस्थान' से व्युत्पन्न है। दैत्य लोग एक प्राचीन, हिन्दू समुदाय थे जो संस्कृत-भाषी थे। हिन्दू पौराणिकता के अनुसार वे लोग 'दैत्य' मात्र इसलिए पुकारे जाते थे कि उनका जन्म 'दिति' नामक एक महिला के गर्भ के हुआ था।

'डच' शब्द भी 'दैत्य' शब्द का ही अपभ्रंश रूप है। इसका दृष्टान्त भारत में उत्तर प्रदेश में स्थित 'बहराइच' नाम के नगर से प्रस्तुत किया जा सकता है। 'बृहत्-आदित्य' शब्द लोकभाषा में 'बहराइच' अपभ्रंश रूप अंगीकार कर बैठा। उसी प्रकार 'दैत्य' शब्द भी प्रचलित शब्द 'डच' का मूल-शब्द था।

'कैश्पियन सी' (कश्यप सागर) का नाम भी सुप्रसिद्ध ऋषि कश्यप के नाम से व्युत्पन्न है, जो दैत्य समुदाय के पूर्वज थे। कश्यप और उनके वंशज दैत्यों का उल्लेख भारतीय (हिन्दू) पौराणिक-ग्रन्थों में मुख्य रूप में उपलब्ध होता है।

'दानब' नदी का नाम भी संस्कृत शब्द 'दानव' से व्युत्पन्न है। संस्कृत का 'दानव' शब्द उसी प्रकार 'दानब' हो जाता है जिस प्रकार संस्कृत का 'वचन' शब्द लापरवाही-वश आधुनिक जन-भाषा में 'बचन' हो जाता है। चूंकि 'दानव' उपनाम 'दानब' शब्द हिन्दू धर्म-ग्रन्थों में 'दैत्य' समुदाय के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त होता है, इसलिए दैत्यों उपनाम दानवों उपनाम

दानवों की भूमि में से प्रवाहित होने वाली नदी 'दानब' नाम से पुकारी जाने लगी।

इसी प्रकार, मिस्र देश का 'नाइल' नाम भी विश्व-व्यापी हिन्दू साम्राज्य के दिनों में संस्कृत अन्वेषकों, खोजियों द्वारा दिया गया था। संस्कृत में 'नील' शब्द का अर्थ नीला है। बाद में, शताब्दियाँ बीत जाने पर, जब उस संस्कृत शब्द का अर्थ विस्मृत हो गया, लोगों ने 'नीला' अंग्रेजी विशेषण जोड़ दिया, और उस नदी को 'ब्लू नाइल' (नीली नील नदी) बोलना आरम्भ कर दिया, उनको यह अनुभूति नहीं रही कि मूल संस्कृत नाम 'नील' स्वयं ही नीली जल-धारा का द्योतक था।

अगस्त-सितम्बर, १९७० के आस-पास प्रैस ट्रस्ट आफ़ इंडिया नामक समाचार-एजेंसी ने समाचार दिया था कि ब्रूनी के बन्दरगाह का नाम स्वर्गीय (मुस्लिम) शासक की पदवी की स्मृति में 'सेरी भगवान' कर दिया गया था। यह इस बात का एक अन्य उदाहरण है कि स्वयं हमारे ही युग में प्राचीन हिन्दू, संस्कृत शब्दों को, जो सम्पूर्ण विश्व में प्रचलित हैं, किस प्रकार गलत समझा जा रहा है और उनकी गलत व्याख्या की जा रही है। संस्कृत के 'श्री भगवान्' का अर्थ 'सर्वशक्तिमान प्रभु' है। इस प्रकार, यह ब्रूनी के हिन्दू-शासक की पदवी थी। बाद में, जब अरब लोगों ने उन भू-प्रदेशों पर आक्रमण किए और राजा से रंक तक के सभी लोगों को अत्यन्त क्रूरता, निष्ठापूर्वक इस्लाम में धर्म-परिवर्तित कर दिया, तब वह सम्राट्, यद्यपि मुस्लिम धर्म में प्रविष्ट हो चुका था, फिर भी, अपनी पवित्र हिन्दू पदवियों को ही शिरोधार्य किये रहा। वर्षानुवर्ष बीत जाने पर वे संस्कृत शब्द अपरूप होते गए, जैसा ऊपर दर्शाया ही जा चुका है। यह सब होते हुए भी शताब्दियों के उतार-चढ़ाव और बलात् धर्म-परिवर्तनों के क्रूर आघातों में से 'सेरी भगवान्' शब्द का अक्षुण्ण बने रहना हिन्दू परम्परा की उन गहरी जड़ों को प्रमाणित करता है जो प्राचीन विश्व के समस्त भागों में सुदृढ़ रूप से जमी हुई थीं।

यूगोस्लाविया और चेकोस्लोवाकिया जैसे यूरोप के वे क्षेत्र जहाँ स्लाव बसे हुए हैं, भी प्राचीन हिन्दू-संस्कृत परम्परा वाले ही थे जैसाकि इस तथ्य से प्रत्यक्ष है कि प्राचीन स्लाव लोग इन्द्र, वरुण, यम और सूर्य (हरिदाश्व)

जैसे हिन्दू देवताओं की पूजा करते थे। यही कारण है कि चेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्रेग संस्कृत नाम का एक टुकड़ा है।

यूरोप के एक अन्य प्रदेश—अर्थात् लटविया में भी राजधानी का नाम संस्कृत भाषा का ही है। लटविया की राजधानी 'ऋग्' है जो स्पष्टतः संस्कृत धातु है; यथा 'ऋग्वेद' में।

हम इस प्रकार के असंख्य स्थान-वाचक नाम उद्धृत कर सकते हैं जो संस्कृत भाषा के हैं। ये स्थान सम्पूर्ण विश्व में स्थित हैं; यथा (बुद्ध-विहार का अपभ्रंश रूप) बुखारा उज़बेकस्थान में, राम सर (अर्थात् भगवान् राम का तालाब) तुर्की में, निशापुर ईरान में, नव बहार (नव विहार) इराक में, (यज्ञाग्नि 'मखा' से) मक्का अरेबिया में, नगर-हार अफ़गानिस्थान में, और रामथा (अर्थात् रामस्थान—राम का निवास-स्थान) जोर्डन में। ये सभी प्राचीन विगतकाल में एक विशाल हिन्दू साम्राज्य के अस्तित्त्व को सिद्ध करते हैं।

रूस में 'स्टालिनग्राड' और 'लेनिनग्राड' जैसे नाम ऐसे ही हैं जैसे भारत में 'नन्दीग्राम' और 'सेवाग्राम'। रूसी प्रत्यय 'ग्राड' प्राचीन संस्कृत 'ग्राम' का अपभ्रंश रूप है। सोवियत संघ का एक भाग साइबेरिया, जो स्थानीय लोगों द्वारा 'शिबिर' उच्चारण किया जाता है, विशुद्ध संस्कृत 'शिविर' शब्द है जो एक निवेश का द्योतक है। यह नाम उन अस्थायी आवासों से व्युत्पन्न है जो भारतीय प्रचारकों ने वैदिक संस्कृति के प्रचार के लिए उस अनुदार क्षेत्र में लगाए थे। यह भी सिद्ध करता है कि प्राचीन संस्कृत-भाषी हिन्दुओं ने साइबेरिया को भी अपना उपनिवेश बना लिया था।

इस प्रकार, प्राचीन विश्व-मानचित्र का विस्तारपूर्वक अध्ययन एक प्राचीन हिन्दू साम्राज्य का प्रबल प्रमाण प्रस्तुत करता है। यह आश्चर्यकारी भौगोलिक और स्थान-नामवाचक साक्ष्यमात्र इस आधार पर उपेक्षित, तिरस्कृत नही किया जा सकता कि प्रचलित ऐतिहासिक पाठ्य-पुस्तकों में एक प्राचीन विश्व-व्यापी साम्राज्य का तो कोई उल्लेख समाविष्ट नहीं है। यदि किसी कारण-वश उस साम्राज्य के अभिलेख विनष्ट हो गये हैं, तो उनकी पुनर्रचना उन सभी साक्ष्यों से करनी होगी जिनमें से भौगोलिक और स्थान-नामवाचक नाम तो एक सूत्र ही है। इस प्रकार के साक्ष्य के अनेक अन्य पक्ष भी हैं जिनकी समीक्षा हम पृथक्-पृथक् अध्यायों में आगे के पृष्ठों में करेंगे।

आयुर्वेद—हिन्दू चिकित्सा-शास्त्र ने प्राचीन विश्व को स्वस्थ रखा

ईसा से पूर्ववर्ती यूरोप के इतिहास के बारे में और मोहम्मद से पूर्व के अरेबिया के इतिहास के सम्बन्ध में बहुत ही कम जानकारी उपलब्ध है क्योंकि सत्तासीन होते ही ईसाइयों और मुस्लिमों ने क्रमश: अपने-अपने पूर्वकालिक व्यक्तियों—पूर्वजों की सभ्यताओं को समूल समाप्त कर देने अथवा उनका पूर्ण तिरस्कार करने का भरसक प्रयत्न किया था।

ईसा से पूर्व यूरोप में जीवन के सम्बन्ध में किसी पश्चिम देशवासी से तथा मोहम्मद से पूर्व अरेबिया के अपने पूर्वजों के जीवन के सम्बन्ध में किसी मुस्लिम व्यक्ति से प्रश्न करो। इस प्रश्न का तुरन्त, एक ही उत्तर वे दे देंगे कि यूरोप और पश्चिम एशिया में कुछ प्रतिमा-पूजक अबोध व्यक्ति रहा करते थे जो पत्थरों, वृक्षों और जल-धाराओं की पूजा-अर्चना करते थे, उनके जीवन कोई सुपरिणामदायक, महत्त्वपूर्ण नहीं थे और ऐसा था—वैसा था।

अपने विगतकाल के बारे में घोर अज्ञानता-युक्त इस प्रकार की धृष्टता, निर्लज्जता विश्व के इतिहासकारों ने बहुत ही लम्बे समय तक चलने दी है। अब इसे पल-भर के लिए भी सहन नहीं किया जाना चाहिये। कोई भी व्यक्ति मात्र यह टिप्पणी देकर ईसा और मोहम्मद के पूर्व मानवता के इतिहास को कलंकित नहीं कर सकता कि पूर्वकालिक व्यक्ति नगण्य, प्रतिमा-पूजक अबोध व्यक्ति थे।

मानव-सभ्यता के आदिकाल से ही शक्तिशाली राष्ट्र और शक्तिशाली साम्राज्य हुए हैं जो पृथ्वी की शोभा रहे हैं और जो पृथ्वी पर शासन करते

रहे हैं। पृथ्वी पर मानव-सभ्यता करोड़-करोड़ों वर्ष पुरानी है। और, हमें पृथ्वी पर सबसे पुरानी जिस सभ्यता के दर्शन होते हैं, वह हिन्दुओं की सभ्यता है। वे हिन्दू लोग 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' के वैदिक उद्बोधन से प्रेरित होकर समस्त विश्व में फैल गये थे। हिन्दू लोग ही वे व्यक्ति थे जिन्होंने सारे संसार को दर्शन-शास्त्र, खगोल-विद्या, ज्योतिष, शिल्प और वास्तु-कला तथा अन्य सभी विज्ञानों और कलाओं की शिक्षा दी थी।

विश्व के प्रथम प्रशासकों, दार्शनिकों, वैज्ञानिकों, गणितज्ञों, अन्वेषकों और शिक्षकों के रूप में प्राचीन हिन्दू लोग विश्व के सुदूरतम भागों में अपने साथ अपनी अद्वितीय चिकित्सा-पद्धति भी लेते गये। 'आयुर्वेद' के नाम से ज्ञात उनका यह प्राचीन शास्त्र विश्व के सभी भागों में फैल गया था।

अभी भी चीन अवशिष्ट चिह्नों से सिद्ध किया जा सकता है कि प्राचीन चिकित्सा-पद्धति, आयुर्वेद का समस्त विश्व में अध्ययन और रोग-निवारणार्थ व्यवहार किया जाता था।

यह तो व्यापक रूप में स्वीकार किया जाता है कि अरब निवासियों ने अपने सभी विज्ञानों और कलाओं का ज्ञान प्राचीन हिन्दुओं से अर्जित किया था। हिन्दुओं ने अरब लोगों को उन अध्ययनों के साथ-साथ चिकित्सा-शास्त्र की शिक्षा भी दी थी। इस तथ्य की पुष्टि हिन्दू आयुर्वेद के साथ उनकी अरबी (यूनानी) चिकित्सा-पद्धति की नितान्त समरूपता से हो जाती है।

अरब लोगों के बारे में ज्ञात है कि वे अभी भी मानक आयुर्वेद-ग्रन्थों के प्राचीन रूपान्तरों का ज्ञान अर्जन करते हैं और उन्हीं का अनुसरण करते हैं। रोग-निदान की अरबी-प्रणाली भी पूरी तरह हिन्दू—अर्थात् रोगी की नाड़ी, नब्ज से ही है।

अरब लोग अपनी चिकित्सा-पद्धति को यूनानी कहते हैं जो इस बात की द्योतक है कि उन लोगों ने इसका ज्ञान ग्रीस से प्राप्त किया था क्योंकि ग्रीस के लिए उनका शब्द यूनान है। चूँकि यूनानी और आयुर्वेद-प्रणाली समान हैं, इसलिए स्पष्ट है कि आयुर्वेद ग्रीस के माध्यम से अरेबिया पहुँचा था। यह सिद्ध करता है कि प्राचीन ग्रीस भी आयुर्वेद का अनुसरण करता

था। स्पष्टतः, इसका निष्कर्ष यह है कि भारतीय प्रशासक और चिकित्सक लोग ग्रीस भी गये थे।

पैगम्बर मोहम्मद के सम्बन्ध में संस्मरणों में अभिलिखित है कि जब कभी उनकी पत्नी आई-शा बीमार हो जाती थी, तब वे भारतीय चिकित्सकों को ही चिकित्सा-कार्य हेतु बुलाया करते थे। यह तभी सम्भव हो सकता था यदि उस समय के अरेबिया में भारतीय विचार, शिक्षा और प्रशासन का अनुसरण किया जा रहा था। हम इस तथ्य का उल्लेख ब्रिटिश शासन के अधीन भारत के सम्बन्ध में अपने अनुभव के आधार पर कर रहे हैं। ब्रिटिश प्रशासन के अधीन जब भारत हो गया, तब आहिस्ता-आहिस्ता भारतीय-आयुर्वेदिक चिकित्सकों का सम्मान कम होता गया जबकि एलोपैथी अर्थात् पश्चिमी चिकित्सा-पद्धति का अनुसरण करने वाले चिकित्सकों का जनता में मान बढ़ गया। भारत के गण-मान्य, बड़े-बड़े लोग परामर्श हेतु पश्चिमी-पद्धति के चिकित्सक को बुलाने में गौरव का अनुभव करने लगे। आयुर्वेदिक चिकित्सकों के प्रमाण-पत्रों का बहिष्कार करके, प्रशासन ने पश्चिमी-चिकित्सकों द्वारा दिये गये प्रमाण-पत्रों को स्वीकार करना प्रारम्भ कर दिया। अतः, पैगम्बर मोहम्मद के युग में अरेबिया में भारतीय चिकित्सकों से रोगोपचार-हेतु परामर्श किया जाना एक ऐसा तथ्य है जो इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि तत्कालीन प्रशासन भारतीय था। सम्भावना है कि कुछ व्यक्ति क्रोधावेश में इस निष्कर्ष का घोर तिरस्कार कर बैठेंगे। उन लोगों के विचारार्थ हम दो बातें प्रस्तुत करेंगे। पहली बात यह है कि प्राचीन भारतीयों ने मानव-मानव में और देश-देश के मध्य कभी कोई भेदभाव, अन्तर नहीं किया था। उनके लिए तो समस्त विश्व ही सामान्य मानव का घर था। अतः जब हम यह कहते हैं कि भारतीय विचार और प्रणालियाँ अरेबिया में प्रचलित, व्याप्त थीं, तब हमारा तात्पर्य मात्र इतना है कि भारतीय ऋषियों और तत्त्वदर्शियों द्वारा विकसित तथा प्रचारित-प्रसारित दर्शन-शास्त्र, शिक्षा-सम्बन्धी प्रणालियाँ, प्रशासनिक विधियाँ, सामाजिक ढाँचे, ओषधियाँ आदि उन दिनों के अरेबिया में प्रचलित थीं। इस कथन में ऐसी कोई बात तो नहीं है जिससे किसी की भावना को ठेस पहुँचे। इसके विपरीत, इस तथ्य से तो सम्पूर्ण मानवता में ऐक्य की भावना

संवर्धित होनी चाहिये। दूसरी बात यह है कि भारतीय प्रशासनिक, सामाजिक और शिक्षा-सम्बन्धी ढाँचों का अंगीकरण अरेबिया पर भारतीय आधिपत्य के राजनीतिक और/अथवा राजकीय प्रभाव का द्योतक न होकर भारत और अरेबिया सहित प्राचीन विश्व के शेष भाग के मध्य सामान्य नागरिकता का परिचायक है।

भारतीय चिकित्सा-पद्धति के प्रचलन के चिह्न ग्रीस और अरेबिया में देख लेने के बाद, आइये, हम प्राचीन विश्व के अन्य क्षेत्रों की जाँच-पड़ताल भी करें।

रूस के विशाल एशियायी भाग 'साइबेरिया' का ही उदाहरण लो। एक विशाल और अशरण्य जलवायु वाला तुलनात्मक रूप में निर्जन स्थान होने के कारण साइबेरिया की प्राचीन भारतीय परम्परा तुलनात्मक रूप में अधिक सुरक्षित बनी रही है।

कदाचित् लोगों को यह ज्ञात नहीं है कि साइबेरिया में अभी भी मात्र आयुर्वेद ही प्रचलित है और उसे ही अक्षुण्ण रखा हुआ है। साइबेरिया-निवासियों ने अभी भी प्राचीन आयुर्वेदिक पाठ्य-ग्रन्थों को, भारतीय जड़ी-बूटियों के रेखाचित्रों सहित, सुरक्षित रखा हुआ है। साइबेरिया में प्राप्त अष्टांग-आयुर्वेद की एक प्राचीन भारतीय पाठ्य-पुस्तक की फ़ोटो-प्रति 'सरस्वती-विहार', जे-२२, हौज़ खास, नयी दिल्ली-१६ में लाकर रखी गयी है। 'सरस्वती-विहार' के प्रतिनिधियों ने सन् १९६८ ई० के आस-पास साइबेरिया का भ्रमण किया था। उनका कहना है कि हिंगाष्टक और त्रिफला चूर्ण जैसी सामान्य घरेलू आयुर्वेदिक दवाइयाँ वहाँ के निवासियों द्वारा सामान्य रूप में तैयार की जाती हैं और उपयोग में लायी जाती हैं। साइबेरिया के निवासी 'गंगा-जल' के प्रति भी अत्यधिक श्रद्धा, आदर-भाव प्रदर्शित करते हैं। यह सबकुछ इस तथ्य का प्रबल प्रमाण है कि भारतीय अध्यापक, प्रशासक और चिकित्सक चिर अतीतकाल में साइबेरिया गये थे, वहीं ठहरे थे, वहीं उन्होंने कार्य किया था और शिक्षा का प्रचार-प्रसार किया था। ज्ञान की वर्तमान स्थिति का विचार करते हुए तो यह सब अतिशयोक्तिपूर्ण, काल्पनिक, असम्भव ही प्रतीत होता है, किन्तु हम यहाँ और अपने अन्य प्रकाशनों के माध्यम से जो विरले साक्ष्य प्रस्तुत कर रहे

हैं, उनपर विचार करते हुए, इतिहास के इन सभी विलुप्त अध्यायों को सावधानीपूर्वक खोजना पड़ेगा, उनका अध्ययन करना होगा और फिर, उनको जोड़ना होगा।

स्वयं 'साइबेरिया' शब्द ही संस्कृत मूलोद्‌भव है। पृथ्वी की सर्वप्रथम रूपरेखा तैयार करने वाले भारतीय अन्वेषकों और भूगोल-वेत्ताओं ने उस क्षेत्र को यह नाम प्रदान किया था। यद्यपि इसकी अंग्रेजी वर्तनी 'साइबेरिया' की जाती है, तथापि सभी स्थानीय लोग अपनी भूमि को 'शिबिर' कहकर पुकारते हैं। यह स्पष्टत: मूल-संस्कृत शब्द है। संस्कृत में 'शिबिर' शब्द तम्बू लगाना, या अस्थायी निवेश स्थापित करने का द्योतक है। चूँकि साइबेरिया अशरण्य क्षेत्र है, लोग वहाँ पर सामान्यत: अस्थायी मकानों में रहते हैं।

अत:, यदि प्राचीन भारतीय (हिन्दू) चिकित्सा-पद्धति ग्रीस, अरेबिया और साइबेरिया जैसे विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित रहा—ऐसा देखा जा सकता था, तो स्पष्ट है कि आयुर्वेद विश्व के सभी क्षेत्रों में व्याप्त हो चुका था। यह ऐतिहासिक तर्क है जो ऐतिहासिक कार्यविधि का एक महत्त्वपूर्ण अंश है, विशेष रूप में तब जबकि व्यक्ति किसी अति प्राचीन, इतिहास के ज्ञात अथवा अज्ञात बातों को खोज निकालने के शोध-कार्य में लीन हो। यह ऐसा ही है जैसे आई हुई वस्तुओं के ढेर में से एक नमूना लेकर सारे ढेर की परख कर लेना।

हिन्दू औषध-विज्ञान की चिकित्सा-प्रणाली का ज्ञान मानव को सर्व-प्रथम होने का एक अति महत्त्वपूर्ण प्रमाण इस तथ्य में उपलब्ध होता है कि पश्चिमी चिकित्सा-शास्त्र की शब्दावली में आयुर्वेद से व्युत्पन्न शब्दों की भरमार स्पष्ट दृष्टिगत होती है।

अंग्रेज़ी शब्द 'कफ़' का विचार कीजिए। यह वही 'कफ़' शब्द है जो आयुर्वेद में अति सामान्य शब्द है। आयुर्वेद के मूल-सिद्धान्तों में से एक यह है कि किसी भी रोगी के शरीर में होने वाला रोग 'वात-पित्त-कफ' [अंग्रेजी गैस, पित्त (बाइल), बलग़म (फ़्ले'म)] में असन्तुलन का प्रतिरूप है। वही आयुर्वैदिक शब्द 'कफ' अंग्रेजी में भी 'कफ़' के रूप में ही विद्यमान है। आपत्ति यह की जा सकती है कि आयुर्वेद में 'कफ' का अर्थ तो

बलग़म होता है, परन्तु अंग्रेजी भाषा के 'कफ़' का अर्थ थोड़ा भिन्न है। प्रयोग में अन्तर तो स्पष्ट है किन्तु इसका कारण तो अंग्रेजी चिकित्सा-व्यवहार और प्राचीन आयुर्वेद के मध्य अलगाव की शताब्दियाँ हैं। चूंकि सम्पूर्ण विश्व में यह माना जाता है कि 'कफ़' (अंग्रेजी भाषायी) को उत्पन्न करने वाले तत्त्वों में से एक मूल तत्त्व बलग़म है, इसलिए स्पष्ट है कि अपने सम्पृक्तार्थ में कुछ विचलित हो जाने पर भी अंग्रेजी भाषा वाला 'कफ़' शब्द आयुर्वेदिक 'कफ' शब्द से भिन्न कुछ भी नहीं है।

अंग्रेज़ी 'हार्ट' शब्द के लिए एक अति महत्त्वपूर्ण आयुर्वेदिक शब्द 'हृदय' लीजिये। अंग्रेज़ी चिकित्सा-पद्धति में रोगी के हृदय की धड़कन (हार्ट-बीट) की परीक्षा करना अति सामान्य बात है, फिर भी, आम तौर पर यह सर्वज्ञात नहीं है कि 'हार्ट' शब्द भी प्राचीन आयुर्वेदिक, संस्कृत, हिन्दू-मूलक है। 'हृदय' शब्द से व्युत्पन्न अनेक शब्दों में 'हार्दिक' भी एक शब्द है जिसका अर्थ 'हृदय से अनुभूत' है। इस प्रकार, कोई संस्कृत-भाषी व्यक्ति जब किसी के प्रति अपनी 'हृदय से अनुभूत' कृतज्ञता, बधाई प्रकट करना चाहता है, तो वह 'हार्दिक अभिनन्दन' कहता है। इस चर्चा से यह अनुभूति हो जाएगी कि संस्कृत में 'हार्दिक' का अर्थ 'हृदय से अनुभूत' (हार्ट-फैल्ट) है अर्थात् संस्कृत का 'हृद' अंग्रेजी में 'हार्ट' उच्चारण किया जाता है।

रोग-निदान-शास्त्र से सम्बन्धित एक अन्य अंग्रेज़ी शब्द 'हिक्कप्स' है। वह शब्द संस्कृत का 'हिक्क' है।

चिकित्सा-विज्ञान की शाखा, जिसका नाम वृद्ध-रोग-निदान है, पूर्ण-रूपेण आयुर्वेदिक मूलक है क्योंकि संस्कृत में 'जर' का अर्थ वृद्धावस्था और 'ओन्टो' किसी जीव के 'अन्त' का द्योतक है—अंग्रेज़ी शब्द है 'जरन्टो-लौजी'। 'जरन्टोलौजी' यथार्थ में जीव-प्राणियों के सम्बन्ध में इस बात के अध्ययन का विज्ञान है कि वे वृद्धावस्था को कैसे प्राप्त होते हैं और मर क्यों जाते हैं। इस तथ्य से स्पष्ट है कि यह अध्ययन, जिसे आधुनिक व्यक्ति पश्चिम की देन समझते हैं, अति प्राचीन भारतीय, हिन्दू आयुर्वेदिक पुरा-वस्तु है। इसका अध्ययन और प्रशिक्षण पश्चिम में तबतक होना सम्भव नहीं था जबतक यूरोपियनों को अधिशासित और प्रशिक्षित करने के लिए

भारतीय शिक्षक और प्रशासक सम्पूर्ण यूरोप में न फैल गये हों। हम यहाँ इस बात की ओर पुनः इंगित करना चाहेंगे कि इसका यह अर्थ नहीं है कि भारतीय लोग यूरोपियनों को अपने गुलाम व्यक्ति समझते थे। भारतीय लोग सम्पूर्ण विश्व को एक ही प्रदेश समझते थे और सभी मानवों को एक ही भ्रातृ-समुदाय मानते थे। कदाचित् अभी भी भारतीय लोग ही विश्व का एक-मात्र ऐसा समुदाय है जो एक-विश्व और एक-मानव-समुदाय का विचार करता है।

अंग्रेज़ी शब्द 'ग्लैंड' लें। यह भी संस्कृत-मूलक है। संस्कृत का शब्द 'ग्रन्थि' है। संस्कृत का अन्त्य-भाग 'थ' अंग्रेज़ी में 'ड' हो जाता है। इस प्रक्रिया का दर्शन 'लैम्प-स्टैंड' शब्द में किया जा सकता है। संस्कृत में, वह अंग्रेजी 'स्टैंड' शब्द, 'स्थान' है। इसी प्रकार, प्राचीन संस्कृत शीर्ष 'आंग्ल-स्थान' पहले 'एन्गललैंड' में और फिर 'इंग्लैंड' में परिवर्तित हुआ देखा जा सकता है।

अंग्रेज़ी चिकित्सा-शास्त्रीय 'पिट्विटरी ग्लैंड' शब्द भी बलग़म के लिए प्रयुक्त आयुर्वैदिक शब्द 'पित्त' से व्युत्पन्न है, जैसा पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। मस्तिष्क में जल-अतिसेक करने वाला 'हाइड्रो-सेफेलस' रोग संस्कृत शब्द 'आर्द्रकपाल' है।

अंग्रेज़ी रोग-विज्ञान में 'ओस्टिओ-मेलेसिया' और 'ओस्टिओ-पैरोसिस' नामक दोनों रोगों के नाम संस्कृत से व्युत्पन्न हैं। संस्कृत में 'अस्थि' का अर्थ 'हड्डी' है (जो अंग्रेजी में 'ओस्टिओ' में बदल गया है) और 'मल' का अर्थ 'दूषित होना, रोग-युक्त होना अथवा बुरा' है। इससे स्पष्ट है कि इन दोनों रोगों का अध्ययन प्राचीन आयुर्वैदिक ग्रन्थों से किया गया है।

कैंसर का जख्म अथवा घातक अर्बुद (ग्रन्थि) का वर्णन करने में प्रायः उपयोग में लाया जाने वाला 'मलिनेन्ट' शब्द लें। वह 'मलिनैन्ट' शब्द संस्कृत का मलिन शब्द है जिसका अर्थ दूषित, बुरा, मैला आदि है। वही संस्कृत शब्द अंग्रेज़ी में व्यापक रूप में प्रयोग में आता है; यथा मेलवा-लेन्ट, माल-एड्मिनिस्ट्रेशन, माल-एड्रोइट, माल-प्रैक्टिस, माल-एड्ज़स्टमेंट, मैलेडी...आदि।

रोगी व्यक्ति अपने चिकित्सक से प्रायः शिकायत करता है कि उसका दिल

अथवा सिर 'चक्कर' अनुभव करता है। इस रोग का अंग्रेजी शब्द 'स्पिन' है। यह शब्द संस्कृत, आयुर्वैदिक-मूल का है। संस्कृत का शब्द स्पन्दन है। अंग्रेजी का 'स्पिडण्ल' शब्द भी उसी संस्कृत-मूल का है। यूरोपीय 'मैटरनिटी' शब्द संस्कृत का 'मातृ-नीति' है और 'पैडाट्रिक्स' शब्द संस्कृत के तीन शब्द पद—अस्थि-शास्त्र का मिश्रित समूह है। 'पैडा' से शिशु का अर्थ लगाने वाली व्युत्पत्ति काल्पनिक है, भ्रामक है। 'डैन्टिस्ट्री' शब्द संस्कृत का 'दन्त-शास्त्र' शब्द-युग्म है।

ऊपर प्रदर्शित किये उदाहरणों के अनुसरण पर यूरोपीय चिकित्सा-पद्धति की शब्दावली तथा निदान व रोगोपचार के मूल की अति सूक्ष्म और व्यापक परीक्षा इस तथ्य को अवश्य ही उद्घाटित कर देगी कि हिन्दू ऋषियों और दृष्टाओं द्वारा चिर-विस्मरणीय युगों में इतनी सुदक्षतापूर्वक विकसित प्राचीन मान्य, पूर्णता-प्राप्त, दोष-रहित, खर्च-हीन, निपुण औषध-प्रणाली पर ही नौ-सिखिएपन वाली, अस्पष्ट, व्यावसायिक, भयावह रूप में खर्चीली, और लड़खड़ाती-दिखावटी पश्चिमी चिकित्सा-पद्धति प्रस्तुत की गई है। प्राचीन आयुर्वैदिक पद्धति का प्रचार-प्रसार, समस्त विश्व में अथक, पर-हितवाद-परक, निःस्वार्थ हिन्दू प्रवर्तक कल्याणकर्ताओं ने किया था। उनका कार्य प्रेम और सेवा-भाव से प्रेरित था क्योंकि यह तो सर्वज्ञात ही है कि प्राचीन हिन्दू आयुर्वैदिक चिकित्सक और उनके आनुषंगिक कार्मिक, निःशुल्क, धर्मार्थ ही अपनी सेवाएँ और उपचार प्रस्तुत किया करते थे। कारण यह है कि किसी व्यक्ति की शारीरिक व्यथा से किसी भी प्रकार का धनोपार्जन उन हिन्दुओं के लिए तिरस्करणीय था। आयुर्वेद का धर्मादेश है कि सम्पूर्ण चिकित्सा-सहायता पूर्णतः, नितान्त निःशुल्क होनी चाहिये। हिन्दू रीति-नीति का भी यही आग्रह रहा है कि शिक्षा-सम्बन्धी सभी कार्य भी नितान्त निःशुल्क होने चाहिये। हमारे अपनी ही युग में ऐसे व्यक्ति मिलने कोई विरली, निराली बात नहीं है जो आयुर्वैदिक उपचार करते हैं किन्तु बदले में किसी प्रकार का धन अथवा अन्य कुछ भी स्वीकार नहीं करते हैं। चिकित्सा-सेवा के बदले में किसी भी प्रकार की प्रतिपूर्ति नहीं करना उनका कठोर व्यावसायिक सिद्धान्त होता है।

दुःखित, व्यथित के प्रति इस प्रकार की निःस्वार्थ सेवा और आवश्यक-

ग्रस्त व्यक्ति को नि:शुल्क शिक्षा देना प्राचीन युग में मात्र इसी कारण सम्भव हो पाये कि हिन्दुओं ने अपने प्रबुद्ध, बुद्धिजीवी व्यक्तियों के हृदय में विराग, मितव्ययिता और सभी जीवों के प्रति अपरिहार्य कर्तव्य-पालन की भावना का उच्च आदर्श स्थापित किया हुआ था। साथ-ही-साथ, लाभार्जन करने वालों को और वेतन-भोगियों को प्रशिक्षित किया गया था कि वे ऐसे सभी नि:स्वार्थ, सामाजिक-कार्यकर्ताओं की देखभाल, उनके खान-पान, जीवन-यापन के लिए अत्युदार (अंश) दान द्वारा सहायता करें।

व्यावसायिक दयालुता के ऐसे विशुद्ध, निष्कलंक आदर्शों के अतिरिक्त आयुर्वैदिक औषध-निर्माण सम्बन्धी और रोगि-शय्या-सम्बन्धी स्तर भी अत्युच्चावस्था को प्राप्त थे। आयुर्वैदिक विशेषज्ञ-जन आडम्बरहीन छोटे-छोटे गाँवों में कम-से-कम परिधानों में रहा करते थे। वे लोग जंगलों से जड़ी-बूटियाँ लाने से लेकर गाँव और शहरों में रोगियों को दवा देने तक लगभग सारा ही कार्य स्वयं किया करते थे। सम्पूर्ण व्यावसायिक काम-काज स्वयं करने से उसमें शुद्धता होती थी। सभी जड़ी-बूटियों को कूटने-पीसने से लेकर रोगियों को दवा पिलाने तक का सम्पूर्ण कार्य ये आयुर्वैदिक वैद्य, लोग स्वयं ही किया करते थे।

आयुर्वैदिक रोगि-शय्या और औषध-वितरण सम्बन्धी ज्ञान कुछ व्यावसायिक व्यक्तियों तक ही सीमित रखने के स्थान पर जानबूझकर, सुनियोजित ढंग से परिवार की महिलाओं और साधारण ग्रामीण कारीगर और किसान तक के सभी स्तरों के व्यक्तियों को भी रहस्य-उद्घाटित किया जाता था। सभी सामान्य रोगों और चोटों के लिए वे सभी लोग शीघ्र प्रभावकारी और प्राय: नि:शुल्क, सस्ती दवाइयों का सेवन जानते थे। इसके अतिरिक्त, जलोदर, ग्रंथिक क्षयरोग, पुराना अमीबा, रक्तचाप, बवासीर और मधुमेह जैसे ख़तरनाक रोगों के लिए भी रामबाण ओषधियों का विकास आयुर्वेद चिकित्सा-शास्त्र में किया जा चुका था।

पूना-स्थित आयुर्वैदिक महाविद्यालय के एक प्रधान आचार्य ने एक बार मुझे बताया था कि अत्यन्त सादे वेश वाला एक स्थानीय व्यक्ति यहाँ रहता था जिसे अस्थि-क्षयरोग के उपचार के लिए अत्यन्त साधारण तथापि अति प्रभावकारी इलाज का ज्ञान था। उसने उस रोग के सभी बीमारों की

निःशुल्क, धर्मार्थ चिकित्सा करने की सेवा हृदयंगम की हुई थी। स्थानीय अस्पताल के चिकित्सकादि अस्थि-क्षयरोग का कोई उपचार न जानने के कारण उस रोग के रोगियों को उपचार-हेतु निरन्तर उस सीधे-सादे व्यक्ति के पास ही भेज दिया करते थे। वह व्यक्ति रात्रि के समय एक निकटस्थ जंगल में जाता था, कोई जड़ी-बूटी लाता था, पानी सहित उसको पत्थर पर घिसता-रगड़ता था, और रोग-ग्रस्त भाग पर उसका लेपन करता था। रोगियों को ठीक होने में कोई समय नहीं लगता था। किन्तु अफ़सोस की बात यह थी कि वह व्यक्ति यह नहीं बताता था कि वह जड़ी-बूटी कौन-सी थी। अस्पताल के चिकित्सकों ने उस रहस्य की जानकारी प्राप्त करने की इच्छा से एक बार उस व्यक्ति का चोरी-छिपे अनुसरण किया। वह व्यक्ति, यह अनुभव होते ही कि कोई उसका पीछा कर रहा था, चम्पत हो गया। उसके बाद, उसे कभी किसी ने नहीं देखा। वह किसी को दिखायी नहीं दिया।

मैं एक वृद्धावस्था को प्राप्त, प्रत्यक्षत: तेजवती, महिला को जानता हूँ, जिसको अकस्मात् ग्रांथिक-क्षयरोग हो गया। बाहर उभरती हुई ग्रन्थियों ने उसके चाँद-से मुखड़े को विद्रूप कर दिया। उन ग्रन्थियों से दुर्गन्धमय स्राव ने स्वयं उसके लिए और अन्य लोगों के लिए भी जीवन को नरक बना दिया था। वह अन्य लोगों के लिए बोझ बन गई। उसने इलाज के लिए भरसक खोज की। सभी व्यक्तियों ने उस रोग को असाध्य घोषित कर दिया। फिर, किसी ने उसे एक अप्रदर्शनप्रिय, निरभिमानी देहाती दर्जी के बारे में बताया जो भारत के महाराष्ट्र प्रदेश के कराड नगर में रहता था। सभी प्रकार निराश होने पर भी वह उसके पास जा पहुँची। उस दर्जी ने महिला से पूछा कि उपचार-हेतु उसके अंग को फफोलने से होने वाली पीड़ा को क्या वह सहन कर लेगी। रोगी महिला ने उत्तर दिया कि मैं इस रोग से इतना तंग आ चुकी हूँ कि उपचार-हेतु सभी प्रकार का कष्ट सहन कर लूँगी। उपचार प्रारम्भ कर दिया गया। दर्जी एक फटे हुए चिथड़े कपड़े को, खुले में, वृक्ष के नीचे फैला देता था। महिला को उस वस्त्र पर पालथी मारकर बैठना होता था। तब दर्जी उस महिला की ग्रन्थियों पर एक मोटा-सा रक्तिम लेप पोत दिया करता था। लेप सूखने

पर ग्रन्थियाँ तो सुकड़ने लगती थीं जिसके कारण उनमें जमा हुआ रक्त और मवाद बाहर निकलने लगता था और रोगी के मुख पर से बहता हुआ नीचे बहने लगता था। यह उपचार कुछ दिनों तक जारी रहा और बहुत-थोड़े दिनों के भीतर ही उस महिला का मुखड़ा पूर्ववत् सुन्दर हो गया। बिना किसी प्रकार का निशान छोड़े ही, वह रोग गायब हो गया था। उस दर्जी ने उपचार करने का एक पैसा भी नहीं लिया। उसने जो कुछ कहा, वह यह था—"मैं भगवान् की प्रार्थना करता हूँ, और उसकी अपरम्पार शक्ति व कृपा के लिए आप भी उसी की प्रार्थना करें, तथा उसका धन्यवाद करें।"

अनेक परिवारों की महिलाएँ खसरा और सूखा रोग जैसे सामान्य रोगों से ग्रसित बच्चों का निःशुल्क उपचार किया करती थीं। घरेलू वस्तुओं से सस्ता इलाज होने के कारण उनके निवास-स्थानों पर प्रायः भीड़ लगी रहा करती थी, जिनमें दूर व पास के स्थानों से ऐसे बच्चे अपने निर्धन माता-पिता सहित उनके यहाँ उपस्थित रहते थे।

महिलाओं के प्रसव-कार्य तो निरपवाद रूप में घरों में ही हुआ करते थे। संयुक्त परिवार की ज्येष्ठा महिलाओं के कुशल-मार्गदर्शन में यह कार्य सम्पन्न होता था। आयुर्वेदिक औषधों के सम्बन्ध में ज्ञान इतना सामान्य था और उसकी प्राप्ति इतनी सरल कि प्रायः प्रत्येक ज्येष्ठ पुरुष अथवा महिला को, कुछ समय बाद, सभी सामान्य रोगों का उपचार करना आ जाता था। खाँसी, जुक़ाम, सिर-दर्द, अनिद्रा, पेट-दर्द, मतली-मचली और कब्ज जैसे साधारण रोगों के उपचार-हेतु तुरन्त प्राप्य आयुर्वेदिक औषधों का एक संग्रह प्रायः सभी लोग अपने-अपने घरों में रखते थे। सभी आयुर्वेदिक ओषधियाँ प्रायः इतनी सस्ती होती थीं कि थोड़ी-सी मात्रा के लिए कोई भी व्यक्ति उनकी कीमत माँगने की परवाह नहीं करता था। किसी भी घर से उपचार पूछने भर की आवश्यकता होती थी कि ओषधि निःशुल्क ही तुरन्त प्राप्त हो जाती थी।

यह खेद की बात है कि प्राचीन हिन्दू चिकित्सा-विज्ञान आयुर्वेद जनता की ओर से उपेक्षा के कारण शनैः-शनैः लोप होता जा रहा है। यह प्रत्येक दृष्टि से एक आदर्श चिकित्सा-प्रणाली थी। आयुर्वेदिक ओषधियों की एक

परख सर्वोच्च, सर्वोत्तम है जो अन्य किसी भी ओषधि में उपलब्ध नहीं है। सभी ओषधियाँ खाद्य होनी चाहिये और सभी खाद्य वस्तुएँ औषध। सभी आयुर्वेदिक ओषधियाँ इस सिद्धान्त पर खरी उतरती हैं। इसके अतिरिक्त, आयुर्वेद के उल्लेखनीय गुणों, लक्षणों में से कुछ ये हैं कि वे सरल और तुलनात्मक रूप में कम कष्टदायक उपचारी हैं, चमत्कारी प्रभाव होता है, ओषधियाँ सरलतापूर्वक प्राप्य हैं, इनमें चीरा-फाड़ी के स्थान पर औषध-सेवन पर अधिक विश्वास होता है, मूल ओषधियों को घर पर ही तैयार किया जाता है और रोगियों का उपचार भी घर पर ही किया जाता है, वे ओषधियाँ मादक नहीं होतीं, इनमें क्लेशदायक, बेढंगे, रोग-निदान सम्बन्धी अनाप-शनाप वस्तुओं का सर्वथा अभाव है, ओषधियों का नगण्य मूल्य होता है तथा इनमें यह सुविधा होती है कि कोई भी व्यक्ति इनको रोगी को दे सकता है—उनका सेवन करा सकता है।

प्राचीन हिन्दुओं ने एक अति कुशल और सस्ती चिकित्सा-प्रणाली का न केवल आविष्कार और विकास ही किया था, अपितु उसे सम्पूर्ण प्राचीन विश्व में प्रचारित-प्रसारित करने में सफलता भी प्राप्त कर ली थी। यह तथ्य इस बात का प्रमाण भी है कि उन्होंने एक ऐसा मानव-भ्रातृत्व स्थापित करने में भी सफलता प्राप्त कर ली थी जिसमें किसी भी प्रकार का क्षेत्रीय, जातीय अथवा राजनीतिक भेद-भाव नहीं था।

सम्पूर्ण प्रशान्त क्षेत्र हिन्दू-प्रदेश था

विश्व की जनता सामान्य रूप में यह अनुभव नहीं कर पाती है कि हिन्दुत्व और संस्कृत कितनी अधिक मात्रा में ऐक्य की भावना को जन्म दे सकते हैं। व्यक्ति विश्व के किसी भी भाग पर पदार्पण करे—उसे एक प्राचीन हिन्दू संस्कृति के चमत्कारी लक्षण दृष्टिगत होने अवश्यम्भावी हैं जिनसे वह क्षेत्र अभी भी परिव्याप्त मिलेगा।

आइए, हम मलयेशिया का उदाहरण लें। लगभग दो दशक पूर्व, यह मलय देश के नाम से पुकारा जाता था। निकट ही, इसके दक्षिणी छोर पर सुरम्य सिंगापुर द्वीप है। मद्रास के पूर्व में लगभग २,००० मील पर है।

मलय और सिंगापुर, दोनों ही, संस्कृत शब्द हैं। संस्कृत साहित्य मलय शब्द से भरा पड़ा है। कल्पना की जाती थी कि मलय पर चन्दन विपुल मात्रा में होता था। मलय देश की एक कहावत में कहा गया है कि वहाँ पर चन्दन इतना अधिक होता है कि वहाँ वनजाति की पारिवारिक महिलाएँ उसको ईंधन समझकर चूल्हा जलाती हैं।

अतः, मलय और सिंगापुर, दोनों ही, संस्कृत शब्द हैं। सिंगापुर की सही वर्तनी सिंहपुर—अर्थात् सिंहों की नगरी होनी चाहिये। सन् १४९२ ई० में जब ब्रिटिश खोजी रैफल्स सिंगापुर की धरती पर पहुँचा था, तब उसने एक हिन्दू राजा का बनवाया हुआ क़िला देखा था। उस राजा का नाम परमेश्वर था। इस सम्बन्ध में वहाँ संस्कृत भाषा का एक शिलालेख था। उस क़िले के स्थान पर आजकल राजमार्ग बना हुआ है जिसे सिंगापुर में 'स्टेम्फोर्ड रोड' कहते हैं।

वह क़िला समुद्री-सीमा पर नियन्त्रण रखने के लिए सिंहपुर-द्वीप के दक्षिणी छोर पर प्राचीन हिन्दुओं ने बनवाया था। यह उन दिनों का एक

अतिमहत्त्वपूर्ण नौसिक, सैनिक और वाणिज्यिक अड्डा था जब भारत सागरों का स्वामी था और उसके जलपोत दक्षिणी अमरीका के पूर्वी-तट से मैक्सिको के पश्चिमी तट तक और उत्तर-ध्रुवीय क्षेत्र से दक्षिण-ध्रुवीय क्षेत्र तक के विशाल प्रदेश में स्थित सागरों की छातियों को अप्रतिहत चीरते हुए बे-रोक-टोक जाते-आते थे। 'रैफ़ल्स के संस्मरण' उन पुस्तकों में से एक है जिसमें भारत के यशस्वी विश्व-साम्राज्य की एक झलक के दर्शन विद्वानों को मिल सकते हैं।

भारत की अबाध जल-यात्राओं का एक विचित्र स्मृति-चिह्न अर्थात् प्राचीन भारतीय जलपोतों और युद्ध-पोतों के गले में लटकायी जाने वाली धातु की एक घण्टी जिसपर एक तमिल शिलालेख अंकित था, एक आस्ट्रेलियाई आदिम व्यक्ति को मछलियाँ पकड़ते समय उसके जाल में प्राप्त हुआ था।

मलाया (मलय-देश) और सिंगापुर एक राजमार्ग द्वारा जुड़े हुए हैं जो सुरंग पर बने हुए पुल के आर-पार गया है। ब्रिटिश लोगों के अधीन मलयेशिया आंशिक रूप में ब्रिटिश प्रदेश था और आंशिक रूप में छोटे-छोटे रजवाड़ों में महाराजाओं के अधीन उसी प्रकार था जिस प्रकार भारत में था। जिस प्रकार विश्व के कई देशों का वीभत्स भाग्य था, उसी प्रकार मलय देश भी अरब लोगों के बर्बर त्रासदायक, आतंकपूर्ण आक्रमणों का शिकार था। तलवार और मशाल के बल पर उन्होंने मलय-देश का घेरा डाल दिया, और वहाँ के निवासियों को आतंकित कर दिया कि वे इस्लाम धर्म को स्वीकार करें। उस सर्वनाश की घड़ी में, सभी मलयेशियन लोग, जो सभी हिन्दू ही थे, राजकुमार से भिखारी तक, मुस्लिम बन गये—इस्लाम धर्म में परिवर्तित कर दिए गये।

किन्तु इस्लाम की जड़ें अभी गहरी नहीं जमी हैं। हमें आशा करनी चाहिये कि उनके यशस्वी हिन्दू विगत-काल की विरही स्मृतियाँ और अरब-आक्रमणकारियों द्वारा ढाहे गये सर्वनाश के सत्य वर्णनों के परिश्रमपूर्ण अध्ययन एक दिन मलयेशियायी लोगों को प्रेरित करेंगे कि वे अपने अति प्राचीन हिन्दू-धर्म को वापिस माँगेंगे और उसे पुनः अंगीकार कर लेंगे।

मलयेशिया-वासियों की भाषा और संस्कृति अभी भी संस्कृत और हिन्द

है। उनकी राजधानी 'क्वालालम्पुर' का ही नाम लें। 'पुर' प्रत्यय संस्कृत का अन्त्य-शब्द है जो नगर-नगरियों का द्योतक है। एक अन्य नगर 'सीराम-बन' है जो वास्तव में 'श्री राम वन' अर्थात् श्री रामचन्द्रजी का कुंज-निकुंज है। पहाड़ी उत्तरी मलयेशिया का एक नगर 'सुंगई पट्टणी' कहलाता है। इसका पुरातन संस्कृत नाम 'शृंग पट्टण' था जिसका अर्थ 'पर्वतीय नगर' था। 'पेतालिंग-जय' नामक एक अन्य नगर का नाम 'स्फटिक-लिंग-जय' अर्थात 'भगवान् शिव के महान् स्फटिक चिह्न' से ही व्युत्पन्न है। प्रसंगवश कह दिया जाय कि उसमें एक अतिमहत्त्वपूर्ण पुरातत्त्वीय-सूत्र प्राप्त होता है। उस नगर का मुख्य पूजा-स्थल अवश्य ही एक विशाल शिवलिंग रहा होगा, जो स्फटिक अथवा स्फटिक-सदृश श्वेत संगमरमर का होगा। भारत में, आगरा स्थित सुप्रसिद्ध ताजमहल भी तेज-महा-आलय अर्थात् जाज्वल्यमान देवालय था जिसमें शिवलिंग प्रतिष्ठित था। जिस प्रकार ताजमहल को इस्लामी-कब्र में बदल दिया गया, उसी प्रकार सम्भव है कि 'पेतालिंग जय' की मुख्य मस्जिद स्फटिक शिवलिंग के एक प्राचीन हिन्दू देवालय के ऊपर ही स्थापित हो। धर्मान्ध इस्लामी आक्रमणकारी लोग इस बात के लिए कुख्यात थे कि वे पवित्र हिन्दू मन्दिरों को मात्र घोर प्रतिकूलता के ही कारण मस्ज़िदों और मकबरों में बदल दिया करते थे।

सम्पूर्ण प्राचीन हिन्दू मलयेशिया में हिन्दू देवता भगवान् शिव ही आराधना-पूजन के मुख्य बिन्दु थे। कुछ दशक पूर्व 'सुंगई पट्टणी' में एक अति प्राचीन हिन्दू शिव मन्दिर उत्खनन में प्राप्त हुआ था। भारत की योद्धा-जाति—क्षत्रियों—के मुख्य देवता भगवान् शिव और उनकी अर्धांगिनी भवानी अर्थात् दुर्गा ही थे। वे लोग जहाँ भी गये, अपने साथ भगवान् शिव को ले गये और उनको वहीं प्रतिष्ठित कर दिया। यही कारण है कि विश्व के सभी भागों में भगवान् शिव मिलते हैं—न केवल प्रसिद्ध नगरों में, अपितु ईसाई-मत और इस्लाम के भी मुख्य आराध्य-स्थलों में। वेटिकन नगर के पोप के एट्रुस्कन संग्रहालय में एक अति प्राचीन शिवलिंग अभी भी सुशोभित है। जब इटली-वासी हिन्दू थे, तब वे इसी शिवलिंग की पूजा किया करते थे। प्राचीन अरबों द्वारा जिस हिन्दू शिवलिंग की पूजा की जाती थी, वही शिवलिंग अभी भी मक्का में प्रतिष्ठित है। अपनी

वार्षिक प्राचीन हिन्दू तीर्थयात्रा के लिए एकत्रित होने वाले मुस्लिम व्यक्ति उसी शिवलिंग की पूजा करते हैं। भयानक यातनाओं के कारण इस्लाम धर्म अंगीकार करने के लिए बाध्य होने से पूर्व प्राचीन अरब लोग उसी शिवलिंग की पूजा करते थे।

ऊपर दिये गये कुछ थोड़े से उदाहरणों से प्राचीन मलय-संस्कृति के विद्यार्थियों को यह तथ्य हृदयंगम हो जाना चाहिये कि अनेक स्थानवाचक नाम हिन्दू, संस्कृत मूलोद्गम ही हैं।

'इपोह' नाम से पुकारे जाने वाले नगर से कुछ मीलों पर गरम पानी का एक झरना है। प्राचीन संस्कृत पुण्डरीक स्तोत्र वहाँ प्राप्त हुआ था। उस स्थल पर लगे हुए स्तम्भ में संगमरमर के जड़े हुए फलक में उसी प्राचीन ग्रन्थ के कुछ अवतरण खुदे हुए हैं। मैंने इसे सन् १९४४ ई० में देखा था।

मलाया के देशी राज्यों के शासक 'महाराजा' की संस्कृत उपाधि से श्री विभूषित हैं, यद्यपि वे लोग शनैः-शनैः अपने आपको सुलतानों के रूप में घोषित करने लगे हैं। स्वतः सिद्ध है कि यह बहुत बाद की अवस्था है क्योंकि जोहोर के तथाकथित सुलतान द्वारा दिए गये सन् १९४३-४५ के मध्य स्वागत-समारोह के अवसर पर मैंने अति प्रसन्नतापूर्वक 'जोहोर के महाराजा' शब्द उनके पटल-वस्त्रों पर कढ़े हुए अथवा मोहर लगे देखे थे।

मलाया में महाराजाओं के राजमहल अभी भी उनके प्राचीन संस्कृत नाम 'आस्थान' से ही जाने जाते हैं। उनके युवराज और राजकुमारियाँ 'पुत्र' और 'पुत्री' कहलाते हैं। संस्कृत में इन शब्दों का अर्थ 'बेटा' व 'बेटी' है। साधारण लोग भी यही सम्बोधन करते हैं। राजवंशी मलय कन्याएँ अभी भी सम्मानवर्धक 'महादेवी' सम्बोधन से पुकारी जाती हैं। इस प्रकार, किसी राजकुमारी का इस्लामी नाम फ़ातिमा हो, तो भी उसे 'पुत्री, महादेवी फ़ातिमा' के नाम से ही सम्बोधित किया जायेगा। इससे संस्कृत भाषा का अभी भी व्याप्त अतुलनीय प्रभाव स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार मलयेशियायी जीवन संस्कृत भाषा से भरा पड़ा है। इससे हमारे भारतीय विद्वानों और कूटनीतिज्ञों को मलयेशिया के साथ घनिष्ठ सांस्कृतिक सम्पर्क करने और मलयेशियायी विद्वानों व वहाँ के सरकारी व्यक्तियों के साथ मिलकर पुरातत्त्वीय व ऐतिहासिक छानबीन व उत्खनन के लिए एक उत्कृष्ट सामग्री

प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए, उनको चाहिये कि वे महान् स्फटिक शिवलिंग का पता लगाएँ जहाँ 'पेतालिंग जय' के निवासी आराधना किया करते थे, और राजधानी क्वालालम्पुर का मूल संस्कृत नाम क्या था— यह भी खोज-बीन करें। यह तथ्य स्पष्टतया दर्शाता है कि करने के लिए कितना अधिक काम शेष पड़ा है। फिर भी, हमारे दूतावास और इतिहास-लेखक अपने कर्तव्य से सर्वथा अनभिज्ञ प्रतीत होते हैं। हमारे विदेश मन्त्रालय को चाहिये कि वे एक विशेष प्रकोष्ठ खोल लें जिसका कार्य विश्व के लगभग प्रत्येक भाग में ऐसे कार्य के महत्त्व की ओर अपने दूतावासों का ध्यान आकृष्ट करना हो।

जोहोर के सुलतान की अनेक पुत्रियों में से एक का नाम 'विद्याधारी' था। वह विशुद्ध संस्कृत शब्द है जिसका अर्थ 'अति ज्ञानवती' है। सिंगापुर की एक बस्ती का नाम उसी के नाम पर रखा गया था क्योंकि ब्रिटिश लोगों द्वारा विजय से पूर्व सिंगापुर जोहोर के महाराजा के आधिपत्य का भाग था।

मलय भाषा अभी भी संस्कृत शब्दों से ओत-प्रोत है। 'बुरी कामना' के द्योतक संस्कृत भाषी शब्द 'शाप' का मलय भाषा में उच्चारण 'सिरापह' है। 'सरज' कमल है, जैसा संस्कृत में है। 'सरीगाल' संस्कृत का 'शृगाल' अर्थात् गीदड़ है। संस्कृत का 'श्री' शब्द सौन्दर्य और सम्मोहन के रूप में मलय में 'सेरी' उच्चारण किया जाता है। अतः 'सेरी नगेरी' का अर्थ 'श्री-नगरी' अर्थात् एक नगरी का गौरव और वैभव है। मलय का 'सरी मुख' संस्कृत का 'श्रीमुख' अर्थात् आनन की आभा है। मलय 'संतेजा' संस्कृत का 'सन्तोष' शब्द है जिसका मूल अर्थ सन्तोष, धैर्य, शान्ति, विश्राम और स्थिरता है।

मलय में उत्तराधिकारी युवराज का अर्थ-द्योतक 'टुंकू मुकुट' शब्द संस्कृत का 'टोक-मुकुट' है। 'टोक' शिशु है और मुकुट ताज है। भाषा के लिए मलय शब्द वैसा ही है जैसा संस्कृत में अर्थात् 'भाषा' ही है जो 'भासा' लिखा जाता है। संस्कृत में सायंकाल के लिए 'सन्ध्या' शब्द का मलयभाषी समानक शब्द 'सन्जा' है। इसकी संस्कृत व्युत्पत्ति 'सन्धिकाल' का उच्चारण

मलयवासी लोग 'सन्जाकाल' करते हैं। हिन्दी में भी संस्कृत का 'संध्या' शब्द 'सांझ' में बदल जाता है।

पहाड़ी नमक के लिए संस्कृत भाषा में 'सैन्धव' शब्द है। मलय भाषा में यह शब्द अब 'शोरा' (यवक्षार) का द्योतक है। 'सेना' संस्कृत के समान ही फ़ौज अथवा पैदल सेना का अर्थ-द्योतन करता है। 'पद्य' के द्योतक संस्कृत के 'श्लोक' शब्द को मलयवासी लोग 'सिलोक' के रूप में इस्तेमाल करते हैं। उपहास अथवा व्यंगात्मक कविता के रूप में। दण्ड के लिए संस्कृत का 'शिक्षा' शब्द मलय भाषा में 'सिक्सा' उच्चारण किया जाता है। इसी में यातनाएँ और कठिनाइयाँ भी निहित हैं। (एक ही गर्भ के) भाई या बहन के अर्थद्योतक संस्कृत शब्द 'सहोदर' को मलय भाषा में 'सौदर' उच्चारण करते हैं। शरीर पर लोमयुक्त कोमल बालों का अर्थद्योतक संस्कृत भाषा का 'रोम' शब्द मलय भाषा में अभी भी ज्यों-का-त्यों प्रयोग होता है।

आकृति अथवा अन्य रूप-रंग के द्योतक 'रूप' शब्द ने अपना रूप ज्यों-का-त्यों बनाए रखा है। इसी प्रकार रूपवान् का अर्थ सुन्दर अथवा मनोहर है। 'रंग' को सूचित करने वाले शब्द 'वर्ण' को मलय भाषा में 'रोंषा' के रूप में अंगीकार किया हुआ है। संस्कृत का 'पंचवर्ण' (अर्थात् पाँच रंग वाला अथवा बहु-रंगा) शब्द मलय में 'अंचरोण' के रूप में विद्यमान है।

मलयेशिया के ग्रामीण लोग भी 'ऋषि' के लिए 'रेसि' शब्द का प्रयोग करते हैं। किसी मुनि अथवा दृष्टा के लिए प्रयुक्त 'ऋषि' के प्रति आज भी उसको अत्यधिक श्रद्धा है। 'रत' (संस्कृत का 'रथ') साधारण रथ भी है और देवताओं का पंख-युक्त, उड़ने वाला रथ भी है। 'रस' स्वाद, सुगन्ध, चेतना, अनुभूति भी है और मूल संस्कृत के समान 'पारा' भी है।

सुचि शुद्ध और स्पष्ट, साफ है (सौच और स्वच्छ है) अतः, संस्कृत की ही भाँति 'महा-सुचि' का अर्थ 'अति शुद्ध' है। मलयेशियावासी इस शब्द का प्रयोग ईश्वर के पदनाम-हेतु करते हैं। सुआमी (स्वामी) प्रभु और रक्षक-गुरु है। सुअरा (स्वर) ध्वनि है, और सुअर्ग (स्वर्ग) का उच्चारण शुर्ग अथवा सोर्ग के रूप में भी किया जाता है। भारत के ही समान 'सिंग' एक सिंह—एक शेर का द्योतक है, और व्यक्तिगत नामों के साथ जोड़े जाने वाला अन्त्य प्रत्यय है। इसका संस्कृत व्युत्पन्न शब्द सिंगासन (सिंहासन)

सिंह के आसन अर्थात् सम्राट् की राजगद्दी का द्योतक है। 'सत्य' का उच्चारण 'सेनिया' है और (संस्कृत में सत्यवान्) 'सेतियावान' का अर्थ सातत्य, अटूट भक्ति, विश्वसनीयता, आस्था और स्वामिनिष्ठा है। मृगसेतुवा (मृग-सत्व) संस्कृत-शब्द है मलयवासी जिसका प्रयोग सामान्य पशुओं के लिए करते हैं। 'सेरु' सभी का द्योतक संस्कृत का 'सर्व' शब्द है, और इसका प्रयोग सेरु-सकलिया (सर्व-साकल्य) अथवा सेरु-सेमेस्ता-सकलियान (सर्व समस्त-साकल्य) आदि में उपसर्ग के रूप में किया जाता है।

मलयेशिया में प्रयोग में आने वाले हिन्दू पौराणिक नामों में सेरि राम (श्री राम) और अर्जुन हैं (जिसका उच्चारण 'रंजुन' होता है)। अप्सरा, शिव, विष्णु, मन्त्री (मन्त्री—परामर्शदाता), राजा, महाराजा अपने मूल संस्कृत और उच्चारण बनाए हुए हैं। पौराणिक सर्प—राहु अभी भी मलय भाषा में विद्यमान हैं। राहु चन्द्र की शीर्ष-शिखा है। भारतीय पुराणों में राहु के कारण ग्रहण उस समय होता है जब सूर्य या चन्द्र को वह 'ग्रस' लेता है मलयवासी इसके बारे में अभी भी उसी प्राचीन हिन्दू पौराणिक श्रद्धा से चर्चा करते हैं।

मलयवासी व्यक्ति किसी सम्मानित ज्येष्ठ व्यक्ति को पत्र लिखते समय (अति श्रद्धेय) 'पूजी-पूजियान' सम्बोधन करते हैं। संस्कृत में यही 'परम पूज्य' अथवा 'पूजनीय' है। 'पूजा' प्रार्थना अथवा शोभा का द्योतक शब्द है, मलय भाषा में ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार संस्कृत में है।

उपवास अर्थात् भूखा रहना मलय भाषा में 'पुआस' है। (भूमि) पृथ्वी पर्तवी है, और देवी के रूप में इसे संस्कृत भाषा के समान ही 'देवी पर्तवी' (देवी पृथ्वी) सम्बोधन किया जाता है। 'परणामा' पूर्ण चन्द्र (की पूर्णिमा) है और मास की द्योतक है। 'पेटेक्सा' (परीक्षा) परीक्षा, जाँच, परीक्षण, पूछताछ है। मुख्य, श्रेष्ठ, सर्वोच्च का अर्थ-द्योतक 'परदान' (प्रधान) अपना मूल संस्कृत अर्थ ज्यों का त्यों बनाये हुए है। प्रधानमन्त्री को 'परदान मन्त्री पंडित' कहते हैं जिसका अर्थ ऋषि अथवा विद्वान् व्यक्ति होता है। स्वभाव अथवा चरित्र का अर्थ-द्योतक 'प्रकृति' शब्द मलय भाषा में 'पेक्र्ती' उच्चारण किया जाता है। 'बुदि-पेकर्ती' (संस्कृत का 'बुद्धि-प्रकृति') अच्छी मनोवृत्ति के व्यक्ति का परिचायक शब्द है। भारत के ही

समान मुख्य या प्रधान के द्योतक के रूप में 'पति' अन्त्य शब्द प्रयुक्त होता है। परिणामतः, मलयवासी व्यक्ति 'अधिपति' (सर्वोच्च स्वामी, मुखिया) के रूप में इस शब्द का प्रयोग करते हैं। पद अथवा श्री-पद युवराज के पावन चरणों की ओर इंगित करते हैं।

हिन्दू, संस्कृत सभ्यता केवल मलय तक ही सीमित नहीं थी। यह बोर्नियो, फ़िलिपाइन्स, कोरिया, चीन और जापान जैसे चतुर्दिक देशों में भी परिव्याप्त थी।

यदि निकटवर्ती बोर्नियो के घने जंगलों की पूरी तरह खुदायी की जाये, तो वहाँ पर प्राचीन हिन्दुओं के प्रभुत्त्व के अनेक ऐतिहासिक स्मरण-चिह्न उपलब्ध हो जाएँगे। (बोर्नियो में) ब्रूनी के सुलतान की उपाधि 'सेरि भगवान्' अर्थात् श्री भगवान् (सर्वशक्तिमान् प्रभु) थी। आजकल क्योंकि वह सल्तनत संस्कृत से बिछुड़कर पृथक् हो गयी है, अतः उस उपाधि का गलत अर्थ 'शाही सलाहकार' लगाया जा रहा है। सन् १९७० ई० में, ब्रूनी की मुख्य बन्दरगाह का नाम सेरि भगवान् अर्थात् प्राचीन, हिन्दू संस्कृत उपाधि के नाम पर 'श्री भगवान्' रखा गया था। इस तथ्य से इतिहास-लेखकों के समक्ष स्पष्ट हो जाना चाहिये कि सुलतान के हिन्दू पूर्वजों का ज्ञान प्राप्त करना और यह पता करना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि वह हिन्दू शासक क्यों और कैसे इस्लाम-धर्म में धर्म-परिवर्तित हो गया था।

बोर्नियो का एक भाग 'सारवाक' एक ब्रिटिश व्यक्ति के सम्मुख अपनी प्रभु-सत्ता गँवा बैठा था। फिर भी, 'सारवाक' का वह श्वेत अंग्रेज शासक 'राजाः' के नाम से ही जाना जाता था। वह 'सारवाक' नाम स्वयं ही संस्कृत भाषा का है। अतः, भारत सरकार और उन पूर्वी क्षेत्रों में स्थित हमारे दूतावासों का यह कर्तव्य होना चाहिये कि वे बोर्नियो और सारवाक के क्षेत्रों का एक विशाल पुरातत्त्वीय सर्वेक्षण प्रारम्भ करें। एक ही भू-खण्ड के उन देशों में मिलने वाली वस्तुओं में धर्म-ग्रन्थों, मन्दिरों, भवनों, प्रतिमाओं, चित्रों, सिक्कों और शिलालेखों के होने की सम्भावनाएँ हैं। इस प्रकार, ये उपलब्धियाँ न केवल भारतीय, अपितु विश्व-इतिहास को भी समृद्ध करेंगी।

यद्यपि भौगोलिक इकाई के रूप में बोर्नियो एक अकेला विशाल द्वीप

है, तथापि राजनीतिक दृष्टि से यह दो भागों में विभक्त हो चुका है। श्वेत अंग्रेज़ राजा के अधीन वाला भाग 'सारवाक' साम्राज्य कहलाता था, जबकि डच-शासन के अधीन चला जाने वाला शेष भाग और जो अब स्वाधीन इण्डोनेशिया सरकार का एक भाग है—बोर्नियो कहलाता था। किन्तु इण्डोनेशियायी लोग अपने देश को जिस नाम से पुकारते हैं, वह प्राचीन भारतीय नाम 'कालीमन्थन' है। काली तो सुप्रसिद्ध भारतीय देवी है जिसको भारतीय शासकगण अत्यन्त श्रद्धापूर्वक पूजते रहे हैं।

'इण्डोनेशिया' शब्द प्राय: भ्रामक रूप में समझा जाता है, और उसकी व्याख्या भी अशुद्ध, असत्य ही की जाती है। सामान्यत:, यह अनुभव नहीं किया जाता है कि यह शब्द किसी भी प्रकार 'एशिया' का द्योतक नहीं है। 'नेशिया' तो द्वीपों के समूह का द्योतक है। इस प्रकार, 'इण्डोनेशिया' का अर्थ भारतीय द्वीप-समूह है। कहने का तात्पर्य यह है कि दस से बारह हज़ार प्रशान्त द्वीपों में से अधिकांश द्वीप (न केवल 'इण्डोनेशिया' नाम से पुकारी जाने वाली राजनीतिक इकाई में सम्मिलित द्वीप-समूह ही) प्राचीन भारतीय विश्व-साम्राज्य के ही भाग थे। प्राचीन भारतीय प्रशासनिक शब्दावली में उन सभी द्वीपों को 'द्वीपान्तर' ही, सामूहिक रूप से, कहा करते थे। संस्कृत भाषा में द्वीपान्तर का अर्थ 'अन्य द्वीप' भी है, किन्तु प्राचीन भारत की विशाल प्रशान्त-सीमाओं के लिए प्रयोज्य होने पर, 'द्वीपान्तर' शब्द का अर्थ 'अमरीकी और एशियायी महाद्वीपों के मध्य स्थित द्वीप-समूह' है। यह तथ्य उस पर्यायवाची शब्द से भी प्रत्यक्ष है जिसको जावा-वासी लोग इस विशाल देश का पदनाम प्रकट करने के लिए प्रयोग करते हैं। वे इसे 'भूम्यान्तर' कहते हैं जो 'एक पृथक् प्रदेश' का संस्कृत-शब्द है। इसे जावा की भाषा में 'नूसान्तर' भी कहा जा सकता था क्योंकि वहाँ 'नूसा' का अर्थ 'द्वीप' है।

विस्मरणातीत प्राचीन युगों में सम्पूर्ण पृथ्वी की गवेषणा करने वाले त्रि-सिद्धान्त प्रिय भारतीयों के निर्देशक-सूत्र थे—'चरैवेति' (चलते रहें—आगे-ही-आगे चलते रहें), 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' (हम सब विश्व को सभ्य, शिष्ट, सुसंस्कृत, कर्तव्यनिष्ठ, ईश्वर से भय रखने वाला, शिक्षित

आदि-आदि—बनाएँ) और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' (सारा संसार एक परिवार —एक इकाई है)।

उपर्युक्त तीन सिद्धान्तों से प्रेरित होकर जिस समय साहसी और परहितवादी प्राचीन भारतीय लोग प्रशान्त महासागर के विशाल विस्तार को पार करके विजित प्रदेशों की रूपरेखा तैयार करने लगे और प्रशासनिक व शैक्षिक सीमा-चौकियाँ स्थापित करने लगे, तब उन्होंने भारत से चलते हुए पूर्व और दक्षिण के विभिन्न द्वीप-खण्डों को अति मनोरम नाम प्रदान किये। आधुनिक 'जावा' नाम 'जौ' अन्न-कण की आकृति पर संस्कृत-भाषा के 'यवद्वीप' से ही व्युत्पन्न है। यह तथ्य विश्व की रूपरेखा तैयार करने और चित्रण प्रस्तुत करने में प्राचीन भारतीयों की निपुणता को पुष्ट करता है। जबतक उन्होंने किसी मानचित्र पर, चारों ओर के देशों से घिरे हुए उस सम्पूर्ण द्वीप को अंकित न किया हो, तबतक वे लोग इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते थे कि उस द्वीप की आकृति 'जौ' कण के समान थी।

भारतीय लोगों ने यव-द्वीप को हज़ारों-हज़ारों वर्ष पूर्व खोज निकाला होगा और यवद्वीप के रूप में आधुनिक जावा की रूपरेखा तैयार की होगी। इस तथ्य की प्रत्यक्ष रूप में पुष्टि इस बात से होती है कि भारत का सर्वप्रथम महाकाव्य रामायण यव-द्वीप का उल्लेख करता है।

'सीलोन' शब्द मूल संस्कृत नाम 'सिंहल' का अपभ्रंश रूप है। इसी द्वीप को प्राचीन भारतीय लोग 'आम्रद्वीप' अर्थात् आम की आकृति वाला द्वीप बोला करते थे। यह बात इस तथ्य को भलीभाँति दर्शाती है कि संस्कृत के प्रादेशिक नाम प्रायः उस भूमि की आकृति को भी प्रकट कर देते थे। प्राचीन भारतीय अन्वेषक, प्रशासक, अध्यापक आदि को, जो दूर-दूर स्थित देशों में जाया करते थे, संवत्रिक के रूप में वर्णन किया जाता था।

मलय प्रायःद्वीप का स्वयं अपना नाम भी 'मलय' संस्कृत शब्द से ही व्युत्पन्न है। इसका अन्य नाम 'वंग' था जो वंग की प्रचुरता से ही व्युत्पन्न है क्योंकि संस्कृत 'वंग' का अर्थ 'टीन' है। अन्य द्वीप 'सुमात्रा' और 'बाली' भी संस्कृत नाम हैं।

फिलिपाइन्स सहित इन सभी द्वीपों में दक्षिण भारत की भारतीय

लिपियाँ नवीं शताब्दी (ईसा) तक प्रभावी थीं। चौथी शताब्दी की भारतीय लिपि में संस्कृत भाषा में लिखित, ऐसा ही एक शिलालेख चार अष्ट-कोणात्मक प्रस्तर-स्तम्भों पर कालीमन्थन क्षेत्र के दक्षिण-पूर्व में स्थित कोटि-प्रदेश (आधुनिक बोर्नियो) में मिला था।

उस शिलालेख में हिन्दू सम्राट् मूलवर्मन द्वारा सम्पन्न किये गये एक महान् अश्वमेध-यज्ञ का वर्णन है, जिसमें उस सम्राट् ने २०,००० गौएँ ब्राह्मणों को दान की थीं। संयोगवश, इससे यह भी सिद्ध होता है कि अद्वितीय हिन्दू सरकार ने बोर्नियो और अन्य प्रशान्त सागर के प्रदेशों में समृद्ध, विकसित गौ-शालाएँ—गौ-संवर्धन गृह भी प्रस्थापित किये थे। नागरिकों की निःशुल्क, सामुदायिक महत्त्वपूर्ण सेवा करने के लिए इस प्रकार के दानों से निग्रही हिन्दू ब्राह्मणों का पुरोहित-वर्ग पाठशालाएँ औषधालय, चिकित्सालय, प्रशासनिक कर्मचारी विद्यालय आदि का भली-भाँति संचालन कर पाता था। अश्वमेध-यज्ञ करना हिन्दू प्रभुसत्ता का प्रतीक था। सम्पूर्ण प्रशान्त प्रदेश जिस विशाल हिन्दू साम्राज्य में सम्मिलित था, उसका नाम शैलेन्द्र साम्राज्य था। उन क्षेत्रों के निवासी पन्द्रहवीं शताब्दी तक हिन्दू ही थे। उसके बाद बर्बर अरब लोगों ने उनको मुस्लिम धर्म अंगीकार करने पर बाध्य कर दिया।

उन क्षेत्रों की हिन्दू संस्कृति का वर्णन करते हुए, भारत विद्या की महान् विभूति स्वर्गीय डाक्टर रघुवीर ने लिखा था कि इण्डोनेशियायी लोग, विशेष रूप में सुमात्रा, जावा और बाली के निवासी शिव, विष्णु, तारा, बुद्ध और बोधिसत्त्व का अनुसरण करते हुए अच्छे हिन्दू बने रहे। ये द्वीप मन्दिरों से ठसाठस भरे पड़े हैं। उनकी सभ्यता अद्वितीय, अनुपम है। जावा के मध्य में धान, केलों और नारियलों से घिरी पहाड़ी के ऊपर स्थित बो-रो-बु-दुर की समता भारत का कोई निर्माण नहीं कर सकता। यह मन्दिर अनुपम, एकमेव है। प्रत्येक छज्जा ऊपरी आध्यात्मिक सीढ़ी का परिचायक है। मूर्तिकलाओं से घिरा हुआ क्षेत्र पाँच किलोमीटर अथवा तीन मील है। इनके कलाकार अवश्य ही भारत के महानतम मूर्तिकारों द्वारा प्रशिक्षित किये गये होंगे। 'उनकी मुखाकृतियाँ भारतीय हैं, उनकी वेश-भूषा भी भारतीय है, और उनकी कथाएँ जातकों में से हैं। राजा शिवि

का चरित्र इतनी मार्मिकता से चित्रित किया गया है कि वैसा दृश्य भारत में भी विरला ही है, लगभग अप्राप्य है। उस दृश्य में राजा शिवि को अपना ही शरीर-मांस काटकर तराजू में तौलते हुए दिखाया गया है जिसमें वे यत्न कर रहे हैं कि दूसरे पलड़े में बैठे हुए बाज के बराबर उनका माँस हो सके। भारतीय साहसिक यात्राओं के सही चित्रण की पुनर्रचना हेतु भारतीय व्यापारिक जहाज के दृश्य बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इसके आले और झाँकियाँ, जो बीते हुए युग के कला-कौशल की अद्भुत, अनुपम अमूल्य निधियाँ हैं, भावी पीढ़ियों द्वारा सदा सराहना की पात्र रहेंगी और उनको सदा प्रेरणा भी प्रदान करती रहेंगी।

डॉक्टर रघुवीर लिखते हैं—"प्रामबनन-संकुल बोरो-बु-दुर से बहुत दूरी पर स्थित नहीं है। इसके जैसा कोई अन्य स्मारक न तो भारत को ज्ञात है, और न ही (विश्व के) अन्य किसी निकटवर्ती अथवा दूरस्थ देश को···। रामायण के समानान्तर ही, कृष्णायन के नाम से विख्यात, भगवान् कृष्ण की जीवन-लीलाएँ यहाँ चित्रित हैं—दैवी बालक कृष्ण के अद्वितीय, अतुल बलशाली हाथों से शक्तिशाली दैत्य के टुकड़े-टुकड़े करके दिखाये गये हैं। एक अन्य स्थान पर, कुम्भकर्ण को निद्रा से जागृत करने के लिए शंखों की विशाल ध्वनियाँ और हाथियों की चिंघाड़ें चित्रित की गयी हैं, जो स्वयं में उत्कृष्ट श्रेणी की कला-कृतियाँ हैं।"

"प्रामबनन में त्रिमूर्ति को समर्पित मन्दिरों को मुख्य त्रयी चार वृत्ताकार पंक्तियों में बने छोटे-छोटे देवस्थानों से, मूलरूप में, घिरी हुई थी। अ-धर्मनिष्ठों द्वारा विध्वंस के साथ-साथ (अर्थात् बर्बर अरबों द्वारा सर्वनाश होने के साथ-साथ) समय ने भी कम विनाश नहीं किया है। देवालयों की चौथी पंक्ति का समूल नाश इन्हीं के कारण हुआ है। अब जो कुछ बच पाया है, वह आयताकार पत्थरों के खण्ड-ही-खण्ड हैं···।" हिन्दू-धर्म ने विदेशी बर्बर आक्रमणकारियों के सम्मुख १३वीं शताब्दी से परास्त होना प्रारम्भ कर दिया था। पन्द्रहवीं शती समाप्त होते-होते, अरबों द्वारा भयंकर यातनाओं के शिकार होने पर, पुरुषों की हत्याएँ, महिलाओं के शील-भंग और घर लुट जाने पर, डर जाने के कारण अधिकांश निवासी इस्लाम-धर्म स्वीकर करने पर बाध्य हो गये थे।

इस क्षेत्र के अन्तिम हिन्दू युवराज बाली चले आये। सौभाग्यवश, बाली इस्लाम के स्पर्श से पृथक् रह पाया, और भारत से बाहर एकमेव हिन्दू-प्रदेश के रूप में आज भी जीवित है।

प्राचीन जावायी गीतों का सम्बन्ध भारतीय महाकाव्य रामायण और महाभारत के कथानकों से है। जावा में छाया-नाटक भी भारतीय पौराणिक कथाओं और महाकाव्य की गाथाओं के राम और कृष्ण, अर्जुन-भीम और घटोत्कच जैसे पात्रों के इर्द-गिर्द ही रचे जाते हैं। इण्डोनेशिया का (राष्ट्रीय) ध्वज दो रंग वाला होने के कारण 'द्वि-वर्ण' कहलाता है, जो संस्कृत नाम है। इण्डोनेशियायी संविधान के पाँच आधारभूत, मूल सिद्धान्त भी संस्कृत के 'पंचशील' शब्द से ही नामांकित हैं। यहाँ की वायु-सेवा (हवाई कम्पनी) का नाम 'गरुड़' है जो भगवान् विष्णु का वाहन है। पुरानी जावायी भाषा के वर्ण दक्षिण-भारत की पल्लव-लिपि से व्युत्पन्न हैं। इण्डोनेशियायी लोग अभी भी हिन्दू-वर्ष मानते हैं और इसे शक-सम्वत् कहते हैं।

हिन्दू राग-रागिनियों, पूजा-अर्चना, धार्मिक कृत्यों, इतिहास, खगोल-शास्त्र, ज्योतिष-शास्त्र, जादू-टोना, प्रेम-आख्यान, प्राणियों का पूर्व-रूप से विकास-क्रम और पौराणिकता के सम्बन्ध में प्राचीन इण्डोनेशियायी पाठ-सामग्री हज़ार ग्रन्थों से अधिक की संख्या में विद्यमान है—ऐसा विश्वास किया जाता है। जिन प्राचीन, हिन्दू राजाओं के राज्यकाल में उपर्युक्त विभिन्न विद्याओं का प्रचार-प्रसार समस्त प्रशान्त क्षेत्र में हुआ उनके नाम और उपाधियाँ कुछ इस प्रकार थे—श्री ईषान् विक्रम धर्मोतुंग देव, श्री लोकेश्वर धर्मवंश ऐर-लंग अनन्त विक्रमो-तुंगदेव।

भारत से मलयेशिया, इण्डोनेशिया, बोर्नियो, कोरिया, इण्डोचीन और फ़िलिपाइन्स व पूर्व में जापान, आस्ट्रेलिया तथा न्यूज़ीलैंड और पश्चिम में मैक्सिको तक फैले समस्त प्रशान्त-क्षेत्र में केवल हिन्दू जीवन-पद्धति ही व्याप्त थी। आधुनिक शब्दावली में कहा जाय, तो हिन्दू धर्म ही एकमात्र धर्म था जो उन स्थानों के निवासियों को ज्ञात था। संक्षेप में कहा जाय तो कह सकते हैं कि प्राचीन युगों में समस्त विश्व का एक ही धर्म था—और वह हिन्दू अर्थात् आर्य-धर्म था। विश्व-भर में इसका प्रचार-प्रसार प्राचीन हिन्दुओं की अग्रगामी और परहितवादी भावना का प्रमाण है। विश्व-

इतिहास का यह अद्वितीय चमत्कार इस बात का भी साक्ष्य है कि प्राचीन भारतीयों ने न केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में ही, अपितु दूर-संचार व्यवस्था से लेकर निर्माण-तकनीक तक की जीवन की प्रत्येक विधा में महान् भौतिक प्रगति भी कर रखी थी।

अत: विदेश-विभाग मन्त्रालय को चाहिये कि वे भारतीय दूतावासों पर इस बात का जोर डालें कि वे लोग मात्र नाच-गानों, खाने-पीने में ही मस्त न रहें। अनेक प्रमुख कर्तव्यों में से एक कर्तव्य यह होना चाहिये कि वे जिस-जिस देश में भी रहें, उस देश की पूर्ण परिक्रमा, खोज-बीन करें और भारतीय पुरातत्त्व की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थलों को सुनिश्चित करें, उनकी पुरातत्त्वीय खुदाई कराएँ और उन स्थलों तथा वहाँ प्राप्त हुए स्मृति-चिह्नों को सुरक्षित रखवाएँ, और आतिथेयी सरकारों की सहायता से विशेषज्ञों द्वारा उन वस्तुओं का वर्गीकरण कराएँ। उनको आतिथेयी सरकारों की सहायता इस दृष्टि से भी करनी चाहिये कि वे अपनी भाषा, रीति-रिवाज़ों, नामों और उपाधियों में प्राप्य हिन्दू, संस्कृत सम्पर्क-सूत्रों को पुनरुज्जीवित कर सकें जिससे प्राचीन विश्व के एक सामान्य, हिन्दू, संस्कृत सांस्कृतिक परम्परा के आधार पर विश्व में एक सांस्कृतिक एकीकरण सम्पन्न हो सके, सांस्कृतिक एकता पुन: स्थापित हो सके।

प्राचीन इंग्लैंड हिन्दू-देश था

काल के अनन्त प्रवाह में प्राचीन इतिहास उसी प्रकार भूलता जाता है जिस प्रकार प्रत्येक पीढ़ी अपने ऊपर की एक-दो पीढ़ियों को छोड़कर अन्य सभी पूर्वजों को अपनी स्मृति से ओझल कर देती है। अत:, चिरकाल पूर्व के एक हिन्दू साम्राज्य की स्मृति को भी विश्व ने भुला दिया है, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

ब्रिटिश और अन्य ईसाई व इस्लामी राष्ट्रों के अभी कुछ समय पूर्व के उपनिवेशवादी साम्राज्य की अरुचिकर स्मृतियों के कारण सम्भव है कि यह मान्यता, कि इंग्लैंड किसी समय भारत का एक उपनिवेश था, ब्रिटिश लोगों में विरोध, विद्वेष की भावना को उत्पन्न कर दे और भारतीय लोगों में दोषी या याचक होने की हीन भावना को जन्म दे दे।

भारतीय शिक्षक और अध्यापक प्रशासक भारत से सम्पूर्ण विश्व के गोलार्द्ध के विभिन्न भागों में उस समय अति द्रुत गति से गए थे और सभी स्थानों पर फैल गये थे जब विश्व उन एकाकी आदिम समुदायों से जन-पूरित था जो मार्गदर्शन के लिए अन्धकार में भटक रहे थे। यह स्थिति ऐसी थी मानो यूरोपीय प्रवासी जंगली अमरीकी प्राय:द्वीप में जा रहे हों अथवा रोमन लोग असभ्य, अशिष्ट इंग्लैंड में पदार्पण कर रहे हों।

विश्व पर भारतीय शासनाधिकार की अन्य आह्लादकारी बात यह थी कि भारतीय लोगों ने स्वयं को अन्य लोगों से अछूता रखने अथवा तत्स्था-नीय लोगों को द्वितीय, घटिया श्रेणी का नागरिक समझने के स्थान पर, उन स्थानों के निवासियों के साथ स्वयं को आत्मसात कर दिया वे जहाँ भी कहीं गए। इस तथ्य की पुष्टि स्याम, इण्डोचीनी-राज्यों और इण्डो-नेशिया पर दृष्टिपात करके की जा सकती है। वे सब भारत के उपनिवेश

थे, वे सब हिन्दूधर्म की उद्घोषणा करते थे और भारतीय साम्राज्यों के पोषक-तत्त्व थे तथापि उनकी जनसंख्या में से कोई भी व्यक्ति यह नहीं बता सकता कि उनमें से कौन-सा व्यक्ति भारतीय रक्त का है और कौन-सा व्यक्ति तत्स्थानीय-बंश का ही है।

प्राचीन भारतीय साम्राज्य का एक अन्य विशिष्ट, प्रथक् लक्षण यह था कि वह साम्राज्य सांस्कृतिक और शैक्षिक ही था, राजनीतिक नहीं। विजित अथवा अपने अधिकार में लिये गए प्रदेश भारत के लाभार्थ लूटे-खसोटे नहीं गए थे, अपितु उनका प्रशासन तत्स्थानीय लोगों के हित के लिए वहीं के लोगों द्वारा कराया गया था।

प्राचीन (भारतीय) हिन्दू विश्व-साम्राज्य का एक अन्य विशिष्ट गुण यह था कि इसने एक पुष्ट और प्रगतिशील शासन की रचना की थी। वे हिन्दू लोग अपने साथ विश्व भ्रातृत्व की दार्शनिकता ले गये। हिन्दुओं ने विश्व के ऊपर कोई मोहम्मद अथवा ईसा नहीं थोपा था। उन्होंने अन्य लोगों के मकानों, भवनों आदि को भी नहीं जलाया था। तथ्य तो यह है कि जब हिन्दू लोग समस्त प्राचीन विश्व में फैले, तब निर्माणकला का किसी को ज्ञान ही नहीं था, और ये तो हिन्दू लोग ही थे जिन्होंने सर्वप्रथम विशाल उत्तुंग भवन, किलों और मन्दिरों का निर्माण किया। उन भवनों का निर्माण हिन्दू शिल्प-शास्त्र के अनुसार अर्थात् भारत में हिन्दुओं द्वारा विकसित वास्तु-कला की प्रणाली के अनुसार ही किया गया था। हिन्दू लोगों ने ही अरबों, तुर्कों, ईरानियो, मंगोलों तथा अन्य समुदायों को शिक्षित किया था कि बड़े-बड़े भवन किस प्रकार बनाए जाते हैं। इसी तथ्य से भारत और पश्चिमी एशिया में बने हुए ऐतिहासिक भवनों के मध्य सादृश्य का कारण भी स्पष्ट हो जाता है।

संस्कृत भाषा और प्राचीन हिन्दू सभ्यता व संस्कृति के लिए सम्पूर्ण विश्व में विद्यमान विशुद्ध कृतज्ञता, सम्मान और प्रेम की भावनाओं से यह भी सिद्ध हो जाता है कि हिन्दुओं की कोई विरोधी, विनाशी, कुत्सित भावनाएँ नहीं थीं।

अतः हम जब यह कहते हैं कि प्राचीन इंग्लैंड और ब्रिटिश द्वीपों पर किसी समय भारतीयों का शासन था, तो उस बात से रुष्ट होने का कोई कारण नहीं है।

सर्वप्रथम, हमें यही कहना है कि स्वयं 'इंग्लैंड' शब्द भी संस्कृत के युग्म शब्द 'आंग्ल-स्थान' का अपभ्रंश रूप है। शताब्दियाँ व्यतीत होते-होते संस्कृत का 'स्थान' शब्द 'लैंड में परिवर्तित हो गया है।

कहीं यह ऊट-पटांग कल्पना समझ ली जाय, इसलिए हम स्पष्टीकरण, व्याख्या करना चाहते हैं। 'लैंप-स्टैंड' में अथवा विदेश नीतिविषयक किसी मामले पर जब कोई राष्ट्र 'स्टैंड' लेता है, उस 'स्टैंड' शब्द को हम कहते हैं कि वह संस्कृत का 'स्थान' है। इसी प्रकार, यह भी ध्यान रखने की बात है कि संस्कृत की चिकित्सा-शास्त्रविषयक शब्दावली 'ग्रन्थि' की अंग्रेजी भाषागत वर्तनी 'ग्लैंड' है। ये उदाहरण प्रकट करते हैं कि अंग्रेजी का 'स्टैंड' शब्द संस्कृत का 'स्थान' शब्द ही है। अतः, प्राचीन इंग्लैंड के लिए प्रयुक्त संस्कृत का 'आंग्ल-स्थान' 'इंग्लैंड' हो गया है। जहाँ तक 'आंग्ल' उपसर्ग की बात है, पाठकगण यह तथ्य ध्यान में रख लें कि फ्रांस वाले अंग्रेज लोगों को अभी भी उनके प्राचीन संस्कृत नाम 'आंग्लाइस' से ही पुकारते हैं, जिसका उच्चारण वे लोग 'आंग्ले' करते हैं। अंग्रेज़ लोगों का मूल नाम 'आंग्ल' संस्कृत शब्द से ही था—इसका अन्य संकेत 'आंग्लस' और 'आंग्लो' (सैक्सन्स)' से भी मिलता है। इस तथ्य से किसी भी व्यक्ति के मन में सन्देह नहीं रहना चाहिये कि 'इंग्लैंड' शब्द संस्कृत का वही 'आंग्ल-स्थान' शब्द है, शताब्दियाँ बीतते-बीतते जिसका उच्चारण आहिस्ता-आहिस्ता बदलता गया। इससे यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिये कि अपने देश का नाम सम्बोधन करने में जर्मन लोग जिस 'दैत्यश्-लैण्ड' शब्द का उच्चारण करते हैं, वह 'दैत्यों की भूमि' अर्थात् 'दैत्य-स्थान' ही है, अन्य कुछ नहीं। और, यह तो सर्वज्ञात ही है कि दैत्य प्राचीन हिन्दू धर्मग्रन्थों में बारम्बार उल्लेख किया गया सम्प्रदाय है। इस दैत्य समुदाय का नाम भारतीय देवी 'दिति' के नाम से व्युत्पन्न है जो उनकी माता थी। इस 'दिति' शब्द से ही अंग्रेजी का 'डीति' (देवी) शब्द रचा गया है। अतः, जहाँ कहीं 'लैंड' शब्द प्रयुक्त मिले, उसे तुरन्त यह समझ लेना चाहिये कि यह संस्कृत का स्थान शब्द है।

यह तो अभी कुछ पहले का ही इतिहास है कि लगभग १५० वर्षों तक भारत ब्रिटेन का एक उपनिवेश था। जब भारत ब्रिटिश आधिपत्य के अधीन हो गया, तब इतिहास ने एक पूरी परिक्रमा कर ली थी क्योंकि चिर-

विस्मरणीय अतीत में इंग्लैंड भी भारत का एक उपनिवेश रहा था। उस समय भारत का साम्राज्य दूर-दूर तक फैला हुआ था।

भारत के विलुप्त और विस्मृत साम्राज्य की कथा भी उसी विधि से पुनः रची जा सकती है जिस विधि से परीक्षा-भवन में बैठे छात्र अधूरे वाक्यों में ठीक शब्दों को भरकर वाक्यों को पूरा कर लेते हैं। विलुप्त इतिहास का पुनर्लेखन भी सूत्रों की टूटी शृंखला में विलुप्त सूत्र प्रदान करके किया जा सकता है।

भारत के प्राचीन साम्राज्य के चिह्नों को आंशिक रूप में जानबूझकर विनष्ट किया गया था और आंशिक रूप में अज्ञानवश दो साम्राज्यवादी विजयों की अनुवर्ती लहरों के कारण ये अवशिष्ट चिह्न समाप्त-प्रायः हो गये। ये लहरें ईसाइयों और विध्वसंक अरबों व उनके अधीनस्थ साथियों की थीं।

आइए, हम सब सर्वप्रथम इंग्लैंड की कुछ बस्तियों के नाम लें। इंग्लैंड में अन्त्य 'बुरी' शब्द सामान्य है। कुछ उदाहरण हैं श्रीयूसबुरी, आइंसबुरी और वाटरबुरी। यह 'बुरी' प्रत्यय संस्कृत का 'पुरी' ही है; यथा सुदामापुरी, मुम्बापुरी और जगन्नाथपुरी में। यह कोई अति दूरस्थ कल्पना न होने का प्रमाण स्याम देश के अनेक नगरों के नाम हैं; यथा राजबुरी, चोलबुरी और फैंचबुरी। अब यह भलीभाँति ज्ञात है कि स्याम देश प्राचीन हिन्दू साम्राज्य का एक भाग था और स्यामी भाषा अपभ्रंश संस्कृत है। इस तथ्य से यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिये कि विश्व में प्राप्त किसी भी बस्ती अथवा नगरी का द्योतक अन्त्य 'बुरी' शब्द स्वयं सिद्ध करता है कि वह नाम प्राचीन संस्कृत-भाषी हिन्दुओं द्वारा उस समय दिया गया था जब उन लोगों ने उन क्षेत्रों पर शासन किया था। यह कोई आश्चर्य नहीं है कि सुदूरस्थ इंग्लैंड पर भारत के प्रभुत्त्व के सभी प्रत्यक्ष रूप में ऐतिहासिक चिह्न समूल नष्ट हो जाने के बाद भी इंग्लैंड की कुछ बस्तियाँ संस्कृत अन्त्य नाम अभी भी अपने साथ सँजोए हुए हैं। जहाँ तक इस प्रमाण के सम्बन्ध में यह सिद्ध करने का प्रश्न है कि हमारा यह आधार अति सुदृढ़ है, हम अंग्रेजी नामों को अपने हृदय से समेटे रहने वाले भारत का समानान्तर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जहाँ नागालैंड, कनाट प्लेस और किंग्स सर्कल जैसे अंग्रेजी नाम अभी भी

प्रचलित हैं यद्यपि भारत में ब्रिटिश राज्य-शासन की समाप्ति हुए तीन दशकों से भी अधिक अवधि बीत चुकी है।

हम अब एक अन्य प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। आइए, हम पंचांग में अर्द्धरात्रि के समय तारीख बदलने का ब्रिटिश नियम लें। हम जब इस अभ्यास पर विचार करने लगते हैं, तो स्पष्ट दिखाई देता है कि यह तो नितान्त बेहूदगी ही है कि मात्र समय अर्थात् तारीख बदलने के लिए ही कोई व्यक्ति रात्रि में ठीक बारह बजे ही अपनी प्रगाढ़ निद्रा में व्यवधान उत्पन्न करे। इस ऊट-पटाँग कार्य को सारे जीवन कौन व्यक्ति करेगा? साथ ही, गहन रात्रि में जब सभी लोग घोड़े बेचकर सोते हैं और सब ओर घोर अन्धकार तथा सन्नाटा होता है, तब किसी व्यक्ति को यह कैसे आभास होता है कि इस समय रात्रि के साढ़े ग्यारह बजे होंगे अथवा डेढ़। अर्द्धरात्रि की विकट घड़ी में तारीख-परिवर्तन करने की इस ब्रिटिश-पद्धति की व्युत्पत्ति उस समय से है जब इंग्लैंड भारत का एक उपनिवेश था। आइए, हम इसे स्पष्ट करें।

भारतीय लोग दिन का आकलन सूर्योदय से सूर्यास्त तक करते हैं। भारत में, भारतीय समय के अनुसार, सूर्य का उदय प्रातः लगभग साढ़े पाँच बजे होता है। भारतीय और ग्रीनविच माध्यमिक समय के बीच चूँकि साढ़े पाँच घंटे का अन्तर होता है, इसलिए इंग्लैंड में उस समय रात्रि के १२·०० बजे होते हैं जब भारत में सूर्योदय होता है। इसलिए, जब बीते हुए युग में भारत इंग्लैंड पर शासन करता था, तब भारत से समस्त विश्व को यह संकेत प्रेषित किया जाता था कि सूर्योदय के समय भारत अपनी तिथि में परिवर्तन कर रहा था। उस संकेत को सुनने पर, प्राचीन इंग्लैंड के निवासियों को भी अपने-अपने बिस्तरों से झटपट निकलना पड़ता था और तरीख बदलनी पड़ती थी। उस समय, अति दूर तक विस्तृत उस विशाल भारतीय साम्राज्य के इंग्लैंड नामक कोने में अर्द्धरात्रि होती थी। इतिहास ने पूरी परिक्रमा कर ली है। इसलिए, भारत ने भी अर्द्धरात्रि के समय तारीख बदलने की पश्चिमी रीति को अन्धाधुन्ध और अज्ञान-वश अंगीकार कर लिया है। यह इतिहास की विचित्र विडम्बना है। भारत ने विश्व के लिए जिस समय का निर्धारण किया था, वही समय परिवर्तित, विद्रूपित होकर

भारत को ही अंगीकार करना पड़ रहा है। हम आशा करते हैं कि स्वतन्त्र भारत दिन और तारीख का प्रारम्भ करने के लिए सूर्योदय से ही समस्त आकलन करने की अति प्राचीन भारतीय पद्धति को पुनः शिरोधार्य कर लेगा, उसी का व्यवहार प्रारम्भ कर देगा।

अपने समकालीन अनुभव से भी सिद्ध किया जा सकता है कि उपनिवेश अपने स्वामी देश के अनुकूल ही समय का आकलन करते हैं। द्वितीय विश्व-युद्ध के समय विशाल, अधीनस्थ प्रशान्त क्षेत्रों के प्रशासन पर प्रभावी जापानी अधिकारीगण अपनी घड़ियाँ टोक्यो-समय के अनुसार ही रखते थे। जबतक उन क्षेत्रों पर जापानी प्रभुत्व रहा, तबतक टोक्यो समय के सन्दर्भ में ही सभी समय-सारणियों का उल्लेख किया जाता था। इसी प्रकार जब भारतीय प्रशासक इंग्लैंड पर शासन करते थे, तब वहाँ की सभी घड़ियाँ भारत के सूर्योदय के अनुसार ही मिली रहती थीं। यहाँ 'घड़ियों' से तात्पर्य समय-मापन का यन्त्र है जो उस समय प्रयोग में रहा होगा। भारतीय लोगों द्वारा क्षण-प्रतिक्षण का भी हिसाब-किताब रखना उनकी पल-प्रतिपल की अतिसूक्ष्म नाक्षत्रिक-विद्या सम्बन्धी निपुणता से स्वयं सिद्ध है।

किसी समय इंग्लैंड पर भारत का शासन होने का एक अन्य प्रमाण इस तथ्य में उपलब्ध है कि सन् १७५२ ई० तक इंग्लैंड का नव-वर्ष २५ मार्च को ही प्रारम्भ होता था। वर्ष का यथार्थ समय वही है जब भारतीय नूतन वर्ष प्रारम्भ होता है। सन् १७५२ ई० में संसद के एक कानून द्वारा इंग्लैंड ने अपनी इच्छा से ही अपना नव-वर्ष दिवस पहली जनवरी घोषित कर दिया। चूँकि २५ मार्च के दिन ही भारतीय विक्रम-संवत् प्रारम्भ होता है, इसलिए अनुमान है कि इंग्लैंड विक्रमादित्य के भारतीय साम्राज्य का एक भाग था। विक्रमादित्य भारतीय कथाओं में व्याप्त है। उसे महान् सम्राट के रूप में स्मरण किया जाता है। शासकों को महान् तभी समझा जाता है जब वे बड़े-बड़े साम्राज्यों पर नियन्त्रण रखते हैं। अतः, विक्रमादित्य को सत्य और न्याय के गुणों के लिए स्मरण रखना तो ठीक ही है, किन्तु उसको इसलिए भी चिर-स्मरण रखना चाहिये कि उसने विश्व के

दूर-दूर तक स्थित भागों में भी अपना प्रबुद्ध प्रशासन प्रदान किया था—ऐसा प्रतीत होता है। उन स्थानों में इंग्लैंड भी एक भाग था।

इंग्लैंड द्वारा मार्च को वर्ष का प्रथम मास माना जाना (एंक्स-मास) 'X-मास' शब्द द्वारा भी सिद्ध किया जा सकता है। यह 'X-मास' शब्द तथ्य रूप में १०वें मास का ही अर्थद्योतक है क्योंकि रोमन लिपि में १० को 'X' लिखते हैं और संस्कृत में 'मास' का अर्थ महीना है। इस प्रकार 'X-मास' शब्दावली रोमन शब्द 'X' और महीने के द्योतक संस्कृत शब्द 'मास' का एक विचित्र संयोग मात्र ही नहीं है, अपितु दिसम्बर महीने की समाप्ति के आस-पास मनाई जाने वाली खुशियों के सप्ताह के लिए अशुद्ध अर्थबोधक शब्द भी है। एक 'महीने' को एक सप्ताह के समानक बनाना अंग्रेजी भाषा और परम्परा का घोर दोष है क्योंकि अंग्रेजी भाषा अपना संस्कृत-आधार खो चुकी है।

इस बात को इस तथ्य से भी सिद्ध किया जा सकता है कि 'दिसम्बर' शब्द स्वयं ही संस्कृत शब्द है और वास्तव में इसका अर्थ 'दशवाँ' महीना ही है। कारण यह है कि संस्कृत में दश (जिसका अपभ्रंश अंग्रेजी 'डिस' है) का अर्थ अंक '१०' के लिए ही है। इसका एक अन्य प्रमाण 'डेसिमल' (दशमलव) शब्दावली है जो १०वें स्थान के लिए भारतीयों द्वारा आविष्कृत गणितीय बिन्दु-चिह्न है। वहाँ भी 'डेसि' का अर्थ '१०' ही है। रोमन में लिखने पर यह 'X' ही होगा। (डिस+एम्बर) में (अम्बर) 'एम्बर' उपसर्ग संस्कृत आकाश-चक्र का द्योतक है। चूँकि आकाशमण्डल के १२ चिह्न (भाग) हैं, इसलिए प्राचीन संस्कृत परम्परा ने एक आकाशीय-भाग के लिए मास निश्चित कर दिया जो मार्च से प्रारम्भ होता था। तदनुसार, दिसम्बर मास वर्ष का १०वाँ महीना हो गया जैसाकि इसके नाम 'दिसम्बर' (डिसेम्बर) अर्थात् दश+अम्बर से स्पष्ट होता है। यही १०-वाँ महीना जब इसे रोमन शब्द के साथ संस्कृत में लिखें तो यह 'X' अर्थात् १०वाँ मास (महीने का संस्कृत शब्द) हो जाता है। इससे अंग्रेजी परम्परा के जानकारों के समक्ष यह तथ्य स्पष्ट हो जाना चाहिये कि वे 'X-मास' अर्थात् १०वें महीने को दिसम्बर मास के अन्तिम सप्ताह के समानक रूप में प्रस्तुत करके घोर भयंकर भूल कर रहे हैं। इसलिए 'X-मास' और

'दिसम्बर' संस्कृत शब्दावलियाँ, जो हिन्दूवर्ष के १०वें महीने की समान रूप में पर्यायवाची हैं, अभी भी अंग्रेजी में और अंग्रेजी परम्परा में प्रयुक्त होती हैं। उनका इस प्रकार प्रयुक्त होना सिद्ध करता है कि प्राचीन इंग्लैंड किसी समय भारत का एक उपनिवेश था।

स्वयं १०वें महीने का समारोह अर्थात् X-मास के उत्सव भी, जिन्हें ईसाई-पर्व समझने की गलती करते हैं, एक अति प्राचीन हिन्दू कृष्णयान समारोह है जो उस दिन की स्मृति का प्रतीक है जिस दिन हिन्दुओं के अवतार भगवान् कृष्ण ने (जिनके नाम की अशुद्ध वर्तनी कृष्त अर्थात् क्रिस्त —क्राइस्ट हुई) कुरुक्षेत्र में रथारूढ़ होकर अपने योद्धा-भक्त अर्जुन को गीता का महोपदेश दिया था। कृष्ण का आरूढ़्यासन रथ था जिसे संस्कृत में 'यान' कहते हैं। इससे हमें 'कृष्णयान' शब्द प्राप्त होता है जो शताब्दियों के कालान्तर से कृष्ण-यान अर्थात् क्रिश्चियन की अशुद्ध वर्तनी में परिवर्तित हो गया। दिसम्बर का ही महीना था जब भगवान् कृष्ण ने महाभारत-युद्ध के प्रारम्भ होने पर अपना चिर-स्मरणीय महोपदेश दिया था। अतः, 'कृष्ण-यान' का अर्थ कृष्ण का रथ है।

सभी तथाकथित ईसाइयों द्वारा मान्य यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि क्रिसमस (कृष्तमास) एक पानोत्सव है जिसकी ईसा-पूर्व काल की परम्परा है। भगवान् कृष्ण के उस सुप्रसिद्ध उपदेश को भव्य परम्परा मान-कर समस्त विश्व में उस समय प्रचारित किया गया था जब महाभारत के युद्ध के बाद कुरुवंश के सभी एकत्रित शासक और सदस्य अपने-अपने राज्य-क्षेत्रों को वापस लौट गए थे। उन लोगों ने उस महायुद्ध और भगवान् कृष्ण के उस महोपदेश की पुण्य-स्मृति को समूह-गान और समूह-नृत्यों के आनन्द-मय समारोहों द्वारा चिर-स्मरणीय बनाए रखा। सभी ईसाइयों द्वारा शिरोधार्य एक अन्य ऐतिहासिक तथ्य यह है कि क्राइस्ट की जन्म-तिथि किसी को भी ज्ञात नहीं है। इस प्रकार, वास्तविक तिथि के अभाव में ही एक काल्पनिक, अनुमानित तारीख जन्म-तिथि मान ली गई है जो २५ दिसम्बर है। अतः न तो २५ दिसम्बर का और न ही क्रिसमस रंग-रलियों का कोई आधार है। किन्तु इन दोनों का एक हिन्दू कृष्णयान आधार है अर्थात् जिस दिन भगवान् कृष्ण ने अपना सुप्रसिद्ध महोपदेश दिया था, वह

२५ मार्च का दिन ही था। चूँकि गीता का वह महोपदेश शाब्दिक रूप में गीत ही है, इसलिए उसकी पुण्य-स्मृति भी तथाकथित क्रिश्चन (कृष्णयान) सामूहिक गान द्वारा ही की जाती है।

हम, क्रिश्चियन लोगों का कृष्णयान लोग अर्थात् कृष्ण-सम्प्रदाय के प्राचीन यूरोपीय हिन्दू होने के इस विषय पर सविस्तार अन्यत्र चर्चा करेंगे, तथापि यहाँ पर इतना उल्लेख अवश्य करेंगे कि इंग्लैंड की गलियों-बाजारों में गूँजने वाली 'हरे कृष्ण' गीत की मधुर झंकार इस बात की परिचायक है कि इतिहास पुनः एक परिक्रमा कर रहा है।

फ्रांसीसी लोग सभी प्रकार की अंग्रेजी वस्तुओं के लिए प्राचीन संस्कृत नाम का ही उपयोग करते हैं। फ्रांसीसी शब्द 'आंग्लाइस' जिसका उच्चारण 'आंग्ले' होता है, प्राचीन संस्कृत शब्द 'आंग्ल' का अपभ्रंश रूप ही है। इंग्लैंड प्राचीन भारतीय शासकों को आंग्ल-देश अर्थात् इंगलिश-लैंड अर्थात् इंग्लैंड के रूप में ही ज्ञात था। ऐंग्लिकन, ऐंग्लिसाइज्ड जैसे शब्द उसी प्राचीन संस्कृत शब्द 'आंग्ल' से आते हैं। इंग्लैंड किसी समय भारतीय साम्राज्य का एक भाग था—यह उसका अन्य एक प्रमाण है।

हम इसी प्रकार यह भी इंगित कर सकते हैं कि अंग्रेज पुरुष और महिलाएँ जिस सम्राट की अंग्रेजी भाषा (किंग्स इंगलिस) का प्रयोग करते हैं, वह सब हिन्दू सम्राट् की संस्कृत भाषा ही है। कुछ उदाहरण ये हैं: अंग्रेजी 'कौ' शब्द संस्कृत की 'गौ' है; 'स्वेट' संस्कृत का 'स्वेद' है; 'अपर' संस्कृत का 'ऊपर' है; 'मैन' संस्कृत का 'मानव' है; 'माउस' संस्कृत का 'मूषक' है; 'यू' और 'वी' संस्कृत 'यूयम' और 'वयम्' हैं। किन्तु हम इसे भी सविस्तार आगे ही उल्लेख करेंगे। यह भी इस बात का एक अन्य प्रमाण है कि संस्कृत-भाषी हिन्दू राजाओं और कर्मचारियों ने किसी समय इंग्लैंड के कार्यों का प्रशासन, संचालन किया था।

अंग्रेजी 'सर' की उपाधि भी संस्कृत के 'श्री' शब्द का अपभ्रंश रूप है। इसलिए जब ब्रिटिश प्रभु किसी गणमाण्य व्यक्ति को 'सर' की उपाधि बाँटता है, तब वह सम्राट् अनजाने में ही अति प्राचीन उस हिन्दू परम्परा का अनुसरण करता है जिसे इंग्लैंड पर शासन करने वाले हिन्दू राजाओं ने प्रारम्भ किया था। 'श्री' अर्थात् 'सर' की उपाधि प्रदान करने में स्वतः

ही धन-अनुदान भी सम्मिलित हो जाता है क्योंकि संस्कृत का 'श्री' शब्द तथ्य रूप में 'धन' का अर्थ-द्योतक है।

अंग्रेज लोग स्वयं को 'आर्य' कहते हैं, किन्तु जिस शब्द को वे अनजाने ही प्रयोग करते रहे हैं, उसका गूढ़ार्थ उनको विस्मृत हो गया प्रतीत होता है। भारत में भी, हिन्दू लोग स्वयं को 'आर्य' संज्ञा से सम्बोधित करते हैं। अपनी जीवन-पद्धति को हिन्दू लोग 'आर्य धर्म' कहते हैं। अंग्रेज लोग भी अनजाने और रहस्यमय ढंग से ठीक ही हैं। उन लोगों को उस शब्दावली से जो कुछ ज्ञान हो जाना चाहिये, वह यह है कि वे किसी समय आर्य धर्म उपनाम वैदिक जीवन-पद्धति उपनाम जीवन की हिन्दू, सनातन पद्धति का पालन किया करते थे। इसका अर्थ यह कहने के समान है कि चिरकालीन विगत-काल में, हज़ारों वर्षों तक अंग्रेज लोग सभी प्रकार हिन्दू ही थे।

इंग्लैंड में प्राचीन नगर और मन्दिर

प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में अति उथली और अव्यवस्थित जानकारी की वर्तमान स्थिति में यह कथन कदाचित् दुःसाहसपूर्ण और विलक्षण प्रतीत हो कि प्राचीन इंग्लैंड किसी समय एक हिन्दू देश था, तथा इसमें अभी भी कुछ हिन्दू-मन्दिरों व संस्कृत नामों वाले नगरों के चिह्नों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार के ऐसे साक्ष्य भी हैं जो उपर्युक्त निष्कर्ष की पुष्टि करते हैं।

अपने प्रारम्भिक स्थल के लिए, हम, एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका (ब्रिटिश ज्ञानकोश) से एक अवतरण उद्धृत करते हैं। एन्साइक्लोपीडिया के खण्ड २१ के पृष्ठ क्रमांक २७५-२७७ पर इंग्लैंड के एक अति प्राचीन स्थान के बारे में जानकारी दी गयी है। इस स्थान का नाम 'स्टोनहेंज' अंकित है। उपर्युक्त एन्साइक्लोपीडिया में लिखा है : "सेलिसबुरी, विल्टशायर, इंग्लैंड के उत्तर में लगभग आठ मील (१३ किलोमीटर) की दूरी पर एक धुस्स के चारों ओर लम्बे खड़े प्रस्तरों की वृत्ताकार व्यवस्था स्टोनहेंज का निर्माण पूर्वकालिक नवप्रस्तर युग से प्रारम्भिक काँस्य-युग (१८००-१४०० ई० पू०) के मध्य किसी समय हुआ था। पूर्वकालिक प्राचीनतम सन्दर्भों में से एक किंवदन्ती यह है कि ये प्रस्तर किसी जादू से ही आयरलैंड से यहाँ ले आये गये थे। इस किंवदन्ती में कदाचित् वह धूमिल स्मृति भी छिपी हुई है जिसके अनुसार पेमब्रोकशायर से लाये गये वे 'नीलाश्म' भी थे जो उस प्राचीन स्मारक के भाग थे। स्टोनहेंज से ड्रूइड्स का प्रकल्पित सम्बन्ध १७वीं शती से जनता की कल्पना में समाया रहा है। इस स्मारक में अनेक संरचनात्मक तत्त्व समाविष्ट हैं जो रूप-रेखा में अधिकांशतः वृत्ताकार हैं। इसके बाहर एक ग्वाई है जो उत्तर-पूर्व में प्रवेश-

अन्तराल से टूट गयी है, इसीके भीतर एक बाँध भी है···। बाँध के भीतर ५६ विवरों की एक शृंखला है जिनको, इनके अन्वेषक के नाम पर औब्रे-विवर कहते हैं। इनके और केन्द्र में रखे प्रस्तरों के बीच में विवरों की दो अन्य शृंखलाएँ भी हैं, जो अब धरातल पर दिखाई नहीं देती हैं। इनको 'ज़ेड' और 'वी' विवर कहते थे। प्रस्तरों की व्यवस्था दो वृत्तों (बाहरी वृत्त भुरभुरे बालु-प्रस्तरों का और भीतरी वृत्त नीलाश्म का था) और दो ऊर्ध्वाकार नालों का था (जिसमें से बाहरी नालाकार भुरभुरे बालु-प्रस्तर का था और भीतरी नालाकार नीलाश्म का था)। इनमें से बाहरी वृत्त और बाहरी नालाकारों पर पत्थर के सरदल लगे हुए थे। अतिरिक्त प्रस्तरों में से कुछ ये हैं—'वेदीप्रस्तर' जो केन्द्र की दक्षिण-पूर्व धुरी पर पड़ा है; 'वध-प्रस्तर' जो धुस्स के प्रवेश-द्वार के भीतर है; दो स्थिति-प्रस्तर जो बाँध के बिल्कुल समीप अन्दर हैं उत्तर-पश्चिम और दक्षिण-पूर्व में, और 'हील' (हेले) प्रस्तर जो प्रवेश-द्वार के बाहर मार्ग पर खड़ा है··· 'समाधिस्थ अवशेष' में लगभग ३० शवों का समाधि-स्थल है। हील प्रस्तर, जो ३५ टन बालु-प्रस्तर का १६ फुट (४·९ मीटर) ऊँचा प्रस्तर-खण्ड है, धुस्स के प्रवेश-द्वार के बाहर स्थित है, किन्तु अपने प्रतिसाम्य की धुरी पर नहीं है। इस धुरी के आर-पार, इसके पश्चिम में चार लम्बे स्तम्भ-छिद्र हैं जो सम्भवतः किसी पूर्वकालिक लकड़ी के फाटक के चिह्न हैं। (स्टोनहैंज २ में) धुस्स का प्रवेश-द्वार मार्ग द्वारा 'अवन' नदी से जुड़ा हुआ था—यह ऐसा शोभायात्रोपयोगी मार्ग था जिसके साथ समानान्तर बाँध व खाइयाँ थीं··· नीलाश्मों की यह सबसे प्रथम व्यवस्था, पंक्तियों में लगभग उत्तरायणकाल में सूर्योदय के समय की गई थी। ३० फुट ऊँचे प्रस्तरों की दिखने वाली सतहों को अति कठोर परिश्रम द्वारा चिकना बनाया गया है···इन संरचनाओं का निर्माणकाल ई० पू० १६वीं शती का प्रारम्भिक अर्द्धभाग कहा जा सकता है, जिसकी पुष्टि मोटे तौर पर कार्बन-रासायनिक-पद्धति पर भी हो जाती है। उसके निष्कर्ष के अनुसार यह सम्भवतः २,००० से १,४०० ई० पू० के कालखण्ड में निर्मित हुआ था। यह सामान्यतः और कदाचित् ठीक ही अनुमान किया जाता है कि 'स्टोनहैंज' का निर्माण पूजा-स्थल के रूप में हुआ था। तथापि यह जिस धर्म के अनुपालन-

हेतु बना था'''उसकी तो मात्र कल्पना ही करनी होगी'''उसका कोई ज्ञान उपलब्ध नहीं है।" (स्टोनहैंज ३क की) बालु-प्रस्तर संरचना की सादृश्यता की धुरी की उत्तरायण-पंक्तिबद्धता बहुत पहले ही स्वीकार की जा चुकी है'''सन् १९६३ ई० में इंग्लैंड के सी० ए० न्यूहम और अमरीका में जी० एस० हाकिन्स द्वारा, पृथक्-पृथक्, सूर्य और चन्द्र के महत्त्वपूर्ण सूर्योदयों और सूर्यास्तों के समय अतिरिक्त पंक्तियों के अस्तित्व सुझाए गये थे। ये विचार निस्सन्देह रूप में उस जन-धारणा को बल प्रदान करते हैं कि स्टोनहैंज आकाश-पूजन का एक मन्दिर था, किन्तु इसपर सावधानीपूर्वक विचार किया जाना चाहिये क्योंकि अधिकांश ईसाई गिरजाघर इसी प्रकार खगोलशास्त्र-विद्यामूलक हैं। हाकिन्स ने यह भी सुझाया कि ५६ औब्रे विवरों का वृत्त चन्द्र और सूर्य के ग्रहणों, तथा चन्द्र के महत्त्वपूर्ण भविष्य-कथनों के लिए गणक-यन्त्र के रूप में प्रयुक्त हुआ होगा'''इसकी सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता।

उपर्युक्त अवतरण से जो महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं, वे ये हैं कि स्टोनहैंज नाम से पुकारी जाने वाली प्रस्तर-संरचना एक मन्दिर है, कि यह २,००० ई० पू० तक की प्राचीन हो सकती है, कि इसके प्रवेश-द्वार से अवन नदी तक का मार्ग लगभग दो मील दूर तक था, कि मन्दिर में ऐसे पत्थर हैं जिनकी सतहें अति चमकीली हैं, कि वहाँ एक वध-प्रस्तर भी है, कि यह मन्दिर नदी के साथ एक शोभायात्रोपयोगी मार्ग द्वारा जुड़ा हुआ था, कि मन्दिर के प्रवेश-द्वार पर एक समारोह सम्बन्धी फाटक था (जिसे लकड़ी का बताया गया है), कि उन दिनों में शवों की समाधियाँ बना दी जाती थीं, कि मन्दिर का सम्बन्ध आकाश-पूजन से था, कि इसके प्रवेश-द्वार को (जून २२) ग्रीष्मकालीन उत्तरायण सूर्योदय से पंक्तिबद्ध किया हुआ था, कि मन्दिर के चारों ओर बने हुए चिह्न इस ओर संकेत करते हैं कि यह सूर्य और चन्द्र (तथा सम्भवतः, सभी अन्य ग्रहों के भी) उदय और अस्त के समयों का अध्ययन करने के लिए यह एक वेधशाला थी, कि अधिकांश ईसाई गिरजाघर नक्षत्र-ग्रहों के अनुरूप ही अधिष्ठित हैं, कि ५६ औब्रे-विवर गणक-यन्त्रों के रूप में उपयोग में आते रहे होंगे जो चन्द्र और ग्रहणों, तथा चन्द्र के महत्त्वपूर्ण उदयों के भविष्य-कथन करते होंगे;

और कि मन्दिर के प्रवेश-द्वार के ठीक बाहर मार्ग में ही एक १६ फुट ऊँचा पत्थर अभी भी स्थित है।

'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' में स्वीकार किया गया है कि इंग्लैंड में उस प्राचीन युग में व्यवहृत धर्म के बारे में कुछ पता नहीं है, किन्तु स्टोनहैंज के बारे में अनुसन्धान-उपलब्धियाँ मात्र हिन्दू-धर्म से ही संगत बैठती हैं।

स्टोनहैंज-काल (१८००-१४०० ई० पू०) में एकमात्र हिन्दू-धर्म ही विश्व को ज्ञात था। हिन्दू-धर्म के मूल ग्रन्थ वेद तथा रामायण, महाभारत उसी काल-क्रम में आते हैं।

हिन्दू लोग ही अपने मन्दिरों का सम्बन्ध स्थल-मार्ग द्वारा नदियों से स्थापित करते थे। स्टोनहैंज का अवन नदी से सम्बन्ध उसी प्रकार का है। भारत में ऐसे अगणित मन्दिर हैं जिनके प्रवेश-द्वार का निर्माण इस प्रकार किया गया है कि विशिष्ट दिनों पर, सूर्य की किरणें मुख्य आराध्य-प्रतिमा पर सीधी पड़ें। स्टोनहैंज में भी ऐसा ही है।

हिन्दू लोग अपने मन्दिरों का सम्बन्ध स्थल-मार्ग द्वारा नदियों से करने के लिए प्रसिद्ध हैं। स्टोनहैंज मन्दिर का सम्बन्ध अवन नदी से था। शोभा-यात्रोपयोगी मार्ग भी हिन्दुओं की उस रीति का द्योतक है जिसके अनुसार देव-मूर्तियों को विसर्जन-हेतु नदियों में प्रवाहित कर दिया करते थे। स्वयं 'अवन' नदी का नाम भी संस्कृत के 'अरुण' शब्द का अपभ्रंश रूप हो सकता है—'अरुण' का अर्थ लालिमायुक्त भोर-काल का सूर्य है। यह निष्कर्ष इस तथ्य से भी स्वीकार्य प्रतीत होता है कि ड्रइड्स लोग सूर्य का आह्वान करने के लिए स्टोनहैंज मन्दिर में उषाकाल की बेला में एकत्र होते हैं।

प्रस्तरों की सतहों को चमकाने की परम्परा भारत में अति सामान्य, प्रचलित है। ऐसे बीसियों मन्दिर हैं जिनमें विशाल वर्गाकार स्तम्भ हैं जिनकी गोलाकार सतहें चमकीली रखी गयी हैं ताकि मन्दिरों में होने वाले पवित्र नृत्यों का उनमें प्रतिबिम्ब देखा जा सके। ऐसे मन्दिर अभी भी दक्षिण के हेलबिड और अन्य ऐतिहासिक स्थानों पर देखे जा सकते हैं।

वध-प्रस्तर बकरियों अथवा भैंसों की बलि चढ़ाने की भारतीय क्षत्रियों की परम्परा की स्मृति दिलाता है।

स्टोनहैंज मन्दिर का प्रवेश-द्वार इस प्रकार पंक्तिबद्ध किया गया था

कि (उत्तरायण में) २२ जून को सूर्य की किरणें सीधी प्रविष्ट हो जाएँ। हिन्दुओं के मूल निवास-स्थान भारत में, कोल्हापुर और जयपुर जैसे स्थानों में बहुत सारे ऐसे मन्दिर हैं जिनके प्रवेश-द्वार इस प्रकार वैज्ञानिक रूप में बनाये गये हैं कि स्टोनहैंज मन्दिर के समान ही, धार्मिक महत्त्व के विशिष्ट अवसरों पर, उन मन्दिरों की मुख्य देव-प्रतिमाओं पर सूर्य की किरणें सीधी पड़ती हैं।

हिन्दुओं का आदि-स्थान भारत मात्र ही ऐसा स्थान है जिसको इस बात का गर्व हो सकता है कि स्टोनहैंज के समान ही वहाँ भी खगोलीय पर्यवेक्षणों-हेतु प्रस्तरों और चिनाई की असंख्य संरचनाएँ निर्मित है। खगोल-शास्त्रीय चिह्नों से युक्त ऐसे अनेक भवन जयपुर, उज्जैन और नयी दिल्ली जैसे भारत के अनेक नगरों में अभी भी भलीभाँति रक्षित देखे जा सकते हैं।

कुतुबमीनार नाम से पुकारा जाने वाला हिन्दू ज्यामिति स्तम्भ उसी युग से सम्बन्ध रखता है जिस युग से स्टोनहैंज-वेधशाला। २३८ फुट ऊँचे हिन्दू स्तम्भ—कुतुबमीनार के चारों ओर २७ नक्षत्रीय मन्दिर थे जिनको कुतुबुद्दीन ने विनष्ट किया था। स्टोनहैंज में भी इसी प्रकार के मन्दिर थे, जैसा एन्साइक्लोपीडिया ने उल्लेख किया ही है।

उस विस्मरणातीत युग के विश्व-इतिहास में भारत ही एकमात्र ऐसा देश है जिसने चान्द्र पंचांग पर विशेष बल दिया है और प्रत्येक नागरिक के जीवन को अति सूक्ष्म नक्षत्रीय पर्यवेक्षणों से सम्बन्धित किया है तथा ग्रहणों के दिन शुद्धिकारक स्नान करने, नव चन्द्र व पूर्णिमा के दिन भी स्नान करने, प्रत्येक पखवाड़े की एकादशी को व्रत करने, कुछ विशिष्ट धार्मिक कर्मकाण्ड करने, कुछ दानादि करने का विधान किया हुआ है। आकाशीय-पिण्डों का इस प्रकार अतिसूक्ष्म अध्ययन और उनकी समीक्षा प्राचीनतम वेदों से प्रारम्भ कर सभी हिन्दू साहित्य में प्रमुख रूप में उल्लिखित है।

नयी दिल्ली स्थित प्राचीन हिन्दू वेधशालाओं और स्टोनहैंज की वेध-शाला के बीच महत्त्वपूर्ण सम्पर्क-सूत्र अर्द्धरात्रि को 'शून्य' घण्टा मानने की ग्रीनविच समय-प्रणाली में मिलता है। अर्द्धरात्रि से घड़ी को मिलाने और एक नयी तारीख प्रारम्भ करने की पद्धति अत्यन्त ऊटपटाँग है। फिर भी इसका कारण है कि अंग्रेजी-पंचांग इस असुविधाजनक घड़ी से चिपटा हुआ

है ? इसका स्पष्टीकरण यह है कि प्राचीन इंग्लैंड हिन्दू-देश होने के कारण वहाँ के प्रबुद्ध-जन भारत में सूर्योदय के समय के अनुरूप अपना समय निश्चित करने लगे। भारतीय और अंग्रेजी समयों में साढ़े पाँच घण्टे का अन्तर है। इंग्लैंड में अर्द्धरात्रि के समय का भारत के सूर्योदय से तादात्म्य है। इसी प्रकार, भारत का नूतन वर्ष-दिवस, जो चान्द्र-पंचांग के अनुसार २५ मार्च के लगभग होता है, सन् १७५२ ई० तक इंग्लैंड का नया साल प्रारम्भ होने का दिन था। घंटे का अर्थ-द्योतक अंग्रेजी शब्द 'आवर' संस्कृत के 'होरा' शब्द का अपभ्रंश है। प्रचलित अंग्रेजी वर्ष के कम-से-कम चार मासों के नाम तो संस्कृत शब्दों पर ही हैं; यथा सेप्टेम्बर (सप्त-अम्बर), अक्टूबर (अष्ट-अम्बर), नवम्बर (नव-अम्बर) और दिसम्बर (दश-अम्बर)। इनका अर्थ क्रमशः आकाश-मण्डल का सातवाँ, आठवाँ, नवाँ और दसवाँ भाग है। लैटिन भाषा में दो अन्य नाम भी हैं जो हिन्दू पंचांग-वर्ष के ही हैं—मारजिओ (मार्गशीर्ष) और मागो (माघ)। यह तथ्य इस बात को भी सिद्ध करता है कि नयी दिल्ली स्थित कुतुबमीनार अर्थात् वराहमिहिर वेधशाला और इंग्लैंड-स्थित स्टोनहैंज-वेधशाला के मध्य खगोलशास्त्रीय सामग्री का आदान-प्रदान होता रहता था।

अविस्मरणीय अभ्यास के अनुसार भारत की केन्द्रीय याम्योत्तर रेखा दिल्ली, उज्जैन और लंका से गुजरती थी। महा-अंकलेश्वर के नाम से विख्यात, उज्जैन का सुप्रसिद्ध शिव मन्दिर इस प्रकार बना हुआ था, तथा वहाँ स्थित शिवलिंग इस प्रकार अवस्थित था कि वह याम्योत्तर रेखा उसको दो समान भागों में विभाजित करती थी। इंग्लैंड में भी किसी शिव मन्दिर में शिवलिंग इसी प्रकार अवस्थित रहा होगा कि उत्तरायण के उदीयमान सूर्य (दिनांक २२ जून) की सीधी किरणें इस शिवलिंग को सद्य-स्नान कराती रही होंगी। इंग्लैंड की केन्द्रीय याम्योत्तर रेखा वहीं से गुजरती होगी।

दो विशिष्ट उदाहरणों द्वारा सिद्ध किया जा सकता है कि सम्पूर्ण प्राचीन यूरोप में हिन्दू शिव-पूजा प्रचलित थी। प्राचीन इटली में अनेक शिव-प्रस्तर (शिवलिंग) खोदकर निकाले गये हैं। इन्हीं में से एक शिव-लिंग) रोम-स्थित पोप के वेटिकन नगर में एट्रस्कन संग्रहालय में दर्शनार्थ

रखा हुआ है। एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका में 'एट्रूस्कन' और 'एट्रूरिया' शीर्षकों के अन्तर्गत यह भी अंकित है कि इस शिव-प्रस्तर को 'ईश' और 'ईश्वर' के हिन्दू, संस्कृत नामों से भी पुकारा करते थे। मैं, अपनी इस धारणा के पक्ष में कि प्राचीन इंग्लैंड के मन्दिरों में शिलाखण्ड के रूप में विद्यमान हिन्दू भगवान् शिव की पूजा हुआ करती थी, 'मक्का की यात्रा' शीर्षक पुस्तक से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करता हूँ। इस पुस्तक की लेखिका हैं लेडी ईवलिन कोबोल्ड। इस पुस्तक के पृष्ठ १३४ पर लेखिका ने लिखा है—"ऐतिहासिक प्रस्तरों के प्रति श्रद्धाभाव व्यक्त करने में मुस्लिम लोग अकेले ही नहीं हैं; असंख्य उदाहरणों में से एक उदाहरण जैक़ब का है जिसने एक स्मारक के रूप में एक प्रस्थर स्थापित किया था, और इंग्लैंड के सभी सम्राटों को वैस्ट मिंस्टर एबे स्थित उसी प्रस्तर पर राजमुकुट धारण कराये जाते हैं, इस प्रस्तर की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए इतनी सारी विचित्र कहानियाँ गढ़ी जाती हैं।" यह इस बात का प्रमाण है कि वैस्टमिंस्टर एबे एक प्राचीन हिन्दू शिव मन्दिर के स्थान पर ही स्थित है। और चूँकि भगवान् शिव का सम्बन्ध शुभारम्भ और संहार, दोनों, से ही है, इसलिए उच्च और शक्ति-सम्पन्नों को वैस्टमिंस्टर एबे में दफ़नाने की पद्धति प्रारम्भ हो गई।

इस सन्दर्भ में हम एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका का पर्यबेक्षण पुन: स्मरण कराना चाहते हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि "अधिकांश ईसाई गिरजाघर खगोलशास्त्रीय विद्या पर अवस्थित हैं, उससे अभिप्रेरित हैं।" हम ऊपर पहले ही यह बात सिद्ध कर चुके हैं कि प्राचीन हिन्दू पद्धति के अनुसार, जो हमारे युग में भी ज्यों-की-त्यों प्रचलित है, सभी मन्दिरों को भी खगोलशास्त्रीय विद्या पर अवस्थित, अभिप्रेरित रहना पड़ता है। ईसाई ब्रह्मविद्या में इसका प्रत्यक्ष औचित्य न होने के कारण भी प्राचीन ईसाई गिरजाघरों का खगोलशास्त्रीय विद्या से अभिप्रेरित होना इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि वे सब हिन्दू मन्दिर थे।

ईसाइयत द्वारा पद-दलित होने से पूर्व उपासना-गृहों में वेदों का गान होता था। यह तथ्य अंग्रेजी के 'साम' शब्द से सिद्ध होता है जो सामवेद से उत्पन्न है। गिरजाघरों में अभी तक 'सामों' का गायन होता है, किन्तु

संस्कृत 'साम' का मात्र नाम ही शेष रह गया है।

बाइबल में डेविड का उल्लेख अनेक साम (गीतों) के रचयिता के रूप में किया जाता है। डेविड का सन्दर्भ द्रविड़ (पुरोहित) से है, जो वैदिक ऋचाओं का सम्पादन और गायन किया करता था। ये द्रविड़ लोग आधुनिक ब्रिटेन में ड्राइड्स के रूप में अब भी विद्यमान हैं; वे भारत में द्रविड़ों (तथ्यतः सभी हिन्दुओं) की ही भाँति सूर्यदेव का आह्वान करते हैं। इनका गीत संस्कृत के पुनीत गायत्री-मन्त्र का यथार्थ अनुवाद है।

ड्राइड्स अर्थात् द्रविड़ लोग इंग्लैंड में प्राचीन हिन्दू धर्म के अनुयायी हैं। ये स्टोनहैंज मन्दिर में २२ जून को गायत्री मन्त्र का पाठ करते हैं।

यह परम्परागत मान्यता कि सभी अंग्रेज व्यक्ति (और तथ्यतः, सभी यूरोपीय और विश्व के अनेक समुदाय भी) आर्य हैं, अनिवार्य रूप में उनके पूर्वकालीन हिन्दू होने की एक स्मृति ही है। जैसी सामान्य भ्रामक धारणा है, आर्य कोई जाति न होकर जीवन की हिन्दू पद्धति है। यदि 'आर्य' शब्द किसी जाति का द्योतक रहा होता, तो इसमें ईरानियों, यूरोपीयों और भारतीयों जैसे पृथक्-पृथक् रंग, आकृति और बनावटों वाले विभिन्न जन-समुदाय कभी भी सम्मिलित न रहे होते। वे सभी आर्य कहलाते हैं क्योंकि वे सभी हिन्दू ही थे। भारत में आर्यसमाज, आर्य-धर्म, सनातन धर्म और वैदिक जीवन-पद्धति सब-के-सब हिन्दूधर्म के पर्यायवाची ही हैं। इससे सभी लोगों के समक्ष स्पष्ट हो जाना चाहिये कि जब अंग्रेज तथा अन्य समुदाय स्वयं के सम्बन्ध में आर्य होने का दावा करते हैं, तब वे पूर्वकाल में हिन्दू होने की स्मृति को ही सजग करते हैं।

उपर्युक्त उपलब्धि के सम्बन्ध में एक अन्य लघु विवरण भी बिल्कुल सही बैठता है: वह यह है कि जिस प्रकार भारत में बहुसंख्यक समाज का ही एक अंश द्रविड़ लोग हैं, उसी प्रकार इंग्लैंड में भी अंग्रेज़ आर्यों अर्थात् इंग्लैंड में प्राचीन हिन्दू धर्म का ही एक भाग वहाँ के ड्राइड्स अर्थात् द्रविड़ लोग हैं।

इंग्लैंड के कुछ शहरों के नामों में जुड़ा 'शायर' प्रत्यय संस्कृत शब्द 'ईश्वर' का अपभ्रंश है। जैसे शिव मन्दिरों से प्रतिष्ठित त्र्यम्बकेश्वर, लंकेश्वर, घृश्नेश्वर तथा गढ़मुक्तेश्वर आदि नगरियाँ भारत में हैं, उसी प्रकार

इंग्लैंड में भी प्राचीन शिवमन्दिरों की पुण्यस्थलियाँ हैं जो लंकाशायर, पेमब्रोकशायर और हैम्पशायर जैसे नामों मे जानी जाती हैं।

इसी प्रकार, 'सेलिसबुरी, वाटरबुरी, कैन्टरबुरी' जैसे अंग्रेज़ी नामों में प्रयुक्त अन्त्य 'बुरी' प्राचीन संस्कृत शब्द 'पुरी' का स्मरण दिलाने वाला है जो उन दिनों का परिचायक है जब इंग्लैंड एक हिन्दू देश था। भारत में और स्याम में (जो स्वयं हिन्दू देश था) अभी भी 'सुदामापुरी, कृष्णपुरी, चोलपुरी (स्याम में यह चोलबुरी है) और राजपुरी (स्याम में यह राज-बुरी है) जैसे नगर अभी भी हैं। कल्पित अंग्रेज़ी नाम 'सेलिसबुरी' सभी प्रकार संस्कृत है, जो 'शैल-ईश-पुरी' अर्थात् 'पर्वत के देवता (भगवान् शिव) की नगरी' है—यह स्पष्टतः दर्शाया है कि 'सेलिसबुरी' एक पहाड़ी क्षेत्र में स्थित है। इस तथ्य की पुष्टि प्राचीन अथवा नवीन (प्रचलित) भौगोलिक मानचित्रों को देखकर की जा सकती है। विल्टशायर क्षेत्र, जिसमे स्टोनहैंज स्थित है, वहाँ पर एक प्राचीन हिन्दू शिवमन्दिर की विद्यमानता का बोधक है जैसाकि 'ईश्वर' (भगवान् शिव) के द्योतक अन्त्य 'शायर' शब्द से प्रत्यक्ष ही है। सेलिसबुरी का पहाड़ी भूगोलगत नाम भी इस तथ्य का प्रमाण है कि यह नाम एक पहाड़ी क्षेत्र और एक हिन्दू मन्दिर के यथार्थ रूप में द्योतक संस्कृत शब्द 'शैल-ईश-पुरी' का अपभ्रंश रूप है। यह प्राचीन इंग्लैंड की हिन्दू-पैतृकता का एक अति लघु तथापि महत्त्वपूर्ण संकेतक है। एक समानान्तर उदाहरण सुदूरस्थ मलयेशिया का प्रस्तुत किया जा सकता है जहाँ 'सुंगई पट्टनि' नगर संस्कृत का 'शृंग पट्टन' (अर्थात् पहाड़ी नगर) है और 'पेतालिंग जय' 'स्फटिक लिंग जयन' अर्थात् महास्फटिक (श्वेत) शिवलिंग (अब मस्जिद में परिवर्तित हुआ) है। यदि पेतालिंग जय की सबसे पुरानी मस्जिद के आस-पास, चारों ओर, पुरातत्त्वीय खुदाई-कार्य किया जाये, तो निश्चित है कि वह मस्जिद एक शिव मन्दिर सिद्ध होगी।

आइए, हम अब स्वयं इंग्लैंड शब्द का मूल विचार करें। इसका संस्कृत-मूल खोज निकालने के लिए हमें सर्वप्रथम यह ध्यान रखना चाहिये कि संस्कृत का 'ग्रन्थि' शब्द अंग्रेज़ी भाषा में 'ग्लैंड' के रूप में निरन्तर वर्तन (प्रयुक्त) हो रहा है। इसी प्रकार 'लैंप-स्टैण्ड' में प्रयुक्त 'स्टैण्ड' शब्द

भी संस्कृत का 'स्थान' शब्द है। यह इस बात का द्योतक है कि संस्कृत का अन्त्य 'न्थ' अथवा 'थान' अंग्रेज़ी के 'एण्ड' में बदल गया है। आइए, हम अब प्राचीन भौगोलिक मानचित्र को पुनः देखें, जिसमें प्राचीन हिन्दुओं ने अपने देश का नाम 'सिन्धु-स्थान' (अर्थात् हिन्दू-लैंड) और अन्य देशों का नाम 'अफ़गानिस्तान, बलूचिस्तान, तुरग-स्थान (आधुनिक तुर्की) और अर्ब-स्थान (आधुनिक अरेबिया) रखा था। इसी प्रकार, उन्होंने अंग्रेज़ी-द्वीप का नाम 'आँग्ल-स्थान' (जो संस्कृत भाषा में अभी भी ज्यों-का-त्यों प्रयुक्त होता है) रखा था। अंग्रेज़ लोगों का मूल संस्कृत नाम 'आँग्ल' (न कि 'इंगलिश') होना 'आंग्लेस' और 'आंग्लों' (सेक्सन) और (फ्रांसीसी लोगों द्वारा अभी भी प्रयुक्त) 'आंग्लाइस' शब्दों की विद्यमानता से सिद्ध ही है। अतः, 'आँग्ल-स्थान' 'आंग्ल-एण्ड' हो गया जो आधुनिक शब्द-व्यवहार में 'इंग्लैंड' में बदल गया।

ब्रिटेन (बृहत्-स्थान) संस्कृत शब्दावली का अपभ्रंश है। 'बृहत्-स्थान' महान् द्वीप का द्योतक है। किन्तु 'ब्रिटेन' शब्द का मूल संस्कृत-माहात्म्य भुला देने के कारण अंग्रेज़ी शब्दावली में विशेषण 'ग्रेट' का प्रयोग दोहराया जाता है।

यही बात विश्व के अन्य भागों में भी हुई है। प्राचीन हिन्दुओं ने मिस्र देश में बहने वाली नदी का नाम 'नील' रखा था जो उसके नीले जल का परिचायक था। किन्तु प्राचीन, संस्कृत परम्परा विस्मृत हो जाने के कारण, शताब्दियाँ व्यतीत हो जाने पर, मिस्र देशवासियों ने 'नील' शब्द को कोई रहस्यमय, निरर्थक व्यक्तिवाचक नाम समझकर अपनी नदी के साथ 'नीली' विशेषण और जोड़ दिया। वे अब उस नदी को 'नीली नील' (ब्ल्यू नील) कहते हैं।

'शायर-स्टन, हैम्पटन और केन्सिंगटन' जैसे नामों में प्रयुक्त, नगरों और अन्य बस्तियों के नामों में प्रयुक्त अन्त्य 'टन' या 'स्टन' संस्कृत के अन्त्य 'स्थान' का द्योतक है। ऊपर दी गई व्युत्पत्ति के अनुसार, स्पष्ट है कि 'शायर-स्टन' 'ईश्वर-स्थान' अर्थात् 'भगवान् शिव का स्थान' (मन्दिर अथवा नगरी) है।

जब स्वयं अंग्रेज़ी भाषा संस्कृत शब्दों से भरी पड़ी है, तब इसमें कोई

आश्चर्य की बात नहीं है कि इंग्लैंड के नगरों के नाम संस्कृत-नामों पर हैं। अंग्रेज़ी भाषा प्रचुर मात्रा में संस्कृत शब्दों से भरी पड़ी है क्योंकि स्मरणातीत युग में जब ब्रिटेनवासी हिन्दू थे, तब वे साम-ऋचाओं का पाठ करते थे, सभी पार्थिव और धार्मिक कृत्यों के लिए संस्कृत का ही प्रयोग करते थे। 'सेंट' शब्द संस्कृत के 'सन्त' शब्द के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। 'क्राइस्टमास' (क्रिसमस) और 'माइकेलमास' में प्रयुक्त 'मास' शब्द उस महीने का द्योतक संस्कृत 'मास' शब्द है जिसमें क्राइस्ट अथवा 'माइकेल' के समारोह सम्पन्न होते हैं। इसका एक अन्य संकेतक है प्रचलित अंग्रेज़ी भाषायी आदरसूचक शब्द 'सर'। लगभग २,००० वर्ष तक संस्कृत से सम्बन्ध न रहने के कारण ब्रिटेनवासियों ने भ्रम-वश, अशुद्ध रूप में संस्कृत के शुद्ध 'श्री' शब्द के दो व्यंजनों और एक स्वर की व्यवस्था को 'सर' करने में एक व्यंजन, एक स्वर और एक व्यंजन का रूप दे दिया।

प्राचीन ब्रिटेनवासियों को हिन्दू बताने वाले अन्य साक्ष्य का एक अंश उनके चिकित्सा सम्बन्धी शब्दों में प्राप्त होता है जो हिन्दू चिकित्सा-प्रणाली—आयुर्वेद से ही व्युत्पन्न हैं। 'हिक्कप्स' शब्द लो जो संस्कृत का 'हिक्क' है; 'हार्ट' 'हार्दिक' से व्युत्पन्न है; 'डेंटिस्ट्री' 'दन्त-शास्त्र' से है; 'हाइड्रो-सेफेलिया' 'आर्द्र-कपाल' है; 'ओस्टिओ-पोरोसिस' हड्डी के अर्थ-द्योतक संस्कृत 'अस्थि' शब्द से है; इसी प्रकार, 'ओस्टिओ-मेलेसिया' 'अस्थि' का 'मलिन' हो जाना है। 'कफ़' उसी उच्चारण सहित हिन्दू, संस्कृत शब्द है जिसका अर्थ थोड़ा-सा परिवर्तित हो गया है अर्थात् संस्कृत में यह 'बलगम' का द्योतक है।

प्राचीन ब्रिटेनवासियों की अन्य पाठ्य-पुस्तकें भी संस्कृत में होना सिद्ध करने वाला एक शब्द 'ट्रि-गोनो-मैट्री' है जो संस्कृत का 'त्रि-गुण-मात्रा' है।

प्राचीन ब्रिटेनवासी संस्कृत बोला करते थे—यह तथ्य पुत्र के द्योतक अंग्रेज़ी के 'सन' और 'सोन्नी' शब्दों से, जो संस्कृत के 'सूनुः' शब्द से व्युत्पन्न हैं, प्रत्यक्ष हो जाता है। 'नेविगेबिलिटी' विशुद्ध संस्कृत-समास 'नाविगमन-बल-इति' है। 'रिसीवेबिलिटी', 'एबिलिटी', 'पैलेटिबिलिटी', 'एड्वाइज़े-बिलिटी' जैसे शब्दों में अन्त्य 'बिलिटी' संस्कृत का 'बल-इति'

है जिसका अर्थ 'के लिए सामर्थ्य' है। संस्कृत भाषा के 'हन्ता', 'हन्तारौ', 'हन्तार:' की अंग्रेज़ी के 'हन्ट', 'हन्टर', 'हंटिंग' शब्दों से तुलना की जा सकती है। इसी प्रकार, अंग्रेज़ी भाषा के 'विडो', 'विडोअर' संस्कृत भाषा के 'विधवा' और 'विधुर' से व्युत्पन्न हैं।

अंग्रेज़ी स्थानवाचक शब्दों के अन्त्य भाग सभी प्रकार संस्कृत भाषा के ही हैं। कुछ विशिष्ट उदाहरण निम्नलिखित प्रकार हैं—

बोरो=पुरा, पुर।

बुरी (जैसे सेलिसबुरी में)=पुरी।

हम (जैसे बरमिंहम, सनड्रिंग्हम में)=धाम।

टन (जैसे हैम्पटन, वाशिंगटन में)=स्थान।

शायर (जैसे लंकाशायर में)=ईश्वर।

इन सब तथ्यों का सारांश यह है कि प्रचलित धारणा के बिल्कुल विपरीत, ब्रिटेन का तो अति प्राचीन इतिहास है। यह कथन आंशिक रूप में ही सत्य हो सकता है कि जब रोमन लोगों ने ब्रिटेन में पदार्पण किया, तब ब्रिटेनवासी असभ्य थे—अर्थात् इतिहास में किसी एक विशेष समय आक्रमणों, या प्राकृतिक विपदाओं के कारण ब्रिटेन अज्ञान और अकिंचनावस्था को प्राप्त हो गया था। यदि आज ब्रिटिश इतिहास को मात्र ५०० वर्ष पूर्व से ही सूत्रबद्ध किया जा सकता है, तो उसका कारण यही है कि ईसाइयत इंग्लैंड के पूर्व इतिहास को उसी प्रकार समूल नष्ट करने में सफल हो सकी जिस प्रकार इस्लामी धर्मोन्माद ने अरबों के दिमाग़ से उनका मुस्लिम-पूर्व इतिहास समाप्त कर दिया। किन्तु उपर्युक्त सूत्र रोमन-आक्रमण से कई शताब्दियों पूर्व के इंग्लैंड का इतिहास पुन: खोज निकालने में सहायक हो सकते हैं। इस प्रकार का सत्प्रयत्न यूरोप के अन्य देशों व भारत के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में नया प्रकाश डालेगा। आशा की जाती है कि रुचि रखने वाले विद्वान् अन्वेषण की इस नयी दिशा में आगे पग बढ़ाएँगे।

वैस्ट मिन्स्टर एबे भी एक शिवमन्दिर है

लन्दन का वैस्ट मिन्स्टर एबे सामान्यत: एक ऐसे गिरजाघर, भवन के रूप में विख्यात है जहाँ अंग्रेजी सम्राटों को राजमुकुट पहनाया जाता है, और यह उस स्थान के रूप में भी प्रसिद्ध है जहाँ विशिष्ट अंग्रेज व्यक्तियों को मरणोपरान्त दफ़नाया जाता है। किन्तु इसका सबसे अधिक चमत्कारी रूप, जो अभी तक सर्वथा अज्ञात रहा है, यह है कि यह स्थान एक अति प्राचीन शिवमन्दिर भी है क्योंकि इसमें सन् १२९६ ई० से ही एक अति प्राचीन, पवित्र हिन्दू प्रस्तर-चिह्न रखा हुआ है।

इससे भी आगे, और अधिक महत्त्व की जो बात है वह यह है कि जिस प्रकार चिर-स्मरणातीत युगों से भगवान् शिव हिन्दु शासकों के राजकुल-देवता रहे हैं, लगभग उसी प्रकार वह अति प्राचीन पवित्र हिन्दू प्रस्तर भी ग्रेट ब्रिटेन का राजकुलीन आराध्य-देव रहा है।

वैस्ट मिन्स्टर एबे में प्रतिष्ठित उस प्राचीन प्रस्तर का विवरण (सन् १९३१ ई० में स्थापित) नाम-अनुक्रमणिकासहित निरन्तर आद्यतन रखी गई महत्त्वपूर्ण विश्व-घटनाओं की साहित्यिक दैनंदिनी, कीसिंग के तत्कालीन अभिलेख, १९५०-५२, के खण्ड VIII, पृष्ठ १११८८ पर दिया हुआ है। इन अभिलेखों को कीसिंग की निजी प्रकाशन संस्था 'कीसिंग्स पब्लिकेशन्स लिमिटेड', (लन्दन) ने प्रकाशित किया था।

इसमें उल्लेख है: "अभिषेक-प्रस्तर, जिसे बहुधा स्कोन-प्रस्तर अथवा प्रारब्ध-प्रस्तर के नाम से सम्बोधित करते हैं, रक्तिम भूरे रंग का भुरभुरा बालुका प्रस्तर है जिसका रूप, स्थूल-रूप में आयताकार है। यह लगभग ४५० पौण्ड भारी प्रस्तर-खण्ड है, जिसकी लम्बाई २६-१/२ इंच, चौड़ाई १६-१/२ इंच और मोटाई ११ इंच है। इसे स्कॉटलैण्ड के राजाओं द्वारा

'अभिषेक-प्रस्तर' के रूप में सन् १२९६ ई० तक उपयोग में लाया गया था। उन राजाओं को (पर्थ के निकट) स्कोन में राजमुकुट धारण कराया गया था। एडवर्ड I ने सन् १२९६ ई० में स्कॉटलैण्ड पर आक्रमण किया, वहाँ के राजा (जान बेलिओल) पदच्युत किया, और वह इस विशिष्ट प्रस्तर को लन्दन ले आया तथा इसे वैस्ट मिन्स्टर एबे में स्थापित कर दिया, जहाँ इसके चारों ओर एक अभिषेक-कुर्सी बना दी गई। इस अभिषेक-कुर्सी और स्कोन-प्रस्तर का इंग्लैंड के प्रत्येक राजा के अभिषेक के लिए और एडवर्ड II के बाद ग्रेट ब्रिटेन के प्रत्येक राजा के अभिषेक के लिए किया गया था। सन् १९५० ई० में क्रिसमस-दिवस पर इसे हटा लेने से पहले यह प्रस्तर कभी भी एबे से दूर नहीं गया था (सन् १९३९-४५ युद्ध की अवधि में इस प्रस्तर को इस्लिपा गिरजाघर में गाड़ दिया गया था), जबकि अभिषेक-कुर्सी एबे को दो बार त्याग चुकी है : ओलिवर क्रोमवेल को लार्ड प्रोटेक्टर प्रतिष्ठित करने के समय, जब वह समारोह वैस्ट मिन्स्टर महाभवन में हुआ था और दूसरी बार सन् १९३९-४५ की लड़ाई के समय, जब इसे सुरक्षा की दृष्टि से ग्लासेस्टर धर्मपीठ ले जाया गया था।

उस पवित्र प्रस्तर के सम्बन्ध में, जिसे आजकल स्कोन-प्रस्तर और प्रारब्ध-प्रस्तर कहा जा रहा है, उसी प्रकाशन में अंकित है: "जबकि स्कोन-प्रस्तर का एक अधिकृत इतिहास है जो लगभग ९०० वर्ष तक पीछे जाता है, इसका मूल अज्ञात है, और इसके सम्बन्ध में अनेक प्राचीन दन्तकथाएँ भी प्रचलित हैं। एक कथा के अनुसार यही वह प्रस्तर है जिसपर सिर रखने पर, बीथल में (उत्पत्ति-ग्रन्थ २८, X-XIX) जैकब ने दिव्य झाँकी देखी थी, और जो फिलिस्तीन से मिस्र, स्पेन, आयरलैण्ड और उस देश से प्राचीन स्कॉटवासियों के निष्क्रमण के साथ-साथ स्कॉटलैण्ड चला आया था। कुछ इतिहासकारों द्वारा यह बात सम्भव मानी गई है कि यह प्रस्तर उस आयरिश प्रमुख केन्नेथ मेक-एलपाइन तक के सभी स्कॉटलैण्डवासी सम्राटों के अभिषेकों के अवसरों पर उपयोग में लाया गया था, जिसने पिक्ट्स लोगों को जीता था और (पिक्ट्स की राजधानी) स्कोन में लगभग ८५० ई० में अपना राजवंश स्थापित किया था। इस धारणा के बारे में विभिन्न मत हैं कि इसी प्रस्तर को पिक्ट्स-सम्राटों के राज्यारोहण के अवसरों पर काम में

लाया गया था अथवा स्कॉट लोगों द्वारा इसे आयरलैण्ड से लाया गया था (जहाँ परम्परा इसका सम्बन्ध 'तारा गढ़' स्थान पर प्राचीन आयरिश सम्राटों के अभिषेक-समारोहों से जोड़ती है) ।"

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि यह तथाकथित प्रस्तर, जिसका ९०० वर्षों का अधिकृत इतिहास उपलब्ध है, विस्मरणातीत प्राचीन युग का है और इसका निरन्तर सम्बन्ध सम्राटों के राज्याभिषेकों से रहा है। अतः, यह प्रत्यक्ष रूप में मुस्लिम-पूर्व और ईसा-पूर्व युग की आराध्य-वस्तु रही है। इस प्रस्तर का विवरण अर्थात् इसका रंग, वजन और आकार (लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई) हमें सहायक है कि हम इसे एक पवित्र हिन्दू मन्दिर के प्रस्तर के रूप में पहचान लें। भारत में, भगवान् शिव सम्राटों के परम्परागत कुलदेवता रहे हैं। प्राचीन हिन्दू सम्राट् राज्याभिषेकों और अन्य महत्त्वपूर्ण अवसरों पर भगवान् शिव की पूजा और प्रार्थना किया करते थे। शत्रुओं से युद्ध करते समय हिन्दू सम्राटों और उनकी सेनाओं द्वारा "जय एकलिंगजी" अथवा "हर-हर महादेव" अथवा "सत् श्री अकाल" का युद्ध-नाद एक बड़े प्रस्तर के प्रतीक रूप में विद्यमान उन्हीं भगवान् शिव का स्मरण कराता है। प्रत्यक्षतः, वैस्ट मिन्स्टर एबे का वह प्रस्तर हिन्दू शिव-लिंग का प्रतीक है। रोम-स्थित वेटिकन नगरी में पोप के एटरूस्कन संग्रहालय में प्रदर्शनार्थ रखे हुए प्राचीन शिवलिंग से हम जानते हैं कि सम्पूर्ण यूरोप में हिन्दू मन्दिर निश्चित रूपेण विद्यमान थे।

इससे हमें ज्ञात हो जाता है कि स्कोन-प्रस्तर अथवा प्रारब्ध-प्रस्तर, जो अब लन्दन के वैस्ट मिन्स्टर एबे में प्रतिष्ठित है, ईसा-पूर्व युग का प्राचीन हिन्दू शिवमन्दिर है। विस्मरणातीत विगत हज़ारों वर्षों में इस वैस्ट मिन्स्टर एबे स्थित प्रस्तर का फिलस्तीन से मिस्र, और वहाँ से स्पेन, आयरलैण्ड तथा अन्ततोगत्वा लन्दन जा पहुँचना भी अत्यन्त महत्त्व की बात है क्योंकि फिलस्तीन के चारों ओर अरब-इजरायल क्षेत्र इतिहास-पूर्व युग में शिवपूजा का केन्द्र प्रसिद्ध रहा है। यही कारण है कि मक्का-स्थित काबा में वार्षिक यात्रा (हज) के लिए मुस्लिम लोग एकत्र होते हैं और वहाँ प्रतिष्ठित इस्लाम-पूर्व हिन्दू शिवलिंग को श्रद्धांजलि अर्पित करते रहते हैं। फिलस्तीन के शिवमन्दिर का ऐसा ही एक प्रस्तर है जो मिस्र, स्पेन, आयरलैण्ड और

स्कॉटलैण्ड की अनेक सहस्रों वर्ष तक यात्रा करने के बाद लन्दन पहुँच सका है।

'प्रारब्ध-प्रस्तर' एक अति प्राचीन हिन्दू कल्पना है क्योंकि मानव-भाग्य का ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व का अन्तिम संहारक भी 'भगवान् शिव' ही है। हिन्दू धारणा के अनुसार भगवान् शिव ही वह शक्ति है जो समय-समय पर विश्व का संहार करने के लिए अग्नि या जल-प्लावन का विनाशक रूप सृजन करता है।

ऊपर दिए गये अवतरण में इस तथ्य की ओर ध्यान दिया होगा कि बताया जाता है कि जब स्कॉटलैण्डवासी आयरलैण्ड से स्कॉटलैण्ड गये, तब वे इस 'प्रारब्ध-प्रस्तर' (अथवा स्कोन-प्रस्तर) को भी अपने साथ ले गए। यह बड़ा विचित्र, असंगत और अयुक्तियुक्त ध्वनित होता होगा कि स्कॉटलैण्ड-वासी लोग आयरलैण्ड से कैसे (स्कॉटलैण्ड) जा सकते थे। किन्तु इसका उत्तर संस्कृत के 'क्षत्रिय' शब्द में उपलब्ध होता है जिसका अंग्रेजी अपभ्रंश 'स्कॉट' है। जैसाकि भारतीय पुराणों अर्थात् प्राचीन इतिहास-ग्रन्थों में अभि-लिखित है, इतिहास-पूर्व युग में क्षत्रिय लोग भारत से विश्व के सभी भागों में गये थे। वे जहाँ भी गये, अपने साथ अपने कुलदेवता भगवान् शिव को भी लेते गये—इनकी स्थापना पवित्र-प्रस्तर में प्रतीक रूप थी। ऐसा ही एक प्रस्तर वह है जो वैस्ट मिन्स्टर एबे में रखा हुआ है, और इंग्लैंड के ईसाई सम्राट् भगवान् शिव को अपने अभिषेकों से सम्बन्धित करने की प्राचीन भारतीय पद्धति का अभी भी अनुसरण करते हैं—इस पद्धति को उन लोगों ने स्कॉट्स अर्थात् क्षत्रियों से ग्रहण किया था जो आयरलैण्ड अर्थात् आर्य-लैण्ड से निष्क्रमण कर गये थे और स्कॉटलैण्ड को अपना घर बना बैठे थे।

स्कॉटलैण्ड शब्द स्वयं ही संस्कृत शब्द 'क्षात्र-स्थान' का अपभ्रंश रूप है। इसके लिए थोड़ी व्याख्या आवश्यक है। संस्कृत का 'ग्रन्थि' शब्द अंग्रेजी में 'ग्लैण्ड' के रूप में बदल गया है। इसी प्रकार 'लैम्प-स्टेंड' शब्द 'लैम्प-स्थान' का द्योतन करता है। ये उदाहरण इस बात के द्योतक हैं कि संस्कृत का 'अन्थ' अथवा 'थान' अंग्रेजी के 'एण्ड' में परिवर्तित हो गया है। इसी पद्धति पर 'क्षात्र-स्थान' भी 'स्कॉटलैण्ड' हो गया है। संस्कृत का 'क्षात्र' में 'र' अंग्रेजी में 'एल (ल)' में बदल जाता है।

स्कॉटलैण्डवासी अपने प्राचीन 'प्रारब्ध-प्रस्तर' उपनाम स्कोन-प्रस्तर के प्रति अपनी पुरातन हिन्दू, क्षत्रिय भावना-प्रधान आत्मीयता बनाए हुए हैं। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण-रूप प्रमाण यह है कि वे समय-समय पर उस प्रस्तर को स्कॉटलैण्ड को वापस लौटा देने की जोरदार माँग करते हैं। स्कॉट-राष्ट्रवादियों की मार्मिक याचनाओं, प्रार्थनाओं का कोई सुपरिणाम सम्मुख न आने पर, तीन नवयुवक देशप्रेमी स्कॉटलैण्ड के विद्यार्थी और एक महिला घरेलू विज्ञान-शिक्षक सन् १९५० के क्रिसमस-दिवस पर अति भोर की घड़ी में चुपके से वैस्ट मिन्स्टर एबे में प्रविष्ट हो गए, और अति श्रद्धा-पूर्वक उस प्रस्तर को स्कॉटलैण्ड के ध्वज में लपेटकर चलते बने। परम-साहसी चारों व्यक्ति ये थे: इयान हेमिल्टन—आयु २५ वर्ष—ग्लासगो विश्व-विद्यालय का विधि-छात्र, गेविन वरनन (२४ वर्षीय) और एलन स्टुअर्ट (२० वर्षीय)—दोनों ग्लासगो विश्वविद्यालय में इंजीनियरी-छात्र, तथा कुमारी कटरीना मेथेसन (२२ वर्षीया) जा रास शायर में घरेलू विज्ञान अध्यापिका थी। ये चारों लोग उस प्रस्तर को स्कॉटलैण्ड ले गए और वहाँ आर्ब्रोथ एबे में इसे प्रतिष्ठित कर दिया।

स्कॉटलैण्ड के गिरजाघर और गिरजाघर की राष्ट्रीय समिति के प्रमुख व्यक्तियों को जब यह जानकारी मिली कि उनका प्राचीन, पवित्र 'प्रारब्ध-प्रस्तर' एक बार पुन: अपने घर वापस लाया जा चुका है, तब उन लोगों को रोमांच हो गया। उन्होंने एक वक्तव्य जारी कर दिया कि "स्कॉटलैण्ड के सम्राटों के राज्याभिषेकों से सम्बन्धित होने और स्कॉटलैण्ड की स्वाधीनता और राष्ट्रवाद का प्रतीक होने, दोनों, के कारण ही अति विशिष्ट ऐति-हासिक और भावनात्मक मूल्य-वश इस प्रस्तर को प्राप्त करने की हमारी दीर्घकालीन अभिलाषा रही है।"

सन् १९५० में क्रिसमस-दिवस की भोर में, प्रात: ६ बजे रात्रि के चौकीदार को प्रस्तर की इस चोरी का ज्ञान होते ही जोर-शोर से इसकी खोज प्रारम्भ हो गई। सरकार की ओर से एक बयान भी जारी कर दिया गया कि अज्ञात व्यक्तियों द्वारा उस पवित्र प्रस्तर को अपने स्थान से हटा देने के कारण सम्राट् अति दु:खित हैं। उस प्रस्तर को ले जाने वाले दल ने भी यह जानकारी दे दी कि उनका इरादा किसी भी प्रकार सम्राट् को अपमानित

अथवा परेशान करने का नहीं था, किन्तु वे चाहते थे कि वह प्रस्तर स्कॉट-लैण्ड में ही रहे और राज्याभिषेक-समारोहों के अवसरों पर मात्र अस्थायी रूप में ही वैस्ट मिन्स्टर एबे ले जाया जाए। इसी बीच स्कॉटलैंड यार्ड पुलिस के व्यक्तियों ने स्कॉटलैण्ड के आर्ब्रोथ एबे में इस प्रस्तर को खोज निकालने में सफलता प्राप्त कर ली। वहाँ से इसे वापस ले जाया गया और कुल १०६ दिनों की अनुपस्थिति के बाद, इसे वैस्ट मिन्स्टर एबे में अभिषेक-कुर्सी की पीठ (आसन) के नीचे, इसके मूल-स्थान में पुनः प्रतिष्ठित कर दिया गया।

सन् १९५२ ई० के फरवरी मास में यह मामला ब्रिटिश संसद में फिर उठाया गया था। स्कॉटलैण्ड के अनेक सदस्यों का आग्रह था कि यह पुनीत प्रस्तर स्कॉटलैण्ड में ही रखा जाना चाहिये क्योंकि स्कॉटलैण्डवासियों को इसके सम्बन्ध में अत्यधिक भावनात्मक तादात्म्य और श्रद्धा थी। किन्तु सरकार की ओर से प्रधानमन्त्री विन्स्टन चर्चिल ने घोषित कर दिया कि सरकार भी उस प्रस्तर को वैस्ट मिन्स्टर एबे में स्थापित रखने में अत्यधिक महत्त्व प्रदान करती थी क्योंकि यह भाग्य-विधाता प्रस्तर एबे में ६५० वर्ष तक रहा था और राष्ट्रमण्डल के सभी देशों को इसका ऐतिहासिक महत्त्व अक्षुण्ण था। इसी बीच 'स्कॉटलैण्डवासी प्रतिज्ञा-पत्र आन्दोलन' के प्रधान डॉक्टर जान मेक्कोर्मिक ने एक चेतावनी जारी कर दी कि जबतक वह पवित्र पत्थर स्कॉटलैण्ड को नहीं लौटाया जाता, इसे बलपूर्वक पुनः उठाये जाने की पूरी सम्भावना है।

९ मई, सन् १९५१ ई० को अनेक स्कॉटलैण्डवासी और अंग्रेज अभिजात कुलीन व्यक्तियों द्वारा समर्थित तारा के लार्ड ब्रैबेझोन ने हाउस आफ़ लार्ड्स में अनुरोध किया कि वह पुनीत प्रस्तर स्कॉटलैण्ड को लौटा दिया जाय। उसने स्कोन-प्रस्तर को "इतिहास, समारोह और भविष्य के साथ विश्व में अद्वितीय रूप से आवृत्त" बताया तथा इस बात पर बल दिया कि ५वीं शताब्दी से आर्गिल के सम्राट् और बाद में स्कॉटलैण्ड के सम्राट् इसी पर राज्याभिषिक्त हुए थे। सन् १२९६ ई० में एडवर्ड I इसे बलात् इंग्लैंड ले गया था।

इस पुनीत प्रस्तर के सम्बन्ध में तारा के लार्ड ब्रैबेझोन की मार्मिक अनुभूति होनी तो स्वाभाविक ही थी क्योंकि जैसा ऊपर कहा जा चुका है,

इस पवित्र प्रस्तर का सम्बन्ध तारा की पहाड़ी (गढ़) पर प्राचीन आयर-लैण्ड के सम्राटों के अभिषेक-समारोहों से रहा है।

पर्याप्त आश्चर्य की बात तो यह है कि यह 'तारा' शब्द भी महान् संस्कृत, राजकुलीन हिन्दू महत्त्व का है। भारत में अजमेर नाम के स्थान के निकट ही हमें 'तारागढ़' (हिल (फोर्ट) आफ़ तारा) नामक स्थान प्राप्त है। अजमेर (अजेय-मेरु) से शासन करने वाले हिन्दू सम्राटों का राज्या-भिषेक वास्तव में 'तारागढ़' में ही हुआ करता था, जो अजमेर के ऊँचे स्थान पर सुशोभित है। संस्कृत के तारा शब्द का अर्थ 'स्टार' (तारक) है और यह वास्तव में अंग्रेजी शब्द 'स्टार' का संस्कृतभाषी पूर्वज है।

अंग्रेजी-राष्ट्रध्वज 'यूनियन जैक' में अष्टकोणीय आड़ी रेखा भी प्राचीन हिन्दू क्षत्रिय परम्परा से व्युत्पन्न है जो इस बात की द्योतक है कि सम्राट् का प्रभुत्व सभी अष्ट दिशाओं में चलता है। भारत में, सम्राटों और देवी-देवताओं से सम्बन्धित सभी भवन अष्टकोणीय रहे हैं। इनकी बुर्जें और छतरियाँ भी अष्टकोणात्मक हैं। इन्हें आज भी देखा जा सकता है। हिन्दू परम्परा ने उन आठ दिशाओं के आठ अलौकिक रक्षक भी नाम-नियुक्त किए हुए हैं। हिन्दू लोग ही एकमात्र ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने उन आठ दिशाओं के पृथक्-पृथक् नाम भी रखे हुऐ हैं।

प्राचीन काल के दफनाए हुए मृत आँग्ल राजा, रानियाँ और दरबारियों के काँसे के पुतले जो वैस्ट मिन्स्टर एवे में रखे गये हैं वे भारतीय पद्धति से नमस्कार शैली में हाथ जोड़े हुए हैं। इससे यह बात स्पष्ट होनी चाहिये कि आँग्ल भूमि में प्राचीन समय में वैदिक संस्कृति ही विद्यमान थी।

यूरोप में ईसाई धार्मिक-कर्मकाण्डों में हिन्दू कृत्यों की पुष्टि होने का एक अन्य प्रमाण 'आमीन' शब्द में मिलता है जो सभी धार्मिक-कर्मों के बाद 'शान्ति' हेतु उच्चारण किया जाता है। यह एक अति प्राचीन हिन्दू पद्धति है क्योंकि सभी धार्मिक कर्म संस्कृत के 'शान्ति' शब्द को तीन बार बोलकर ही पूर्ण कर दिए माने जाते है। 'आमीन' संस्कृत के 'शान्ति' शब्द का इस्लामी और ईसाई-समानक है।

यह सबकुछ इस बात का प्रबल प्रमाण है कि आयरलैण्ड, स्कॉटलैण्ड, इंग्लैंड और तथ्यतः सम्पूर्ण यूरोप ही हिन्दू धर्म के अनुसार जीवन-यापन

करता था, और यदि आज ऐतिहासिक स्मृति से यह ओझल हो गया है तो यह विश्व-इतिहास में एक बहुत बड़े अभाव की ओर इंगित करता है चाहे आज हम लोग अपनी विद्वत्ता की कितनी ही शेखी क्यों न बघारें।

विश्व-इतिहास का वह भाग पुनः लिखने के लिए, कि जब प्राचीन यूरोप हिन्दू जीवन-पद्धति का अनुसरण करता था, एक महत्त्वपूर्ण सूत्र स्कोन-प्रस्तर अर्थात् भाग्यविधाता प्रारब्ध-प्रस्तर से प्राप्त होता है। सामान्यतः सभी ब्रिटिश लोग और विशेष रूप से स्कॉटलैण्डवासियों द्वारा उस प्रस्तर के प्रति इतनी श्रद्धा व्यक्त करने का कारण यह है कि शिवलिंग-रूप यह पत्थर उनका कुल-देवता रहा है जब भारतीय क्षत्रियों ने असंस्कृत यूरोप पर अपना प्रभुत्त्व फैलाया था, हिन्दू प्रशासन स्थापित किया था, और उसपर अपने सम्राटों को सिंहासनारूढ़ किया था, उनका राज्याभिषेक किया था। यह वही प्रस्तर-खण्ड है जो अब वैस्ट मिन्स्टर एबे में अभिषेक-कुर्सी के नीचे प्रस्थापित है। ऊपर दिये गए उपलब्ध खोज-चिह्न इस बात का संकेत स्पष्ट रूप में करते हैं कि स्कॉटलैण्ड में स्कोन नगर में और उससे भी पूर्व 'हिल आफ़ तारा' अर्थात् आयरलैण्ड में 'तारागढ़' में एक शिवलिंग प्रतिष्ठित किया हुआ था। अतः, यह प्रत्यक्ष है कि प्राचीन इंग्लैंड, स्कॉटलैण्ड, आयरलैण्ड और यूरोप के सभी नगरों में अनेकानेक शिवमन्दिर थे, और लन्दन-स्थित वैस्ट मिन्स्टर एबे भी अपने अन्य उप-प्रयोजनों के अतिरिक्त एक शिवमन्दिर ही है।

ब्रिटिश अभिषेक कुर्सी के चारों पायों में सिंह विराजमान हैं। यह एक हिन्दू परम्परा है जो आधुनिक ब्रिटेन में अभी भी विद्यमान है। हिन्दू परम्परा में राजगद्दी को 'सिंहासन' अर्थात् सिंह का आसन कहते हैं। इतना ही नहीं, वे सिंह जो अभिषेक-कुर्सी के पायों में बैठे हैं, हिन्दू शैली के हैं।

: २४ :

अंग्रेजी संस्कृत भाषा की एक प्राकृत बोली है

यह तो विरला ही अवसर होता होगा जब यह अनुभव किया जाता हो कि अंग्रेजी भी संस्कृत भाषा की उसी प्रकार एक शाखा, प्राकृत बोली है जिस प्रकार अन्य अधिकांश भारतीय भाषाएँ हैं। इस तथ्य की पूरी अनभिज्ञता का दुष्परिणाम यह हुआ है कि अंग्रेज़ी शब्दकोशों के संकलनकर्ता स्वयं ही गलत हो गये हैं। वे लोग, जहाँ कहीं आवश्यक था, वहाँ अपने शब्दों का संस्कृत-मूल प्रदान कर सकने में विफल हो गये हैं, अथवा अशुद्ध शब्द-व्युत्पत्तिगत स्पष्टीकरण प्रस्तुत कर बैठे हैं।

'अपर' (upper) शब्द को लीजिये। इसकी वर्तनी से स्पष्ट हो जाना चाहिये कि इसका मूल उच्चारण 'ऊपर' (ooper) है, और यह इसी रूप में हिन्दी और संस्कृत में प्रयोग होता है। तथापि, कोई भी अंग्रेज़ी शब्द-कोश आपको यह जानकारी नहीं देगा कि 'अपर' एक संस्कृत शब्द है। इतना ही नहीं, यदि अंग्रेज़ी भाषी लोग इसके ध्वनिगत उच्चारण 'ऊपर' को भी बनाये रख पाते, तो उनको इसमें कठिनाई अनुभव नहीं हो पाती कि हिन्दी और संस्कृत-भाषी लोग उनको सरलतापूर्वक समझ पाते।

'माउस' (Mouse) यदि ध्वन्यात्मक रूप में उच्चारण किया जाये, तो 'मूस' (Moos) बोला जायेगा। फिर यह समझना कठिन नहीं होगा कि यह शब्द तो संस्कृत के 'मूषक' शब्द का खण्डित रूप है।

अंग्रेज़ी का 'स्वेट' संस्कृत का 'स्वेद' (Sweat—Sved) है। संस्कृत में 'नाम' अंग्रेज़ी 'नेम' (Name) है। अंग्रेज़ी में यह अन्य शब्दों के साथ भी प्रयुक्त होता है; यथा सियूडोनिम (छद्मनाम), एन्टोनिम (विलोम-नाम) (Pseudonym, Antonym) आदि। अतः अंग्रेज़ी शब्द 'Synonym' पूरी तरह संस्कृत है क्योंकि संस्कृत भाषा में 'समान नाम' कहने पर भी

वही अर्थ प्राप्त होगा। 'Centre' को ध्वन्यात्मक उच्चरित-रूप देने पर 'Cen-tra' बोला जायेगा। अंग्रेज़ी में 'C' अक्षर को प्रायः 'क' ('K') के रूप में उच्चारण करते हैं; यथा Cut, Cough, Cot, Caught आदि में। 'C' की 'K' ध्वनि का उपयोग करने पर हमें स्पष्ट ज्ञान हो जाता है कि Centra तथ्य रूप में Ken-tra है। इसका समानक संस्कृत-शब्द 'केन्द्र' है।

अपने मूल-स्रोत 'संस्कृत' भाषा से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेने के बाद, टेढ़े-मेढ़े रास्ते पर चलने के कारण, अंग्रेज़ी का उच्चारण भ्रमित हो गया। इसका 'C' अक्षर कभी 'K' (क) और कभी 'S' (स) बोला जाने लगा। इस प्रकार जबकि 'Centre' शब्द का सही उच्चारण 'केन्द्र' होना चाहिये था, 'कमेटी' का शुद्ध उच्चारण 'समिति' होना चाहिये था क्योंकि अंग्रेज़ी अक्षर 'C' को 'See' के रूप में (स) उच्चारण किया जाता है। Committee (कमेटी) का जब सही उच्चारण अर्थात् 'समिति' उच्चारण किया जाये, तब तुरन्त पहचाना जा सकता है कि यह तो एक संस्कृत शब्द है। यह इस तथ्य का द्योतक है कि 'Committee' जैसे शब्दों की मूल ध्वन्यात्मक संस्कृत वर्तनी बनाये रखते हुए भी अंग्रेज़ी भाषा किस प्रकार उच्चारण में पतनावस्था को प्राप्त हो गई है।

'Central' और 'Committee' शब्दों को साथ-साथ लेने पर हमें ज्ञात होता है कि उनका उच्चारण 'केन्त्रल समिति' होना चाहिये। अतः, हम जान जाते हैं कि अंग्रेज़ी में प्रयुक्त 'Central Committee' संस्कृत शब्द 'केन्त्रल समिति' अथवा सही रूप में कहा जाय तो 'केन्द्रीय समिति' का पर्यायवाची रूप ही है। अंग्रेज़ी प्रयोग भ्रमित और सम्मोहित हो गया है। इसका कारण यह है कि एक ही (सी) 'C' अक्षर पर दो ध्वनियाँ 'स' और 'क' आरूढ़ हो गई हैं।

अंग्रेज़ी सर्वनाम 'You, We और She' संस्कृत के सर्वनाम, 'यूयम्, वयम और सा' के विकृत रूप हैं। शराब का अर्थद्योतक संस्कृत का 'मदिरा' शब्द अभी भी अंग्रेज़ी और अन्य यूरोपीय भाषाओं में 'Madeira' (मदिरा) के रूप में ही प्रचलित है। गेय पदों के लिए प्रयुक्त तथापि 'साम' के रूप में

उच्चरित अंग्रेज़ी 'Psalm' शब्द भी संस्कृत है जैसा 'सामवेद' संस्कृत शब्द से हमें ज्ञात होता है।

अंग्रेज़ी 'Known' और 'Unknown' शब्दों को ध्वन्यात्मक रूप में उच्चारण किये जाने पर स्पष्ट हो जायेगा कि ये दोनों संस्कृत भाषा के 'ज्ञान' और 'अज्ञान' ही हैं।

'Truth' और 'Untruth' की संस्कृत-मूलक कहकर व्याख्या नहीं की जाती। अंग्रेज़ी शब्दकोश की घोर शब्द-व्युत्पत्ति सम्बन्धी त्रुटि का यह एक उदाहरण है। इन दोनों शब्दों में से 't' अक्षर निकाल दीजिये, तुरन्त 'Ruth' (ऋत) और 'Unruth' (अनृत) शब्द प्राप्त हो जाएँगे जो संस्कृत शब्द हैं। यह सिद्ध करता है कि अंग्रेज़ी का 't' अक्षर संस्कृत शब्दों में अन्तर्क्षेपक है।

अंग्रेज़ी के 'Hunt, Hunter और Hunting' भी संस्कृत-मूलक शब्द हैं जैसा (मारने वाले के द्योतक) हन्ता, हन्तारौ (दो मारने वाले) और हन्तार: (कई मारने वाले) शब्दों से स्वत: स्पष्ट है।

'Para-typhoid और Para-military, Para-Psychology' जैसे विपुल शब्दों में प्रयुक्त 'Para' अंग्रेजी उपसर्ग संस्कृत का 'पर' है जिसका अर्थ 'परदेश, पर-राष्ट्र' आदि शब्दों में अन्य प्रकार का, या बाहर का, अथवा विचित्र है।

Disparate, disentangle, disengage जैसे शब्दों में प्रयुक्त एक अन्य अंग्रेज़ी उपसर्ग 'Dis' संस्कृत का 'दुश्', 'दुष्', 'दुस्' उपसर्ग ही है जैसे 'दुश्चर', 'दुस्तर' में।

Perimetre अथवा Peripheral में सर्वदिक् का द्योतक 'Peri' 'परिभ्रम' और 'परिमात्रा' में प्रयुक्त संस्कृत का 'परि' शब्द ही है। अंग्रेज़ी का Perimetre शब्द वास्तव में संस्कृत का 'परिमात्रा' ही है। इसी प्रकार, 'Trigonometry' संस्कृत में 'त्रिगुणमात्रा' है। यह तथ्य इस बात का द्योतक है कि प्राचीन विश्व संस्कृत-मूल पाठों की सहायता से ही 'गणित' का अध्ययन करता था।

माप के लिए अंग्रेज़ी शब्द 'मीटर' (Metre) यदि ठीक ध्वन्यात्मक रूप में उच्चरित हो, तो संस्कृत शब्द 'मात्रा' के रूप में ही है। संस्कृत, हिन्दू

परम्परा में 'मात्रा' संगीत, औषधि और गणित आदि सभी में समान रूप से व्याप्त माप है। अंग्रेजी छन्द-विद्या में भी यह मीटर शब्द संस्कृत-छन्दों के समान ही प्रयुक्त होता है। इसी के साथ-साथ, काव्यगत पंक्ति के विभाजन भी 'फुट' कहलाते हैं जो संस्कृत छन्दशास्त्र की शब्दावली 'चरण' और पद का यथार्थ रूपान्तर है। स्वयं 'प्रोजोडी' शब्द भी संस्कृत शब्द 'प्रमाद' से है जो सभी काव्य का एक अनिवार्य गुण माना जाता है, अर्थात् इसकी भव्यता से श्रोता के मानस को चमत्कृत, प्रसन्न करने की योग्यता।

पेय वस्तु के रूप में 'पंच' नामक द्रव अंग्रेज़ी में होते हुए भी संस्कृत शब्द है जो पाँच वस्तुओं के समूह का द्योतक है, जैसे संस्कृत में अनेक शब्द हैं; यथा पंच-गव्य (गौ से उत्पन्न पाँच वस्तुएँ), पंच-अमृत (पाँच प्रकार का अमृत), पंच-रत्न (पाँच आभूषण) और (ग्राम) पंच (पाँच लोगों की परिषद्)।

'Soup' (सूप) एक संस्कृत शब्द है, जैसाकि सर मोनियर विलियम्स के शब्दकोश में स्पष्टीकरण दिया गया है। पुरी स्थित जगन्नाथ मन्दिर के रसोइयों को 'सूपकार' कहते हैं।

लैटिन 'Sandalum' और अंग्रेज़ी 'Sandal' संस्कृत के 'चन्दन' शब्द के अपभ्रंश रूप हैं। अंग्रेज़ी 'Sugar', प्राचीन फ्रांसीसी 'Zuchre', ग्रीक 'Sakkharon' संस्कृत शब्द 'शर्करा' से व्युत्पन्न हैं। देशी खाँड का अर्थ-द्योतक अंग्रेजी 'Jaggery' शब्द भी 'शर्करा' का अशुद्ध उच्चारण है।

अंग्रेज़ी 'Tutty', फ्रैंच 'Titie', अरबी 'Tutiya' संस्कृत के 'तुत्थ' शब्द से ही निकले हैं। अंग्रेज़ी 'Pepper', लैटिन 'Piper', ग्रीक 'Peperi' संस्कृत के 'पिप्पलि' शब्द से उत्पन्न हैं। अंग्रेज़ी 'औरेंज' (Orange), अरबी में 'नारंज' और संस्कृत में 'नारंग' है। फ्रैंच, स्पेनिश और फ़ारसी 'लीलक' संस्कृत का 'नीलक' है। अंग्रेजी 'Ginger' लैटिन में Gingiber है, जो संस्कृत में 'शृंगेवर' से व्युत्पन्न है। संस्कृत के 'खाण्ड' शब्द से ही अंग्रेज़ी 'Candy', फ्रैंच 'Candi' और अरबी में 'कन्द' है।

अंग्रेज़ी 'Beryk' ग्रीक में 'Berullos' है जो संस्कृत के 'वैदूर्य' से व्युत्पन्न हैं। नीलवर्ण का द्योतक अंग्रेज़ी और स्पेनिश 'Anil' अरेबिक भाषा में 'Al-nil' है जो संस्कृत शब्द 'नीली' से बने हैं। अंग्रेज़ी 'Aniline'

शब्द भी उसी धातु से व्युत्पन्न हुआ है। इसी से मिस्र देश मे 'नील' नदी का प्राचीन हिन्दू 'नील-कृष्णा' नाम स्पष्ट हो जाता है। अपनी संस्कृत, हिन्दू पितृ-परम्परा से शताब्दियों तक पृथक् रहने के कारण मिस्र देशवासी यह भूल गये कि संस्कृत में 'नील' का अर्थ नीलावर्ण था, और इसीलिए उन्होंने 'ब्ल्यू' (नीला) विशेषण अपनी नदी के नाम के आगे जोड़कर 'ब्ल्यू नाइल' (नीली नील) नदी नाम रख दिया जो भाषा-शास्त्र की दृष्टि से घोर बेहूदगी है।

अंग्रेज़ी 'Aggressor' एक संस्कृत शब्द है क्योंकि 'अग्र' (Agra) का अर्थ 'आगे' और 'सर' (Sar) 'चलना' है। अतः जो व्यक्ति, देश अन्य व्यक्ति, देश की सीमा में चलता है, आगे बढ़ता है वह 'Aggressor' है।

संस्कृत शब्द 'नासिका' अपभ्रंश-रूप होकर अंग्रेज़ी में 'Nose' हो गयी है, और उसमे 'Nasal' जैसे शब्द बन गये हैं।

अंग्रेज़ी 'Terrestrial' संस्कृत 'धरातल' शब्द से व्युत्पन्न है। यह इस तथ्य का द्योतक है कि 'भूमि' का अर्थद्योतक संस्कृत शब्द 'धरा' लैटिन भाषा में "Terra' हो जाता है। इसी प्रकार 'बीच' का सूचक संस्कृत का 'मध्य' शब्द लैटिन और इंगलिश में 'मेडि' (Medi) हो जाता है, जिसके साथ 'Middle' शब्द बना है। अतः 'Medi-terranean Ocean' शब्द-समूह का अर्थ वह सागर है जो बड़े भू-धरातलों के मध्य स्थित है। इसीसे Mediator, Mediation, Middle, Meddle जैसे शब्दों की संस्कत व्युत्पत्ति स्पष्ट हो जानी चाहिये।

Tri-gono-metry तीन-आयाम-परिमाप की द्योतक 'त्रि-गुण-माला' संस्कृत शब्दावली है। यह और संस्कृत के 'दन्त-शास्त्र' से Dentistry जैसे शब्द इस तथ्य की ओर इंगित करते हैं कि अविस्मरणीय विगत-काल में विश्व के लोगों ने संस्कृत-अध्यापकों के चरणों में बैठकर, संस्कृत पाठ्य-पुस्तकों के माध्यम से ही (विश्व के) सभी विज्ञानों और कलाओं का अध्ययन किया था। इसका एक अन्य दृष्टान्त Gerantology में उपलब्ध है—यह संस्कृत शब्द 'जरा' से व्युत्पन्न है जो वृद्धावस्था का द्योतक है, 'anto' जीवन की समाप्ति सूचक 'अन्त' शब्द है—अर्थात् मृत्यु।

अंग्रेज़ी 'Heart' शब्द संस्कृत विशेषण 'हार्दिक' (अर्थात् Heart-

felt) से व्युत्पन्न है। इसी प्रकार, संस्कृत का 'हिक्क' अंग्रेजी 'हिक्कप्स' है।–'Osteo-malacia' संस्कृत शब्दों 'अस्थि' (हड्डियों) और 'बुरी' अर्थात् रोगी हो जाने के द्योतक 'मल' का समूह है। 'Osteoporosis' शब्द भी हड्डियों के अर्थद्योतक 'अस्थि' से ही व्युत्पन्न है। यह तथ्य इस बात का द्योतक है कि प्राचीन विश्व में चिकित्सा की भारतीय प्रणाली 'आयुर्वेद' व्यवहार में आती थी और, इसीलिए यद्यपि आज अंग्रेज़ी चिकित्सा-पद्धति 'ऐलोपैथी' प्रचलित है, तथापि इसमें अभी भी आयुर्वेदिक शब्दावली प्रयुक्त होती है।

'धूलि—मलिन—विकृत' का अर्थद्योतक संस्कृत शब्द 'मल' अंग्रेज़ी भाषा में व्यापक स्तर पर प्रयोग में आता है; यथा Mal-administration, Mal-adroit, mal-practice, malign, malevolence आदि में।

'Suo-moto' शब्द वास्तव में लैटिन है, फिर अंग्रेज़ी में विधि-भाषा में व्यापक रूप में व्यवहार में आता है। यह संस्कृत शब्द 'स्व मत' का अपरिष्कृत उच्चारण है।

किसी शब्द का नकारात्मक शब्द-रूप प्रस्तुत करने के लिए संस्कृत उपसर्ग 'अ' और 'अन' का भी बहुत प्रयोग किया जाता है; यथा अंग्रेज़ी 'A-moral' और 'Un-known' में। संस्कृत में इनके समानक शब्द 'अमल' (अर्थात् शुद्ध) और 'अनभिज्ञ' हैं। 'टू' के रूप में उच्चरित अंग्रेज़ी 'Two' शब्द मूल संस्कृत में 'द्वौ' था। इसकी वर्तनी इस बात की द्योतक है कि इसका उच्चारण 'Twou' अर्थात् 'द्वौ' किया जाना था। यह अंग्रेजी के 'Two' शब्द का संस्कृत-मूल 'द्वौ' है। इसी प्रकार अंग्रेज़ी 'Three' संस्कृत का 'त्रि' है जैसा 'Triology, triple, triplicate' आदि में। अंग्रेज़ी का Trident शब्द पूर्णतः संस्कृत है चूँकि 'त्रि' का अर्थ Three और Dent का अर्थ दाँत अथवा नोकें हैं। इसी प्रकार 'Making a dent' में Dent शब्द संस्कृत 'दन्त' से है जैसा कि जब कोई रोटी का टुकड़ा दाँत से काटता है, तो उसकी एक छाप रह जाती है।

अंग्रेज़ी Tree संस्कृत का 'तरु' है। 'Bility' शब्दांश के साथ समाप्त होने वाले सभी शब्द 'Advisibility, Gullibility, Perceivability, Palatability' आदि संस्कृत अन्त्य शब्दांश 'बल-इति' प्रयोग करते हैं

जिसका अर्थ 'वैसा करने की क्षमता' है; यथा जिसमें स्वादिष्ट बना सकने की क्षमता है, वह Palatability है। तब यह बात भली प्रकार से समझ में आ सकेगी कि अंग्रेज़ी शब्द 'Navigability' विशुद्ध संस्कृत का 'नावि गमन बल इति' समास शब्द है क्योंकि संस्कृत में 'नावि' का अर्थ नौका है, 'गमन' (ग) गति की द्योतक है, 'बल' का अर्थ वह है जिसकी क्षमता हो, और 'इति' का अर्थ ऐसा है। यह प्रदर्शित करता है कि अंग्रेज़ी शब्द Navigability पूरी तरह संस्कृत-शब्द है, फिर भी कोई अंग्रेज़ी शब्दकोश उसकी व्याख्या इस प्रकार नहीं करता है। यही बात संस्कृत-आधारित Stability (स्थ+बल+इति) शब्द की है जो संस्कृत में 'स्थ+बल+इति' है जिसका अर्थ है कि किसी भी स्थिति में (बने) खड़े रहने की क्षमता है। इसीसे सहज निष्कर्ष यह निकलता है कि संस्कृत 'स्थ' धातु अंग्रेजी में 'स्त' (st) के रूप में व्यापक स्तर पर प्रयोग की जाती है; यथा 'stand, stationary, station, stationing' आदि में। इनसे मिलते-जुलते संस्कृत शब्द हैं 'स्थान, स्थानक, स्थित'।

'दबाव' या 'बोझ' की द्योतक संस्कृत धातु 'भार' से अंग्रेजी के 'Bary-sphere, Barometre' शब्द बने हैं।

'बराबरी' या 'समानता' के संस्कृत शब्द 'सम' से हमें अंग्रेजी के 'semi-circle, Simisphere (अर्थात् hemispere), Semblance, sample, similarity, similar' आदि शब्द प्राप्त होते हैं।

अंग्रेजी भाषा के 'Maternity, Paterniti' संस्कृत के 'मातृ-नीति, पितृ-नीति' शब्द हैं। लैटिन में Mater-Dei संस्कृत में मातृ देवी है। 'Mother, Maternal, Matrimony' आदि सभी शब्द संस्कृत के 'माता' 'मातर' शब्दों से व्युत्पन्न हैं। अंग्रेजी शब्द 'Son' 'Sonny' संस्कृत के 'सुनुः' शब्द से व्युत्पन्न हैं।

मौत के अर्थद्योतक संस्कृत के 'मृत्यु' शब्द से अंग्रेजी के 'Mortal, mortuary, morgue, Post-mortem, immortal' आदि शब्द बने हैं।

पैर के अर्थद्योतक संस्कृत के पाद शब्द से ही अंग्रेजी के 'Biped' (द्विपाद), Tripod (त्रिपाद), Chiropody, Centepede (शतपाद), pedeotrian (पादचर), pedestal (पादस्थल) आदि शब्द मिलते हैं।

'Suicide, patricide, matricide' अंग्रेज़ी शब्द संस्कृत के 'स्वछिद,. पितृछिद, मातृछिद' शब्द हैं। इसी बात से अंग्रेजी के Germicide, Insecticide, pesticide जैसे शब्दों का स्पष्टीकरण हो जाता है क्योंकि संस्कृत में 'छिद-छिन्न' का अंग्रेजी अर्थ 'Cutting, killing, Ending, Exterminating' होता है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पश्चिमी भाषाएँ अभी भी संस्कृत की धातुओं से किस प्रकार अपने शब्द-निर्माण करती रहती हैं।

'Quo vadis...quo warranto' जैसे शब्द-समूह में प्रयुक्त 'quo' लैटिन शब्द 'क्व गच्छसि' (तुम कहाँ जाते हो ?) जैसे संस्कृत वाक्य में प्रयुक्त 'क्व' शब्द से उत्पन्न है।

अंग्रेजी भाषा का 'Myth' संस्कृत का 'मिथ्या' (अर्थात् झूठा) है। अंग्रेजी 'Peter' संस्कृत में 'पितर' शब्द से व्युत्पन्न है। इसी प्रकार 'David' संस्कृत 'देवि+द' शब्द से है, और संस्कृत के 'ब्रह्म' शब्द का सदोषोच्चारण ही अब्रहम (Abraham) है। अंग्रेजी कुलनाम 'Brahms' भारत में 'ब्रह्म' कुल शब्द के समान ही परिवार को एक शृंखला में सुबद्ध रखने की प्राचीन संस्कृत परम्परा की ओर इंगित करता है।

संस्कृत में 'मनोरम' के समान ही अंग्रेजी Panorama, cinerama हैं। संस्कृत का अन्त्य 'रम' उसका द्योतक है जो मन को सुखद अथवा आकर्षक लगता है, उसमें प्रविष्ट हो जाता है।

'Mar somebody's Chances' जैसे शब्दों में 'मार' शब्द संस्कृत का है जो 'मारने, चोट पहुँचाने अथवा हानि पहुँचाने' का अर्थद्योतक है। Band, Bondage, Bandage आदि संस्कृत के 'बंध, बन्धन' शब्दों से हैं।

Accept संस्कृत का अक्षिप्त (नहीं फैंका गया) है। Succinct संक्षिप्त है। अंग्रेजी 'Cough' संस्कृत का 'कफ' है। यद्यपि संस्कृत का 'कफ' बलगम का द्योतक है और अंग्रेजी 'Cough' इससे तनिक भिन्न है, तथापि यह देख सकना कठिन नहीं है कि 'Cough' बलगम (कफ) से ही उत्पन्न होता है। एक ही शब्द के अंग्रेजी और संस्कृत स्वर-समरूप में थोड़ा-सा अन्तर इस कारण है कि अंग्रेजी को अपने मूल संस्कृत स्रोत से पृथक् हुए कई शताब्दियाँ व्यतीत हो चुकी हैं।

संस्कृत का 'अन्तर' शब्द अंग्रेजी में 'इंटर' के रूप में उच्चारण किया

जाता है; यथा 'International, inter-versity, interpret, interpolate, intermediate, intermittant, inter-dependent' आदि में।

पथ (Path) का अंग्रेजी और संस्कृत, दोनों में ही, समान अर्थ है, यद्यपि उच्चारण में अति-सूक्ष्म अन्तर हो गया है। तुलनात्मक और उत्तम श्रेणी के लिए अंग्रेजी भाषा में भी संस्कृत के अन्त्य शब्द ज्यों-के-त्यों प्रयुक्त होते हैं। संस्कृत में इसे 'तर-तम भाव' कहते हैं। अंग्रेजी 'Greater, Bigger और Lesser' के लिए संस्कृत में क्रमशः 'अधिकतर, महत्तर, लघुतर' का प्रयोग होता है। अंग्रेजी की उत्तम श्रेणी अर्थात् Superlative के 'optimum, Maximum' जैसे शब्दों के लिए संस्कृत में 'अधिकतम, महत्तम, लघुत्तम' शब्द-रूप हैं। अंग्रेजी शब्द 'Fraternity' संस्कृत का 'भ्रातृ नीति' शब्द है।

'रात' के लिए संस्कृत 'नक्तम' और 'दिन' के लिए संस्कृत 'दिवस' से अंग्रेजी 'Nocturnal' and 'Diurnal' शब्द बने हैं। अंग्रेजी शब्द Regime, Reign, Sovereign, suzerein आदि संस्कृत के राज्यम्, राजन्, स्वराजन् हैं।

अंग्रेजी का 'Go' शब्द संस्कृत के 'गम—गच्छ' से निकला है। अंग्रेजी का 'Cow' शब्द संस्कृत के 'गौ' का ही उच्चारण है। गिरजाघरों में 'Vestry' वह कमरा होता है जहाँ वस्त्र रखे जाते हैं। संस्कृत में भी इस प्रकार का कक्ष 'वस्त्रि' ही कहलाता है। इसी प्रकार 'Vesture' शब्द 'वस्त्र' है। इसी प्रकार 'Saint' (संस्कृत-'संत'), Preacher (संस्कृत का 'प्रचारक') और 'Adore' (संस्कृत-'आदर'), 'Door' -(संस्कृत का 'द्वार'), 'Man' ('मानव' के लिए), Pater, mater, daughter (पिता, माता, दुहिता), Son-Sonny (संस्कृत 'सुनुः' से), Deity ('देवता' से), 'Theos' (संस्कृत 'देवस्' से) सभी संस्कृत शब्द हैं। 'Pro-offer', 'Pro-create' जैसे शब्दों में प्रयुक्त 'Pro' उपसर्ग 'प्रवक्ता, प्रभात, प्रभाकर' संस्कृत शब्दों में प्रयुक्त 'प्र' संस्कृत का वही उपसर्ग है।

'Proto-type' जैसे अंग्रेजी शब्द में 'Proto' जैसा उपसर्ग संस्कृत का 'प्रति' उपसर्ग है; जैसे 'प्रति-शिवाजी' में। अंग्रेजी का सम्मान-सूचक सम्बोधन 'Sir' संस्कृत के 'श्री' का अपभ्रंश उच्चारण है।

चूँकि अंग्रेजी शब्दकोशों में इस प्रकार के सभी स्पष्टीकरणों का नितान्त अभाव है, इसलिए प्रत्यक्ष है कि अंग्रेजी भाषा-विज्ञानी और शब्दव्युत्पत्ति-शास्त्री लोग इस तथ्य से अधिकांशतः अनभिज्ञ हैं कि संस्कृत ही अंग्रेजी की आकर-भाषा है चाहे प्रत्यक्ष रूप में हो अथवा लैटिन और ग्रीक भाषा के माध्यम से अपत्यक्ष रूप में हो। यह तथ्य ऊपर दिए गए दृष्टान्तों से चरितार्थ हो ही चुका है। इस अनभिज्ञता, अज्ञान के फलस्वरूप ही अंग्रेजी शब्दों के संकलनकर्ता—कोशकार अपने शब्दों के मूल-स्पष्ट करते समय भयंकर गल्तियाँ कर गए हैं। इस तथ्य के दृष्टान्त-स्वरूप हम सामान्य अंग्रेजी शब्द-कोश के साथ दिए गए 'Widow' और 'Widower' शब्दों की व्याख्या लें। 'Widow' शब्द का स्पष्टीकरण करते हुए ठीक ही लिखा गया है कि 'Widow is a woman who has lost her husband' अर्थात् विधवा वह महिला है जो अपना पति गँवा चुकी है। जिसके पति की मृत्यु हो चुकी है। अगले 'Widower' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा गया है कि यह 'Widow' शब्द से व्युत्पन्न है, और इसमें 'Er' प्रत्यय जुड़ा हुआ है। यह कहना शब्द-व्युत्पत्तिशास्त्र की दृष्टि से घोर गलती है। अंग्रेजी में 'Er' प्रत्यय का अर्थ 'करने वाला' होता है; यथा Labour+er, Sort+er, 'Lectur+er का अर्थ labour, sort अथवा Lecture करने वाला है। अतः 'Er' यदि 'Widow' शब्द का प्रत्यय रहा होता, तो 'Widower' शब्द का अर्थ 'One who makes a woman widow' अर्थात् किसी महिला को विधवा बनाने वाला व्यक्ति अर्थात् किसी विवाहित महिला के पति का हत्यारा, प्राणघाती होता जबकि 'Widower' शब्द का अर्थ वास्तव में वह व्यक्ति है जिसकी पत्नी मर चुकी है। अंग्रेजी कोशकारों ने यह भयंकर भूल मात्र इस कारण की है कि उनको यह ज्ञान नहीं था कि अंग्रेजी 'Widow' और 'Widower' शब्द संस्कृत के 'विधवा' और 'विधुर' शब्दों के अपभ्रंश रूप हैं।

अंग्रेजी भाषा के व्युत्पन्न शब्दों की सूक्ष्म जाँच-पड़ताल से कुछ अन्य गल्तियाँ भी सम्मुख प्रस्तुत हो जाएँगी। इस तथ्य से अंग्रेजी कोशकारों की समझ में यह बात आ जानी चाहिये कि वे 'Truth' और 'Untruth' जैसे शब्दों को 'ऋत' और 'अनृत' से व्युत्पन्न बताते हुए बहुत बड़ी संख्या में

अंग्रेजी शब्दों का संस्कृत-मूल प्रस्तुत करने लगें। हम एक पग और आगे जा सकते हैं तथा कह सकते हैं कि न केवल अंग्रेजी, अपितु सभी यूरोपीय भाषाओं के कोशकारों के लिए यह शोभनीय कार्य होगा कि वे अपने शब्द-कोशों को संस्कृत विद्वानों द्वारा पुनरीक्षित करा लें। कहने का अर्थ यह है कि यूरोपीय शब्दकोशों को संस्कृत की सहायता से पुनः लिखना श्रेयस्कर होगा। यदि उनको उग्रवाद और राजनीतिक कारणों से यह कार्य करने में कुछ संकोच अनुभव होता है, तो भारतीय लोगों को अपने अपंग और विकृत इतिहास के पुनर्लेखन-कार्य के अंश के रूप में यह कार्य अवश्य ही करना होगा।

प्राचीन इटली हिन्दू-देश और पोप हिन्दू-पुरोहित था

मानव-स्मृति अत्यन्त क्षणिक एवं अल्पकालिक होने के कारण ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है, प्राचीन इतिहास क्रमशः भूलता जाता है। ज्वालामुखी-विस्फोटों और भूचाल जैसे प्राकृतिक विध्वंसों द्वारा भी इतिहास को विनष्ट कर दिया जाता है। किन्तु इतिहास का सर्वाधिक विनाश करने वाला एक अन्य तीसरा कारण दमनात्मक और विनाशक मानव स्वभाव है।

इन सब कारणों के सामूहिक प्रभाव-वश एक प्राचीन हिन्दू विश्व-साम्राज्य के सभी चिह्न इतिहास की सभी प्रचलित पाठ्य-पुस्तकों से समाप्त हो चुके हैं। प्रथम दो प्राकृतिक विनाश-लीलाएँ सभी सभ्याताओं के लिए समान रूप से घातक होने के कारण हम यहाँ पर तीसरे कारण पर ही विशेष प्रकाश डालेंगे।

ईसा-पूर्व युग में वैदिक सभ्यता विश्व में फैली हुई थी क्योंकि सुदक्ष, उत्साही भारतीय जनता का नीतिकाव्य, ऋग्वेद में उल्लिखित 'कृण्वन्तो विश्व आर्यम्' (सम्पूर्ण विश्व को आर्य बनाओ) था। क्षत्रियों की संज्ञा से सम्बोधित होने वाले भारतीय योद्धाओं की सेनाओं का विश्व के सभी ओर-छोरों में प्रभुत्व हुआ तथा भारतीय शासकों एवं प्रशासकों ने समस्त मानव-समुदाय में ज्ञान का प्रचार-प्रसार किया।

उस हिन्दू सभ्यता को प्रथम बार ईसाई मत ने, और बाद में भयंकर यातनाओं और आतंक द्वारा इस्लाम प्रसारित करने वाले अरबों ने मशाल और तलवार के बल पर कमजोर किया था। इन सब बाधाओं के होते हुए

भी हिन्दू सभ्यता के विश्व-व्यापी प्रसार की कहानी का ताना-बाना पुनः संग्रह कर पाना सम्भव है।

ईसा-पूर्व युग में, इटली का एक बहुत बड़ा भाग 'एटरूरिया' के नाम से विख्यात था और सातवीं से दूसरी शताब्दी ईसा-पूर्व तक वहाँ जन्मी, सम्वर्धित हुई सन्तति का नाम 'एटरूस्कन' था। एटरूस्कनों के सम्बन्ध में कुछ जानकारी 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका' और स्पष्टतः अन्य विश्व-कोशों में भी है।

अधिकांश विद्वानों का मत है कि एटरूस्कन लोग पूर्व दिशा से आये थे और वे इटली में अकस्मात् ही इस प्रकार दृष्टिगोचर होने लगे थे मानो किसी अन्य स्थान से न आये हों।

यह धारणा निराधार है कि एटरूस्कन अकस्मात् ही किसी अन्य देश से अस्थायी रूप में आ गये थे और फिर ईसा से दो शताब्दी पूर्व के आस-पास अन्यत्र चले गये—इटली को सदैव के लिए छोड़ आये। एटरूस्कन सभ्यता स्वयं इटली से ही उद्भूत हुई थी और इसका पृथक् अस्तित्व तब समाप्त हो गया, जब इटली की जनता ने (जो उस समय एटरूस्कनों के नाम से जानी जाती थी) विवशतावश ईसाई धर्म अंगीकार कर लिया।

इस प्रकार, ईसाइयत ने पूर्वकालिक एटरूस्कन जीवन-पद्धति के सभी लक्षणों को ध्वस्त कर दिया। इसलिए, इसमें कोई व्यवधान असातत्य उत्पन्न नहीं हुआ है। आज के इटलीवासी एटरूस्कन नाम के पूर्वकालिक व्यक्तियों के वंशज हैं। इसी क्रम में एटरूस्कन लोग भी उन प्राचीन इटलीवासियों के ही वंशज हैं जिनकी जीवन-पद्धति को विश्व अभी तक पहचान नहीं पाया है, उसका स्रोत निश्चित नहीं कर पाया है। मैंने कुछ साक्ष्य-संकलन किया है जो सिद्ध करता है कि ईसा-पूर्व युगीन इतालवी जन-समुदाय, चाहे वह एटरूस्कन-युग का हो अथवा उससे पूर्व-युग का, हिन्दू था।

इटली में वैदिक जीवन पद्धति और संस्कृत का प्राचुर्य इसी तथ्य से लक्षित किया जा सकता है कि लगभग २,००० वर्ष तक ईसाई धर्म की उद्घोषणा करने के बाद भी इटलीवासी ईसाई-नामों के अन्तर्गत हिन्दू रीति-रिवाज़ निभा रहे हैं।

लगभग सभी तथाकथित ईसाई-कैथोलिक धार्मिक-कृत्य, कर्मकाण्ड

और त्यौहार हिन्दू-मूलक हैं। चिर-विस्मरणीय समय से ही समस्त इटली-वासियों द्वारा उनका अनुसरण किया जा रहा है, जब वे हिन्दू थे, आज भी उन्हीं मान्यताओं के अनुसार सारा जीवन व्यतीत किया जा रहा है चाहे इटलीवासी और सभी स्थानों के कैथोलिक व्यक्ति अब स्वयं को ईसाई ही घोषित कर रहे हैं।

'ऑल सोल्स डे' समारोह का उदाहरण लें। स्वयं यह शब्दावली संस्कृत, हिन्दू संस्कार, 'सर्व-पितृ-अमावस्या' का अंग्रेज़ी रूपान्तर है। संस्कृत के 'सर्व' का आंग्ल प्रति शब्द 'ऑल' है। 'पितृ' पूर्वजों की आत्माओं का द्योतक है, और 'डे' यानी 'अमावस्या' (नव-चन्द्र) दिवस है।

'क्रिस्तमास' शब्द कृष्ण-मास अर्थात् महाभारत-युग के समय हिन्दू अवतार कृष्ण-मास है। संस्कृत में 'मास' शब्द का अर्थ 'महीना' है क्योंकि महाभारत युद्ध में, जो दिसम्बर में हुआ था, श्रीकृष्ण ने अर्जुन को 'भगवद्-गीता' का उपदेश दिया था, इसीलिए सारा विश्व दिसम्बर मास को कृष्ण-मास के रूप में मनाता है।

ईसाई लोगों का यह विश्वास असत्य था कि 'क्रिसमस' (क्रिस्तमास) तो दिसम्बर मास का अन्तिम सप्ताह था। 'मास' प्रत्यय इस बात का द्योतक है कि 'क्रिस्तमास' शब्द मूलत: संस्कृत शब्द है जो पूरे मास को ही बताने वाला है।

इस बात को एक अन्य पर्याय, अर्थात् 'एक्स-मास' से तुलना करके प्रमाणित किया जा सकता है। ईसाई लोगों का यह विश्वास गलत है कि 'एक्स-मास' शब्दावली दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह की द्योतक है। क्योंकि 'एक्स' प्रतीक रोमन-संख्यावाची दस का सूचक है। अत: 'एक्स-मास' शब्दावली भी पूरे दिसम्बर महीने का द्योतक है। 'दिसम्बर' शब्द भी संस्कृत 'दश-अम्बर' (आकाश-मण्डल स्थित १२ राशि चन्द्र का)—दसवाँ भाग एवं मास है। इससे अर्थ लगाया जा सकता है कि प्राचीन हिन्दू परम्परा ने आकाश-मण्डल, राशिचक्र के १२ भागों को १२ मासों के नाम प्रदान किये थे।

यह तथ्य सितम्बर, अक्तूबर, नवम्बर और दिसम्बर मासों के द्योतक संस्कृत के चार शब्दों सप्त-अम्बर, अष्ट-अम्बर, नव-अम्बर और दश-अम्बर

से पूर्णतः पुष्ट होता है । भाव यह है कि अपने संस्कृत अर्थद्योतन के अनुसार ये मास वर्ष के सातवें, आठवें, नवें और दसवें मास हैं । ग्रेगरी पंचांग में यह असंगत अवस्थिति किस कारण उपस्थित हो गयी ? अर्थात् सातवें, आठवें, नवें और दसवें मास को नवें, दसवें और ग्यारहवें तथा बारहवें मास का स्थान देने का कारण क्या था ? इस स्थान-परिवर्तन का स्पष्टीकरण इस तथ्य से हो जाता है कि प्राचीन, स्मरणातीत युग से चली आयी हिन्दू पद्धति के अनुसार मार्च मास में नव-वर्ष का प्रारम्भ मानते आये ईसाइयों ने 'अकस्मात्' ही १ जनवरी को नव-वर्ष दिवस मनाना शुरू कर दिया । स्पष्ट है कि 'दिसम्बर', 'एक्स-मास' और 'क्रिसमस' (क्रिस्तमास) आदि शब्द दसवें मास के द्योतक हैं । 'क्रिस्तमास' शब्द का तो अन्य महत्त्व भी है—अर्थात् यह 'कृष्ण-मास' भी है; अर्थात् भगवान् कृष्ण की स्मृति का मास है जब उन्होंने अपना महोपदेश अर्जुन को दिया था । भारत में उस ज्ञानोपदेश की वर्षगाँठ 'गीता-जयन्ती' के रूप में मनाते हैं, और वह दिसम्बर मास में ही होती है । ईसा (क्रिस्त) का आरूढ़ावस्था में उपदेश उससे भिन्नावस्था नहीं है जो कृष्ण ने रथारूढ़ावस्था में अर्जुन को दिया था । अतः कृष्णोपदेश वास्तव में आरूढ़ावस्था में उपदेश ही है ।

'आमीन' कहने की ईसाई-पद्धति भी उस संस्कृत, हिन्दू पद्धति से व्युत्पन्न है जिसमें सभी शुभ-कार्यों की परि-समाप्ति "शान्तिः, शान्तिः" शब्दों से की जाती है ।

इसी प्रकार, 'क्रिस्तमास', अथवा 'माइकेल-मास' ईसाई शब्दावली हिन्दू शब्दावली 'अधिक-मास'—'श्रावण-मास' पद्धति की है ।

जिस क्रास-पदक को ईसाई धारण करते हैं, वह वास्तव में हिन्दू स्वस्तिक चिह्न है, यद्यपि अन्य मामलों के समान ही इसमें भी थोड़ी-बहुत हेराफेरी कर दी गयी है—उसके अंकुश काट दिये गये हैं और क्रास की आड़ी पट्टी लम्बी कर दी गयी है ।

क्रिस्तमास (क्रिसमस) का सम्बन्ध कृष्ण से समझ लेने के बाद अब यह हृदयंगम करना कठिन नहीं है कि 'माइकेलमास' मूलतः माइकेल के नाम पर 'मास' का द्योतक था । 'माइकेलमास' शब्द में 'मास' प्रत्यय स्पष्ट रूप में बताता है कि इस पूर्ण शब्द से पूरे मास की अभिव्यञ्जना होती थी,

न कि मात्र २९ सितम्बर की। 'माइकेल मास दिवस' ईसाई शब्द में स्वयं भाव विरोध है जिसमें एक मास को 'दिवस' बना दिया गया है।

१ नवम्बर को मनाया जाने वाला 'ऑल सेंट्स डे' हिन्दू दीपावली दिवस (पर्व) है जो नरक चतुर्दशी कहलाता है। इस दिन भगवान् विष्णु ने नरकासुर को मारकर पाताल भेज दिया था और पृथ्वी सभी सन्तों के लिए सुरक्षित हो गयी थी। इसीलिए हिन्दू प्रथा के अनुसार ईसाई परम्परा में भी इस दिवस को पुण्य पर्व, प्रीतिभोज आदि के रूप में मनाया जाता है।

फादर का द्योतक 'पोप' पद भी संरक्षक की अर्थद्योतक संस्कृत की 'पा' धातु से व्युत्पन्न है। अपने बच्चों को संरक्षण प्रदान करने वाले पिता के समान ही 'पोप' ईसाई धर्म संघ, समुदाय का आध्यात्मिक पिता (संरक्षक) है। 'पोप' उपाधि जिस संस्कृत धातु से व्युत्पन्न है उससे स्पष्ट है कि पोप एक हिन्दू पुरोहित था। पोप का स्थान रोम नगर में स्थित वाटिकान नामक पीठ, हिन्दू धर्म-पीठ था। 'वाटिका' शब्द कुंज, निकुंज, लतामण्डप आदि का द्योतक (शब्द) संस्कृत का है, यथा 'आश्रम वाटिका', 'उद्यान वाटिका' आदि में। हिन्दू सन्त-महात्माओं और पुरोहितों के एकान्त आश्रम स्थान वाटिकाएँ कहलाते थे क्योंकि वे लोग सदैव शान्तिपूर्ण साधक थे, अतः वन्यस्थलों में रहते थे। 'न' अन्तिम अक्षर भी संस्कृत का है, यथा 'केशवन' या 'राघवन' या 'वाटिकान' या 'आश्रम' में।

इस बात का एक अन्य प्रमाण कि पोप एक हिन्दू पुरोहित था और उसकी वाटिकान धार्मिक हिन्दू पीठ थी, भगवान् शिव के प्रतीक उस शिव-लिंग में उपलब्ध होता है जो वाटिकान स्थित एटरूस्कन-संग्रहालय में सुरक्षित है। यह शिवलिंग उन वस्तुओं में से एक है जिसे हिन्दू पोप (पुरोहित) पूजता था। हमारे पास उस पवित्र हिन्दू शिवलिंग का चित्र है जो वाटिकान के एटरूस्कन-संग्रहालय में दर्शनार्थ रखा हुआ है। उसे देखकर मन में पूरा विश्वास जम जाता है कि यह तो परम्परागत हिन्दू शिवलिंग का प्रतीक है। 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका' से भी ज्ञात होता है कि एटरूस्कन लोग उत्कीर्ण कुर्सी पर आरूढ़ उल्का के प्रस्तर की पूजा किया करते थे। स्पष्टतः, शिवलिंग का ही यह सही प्रत्यक्ष विवरण है।

एन्साइक्लोपीडिया के आठवें खण्ड के पृष्ठ ७९० पर निम्नलिखित जानकारी है—

लिबी के अनुसार किसी भी अन्य "राष्ट्र की अपेक्षा एटरूस्कन लोग धार्मिक रीति-रिवाजों में अधिक लिप्त थे।...स्थानों, वृक्षों और पुस्तकों में सम्भवत: सभी की अपनी पृथक् आत्माएँ थीं, और उत्कृष्ट कुर्सियों पर स्थित अनेल पावन उल्का के या बालुकाइम प्रस्तर पाये गये हैं।"

उपर्युक्त अवतरण में चार ऐसी विशिष्टताएँ हैं जिनसे सिद्ध है कि एटरूस्कनों की आस्था हिन्दुत्व पर थी। वे हैं—मृतकों का अग्निदाह-संस्कार; उनकी धर्मपरायणता; स्थानों-वृक्षों-प्रस्तरों की पूजा करने का उनका आचरण और शिवलिंग का अर्चन-वन्दन। पुरातनपंथी हिन्दू लोगों के लिए दिन भर कर्मकाण्ड का विधान है। हिन्दू लोग शिव अथवा हनुमान के प्रतीक पत्थरों तथा तुलसी, पीपल वृक्षों व गंगा, गोदावरी, कावेरी, कृष्णा नदियों को पूजते हैं।

इसी खण्ड के पृष्ठ ७८४ पर टिप्पणी है कि एटरूस्कन लोगों द्वारा देवता-द्योतक 'ईश' शब्द एक वचन में और 'ईशर' शब्द देवताओं के अर्थ सूचक बहुवचन शब्द के रूप में प्रयुक्त होता था। ये संस्कृत के शब्द हैं।

एन्साइक्लोपीडिया में जिन अन्य शब्दों का उल्लेख किया गया है उनमें भेंट, बलिदान का अर्थसूचक 'अल्पन' संस्कृत का 'अर्पण' है; मात का अर्थ-बोधक 'अति' संस्कृत के 'माता' अथवा देवों और दैत्यों की जन्मदात्री 'अदिति' और 'दिति' नामक दो देवियों के सूचक शब्दों से व्युत्पन्न है। पत्नी के लिए 'पिया' संस्कृत का 'प्रिया' शब्द है।

पोप वर्ष भर जिन कैथोलिक रीति-रिवाजों को पूरा करता है वे प्राचीन हिन्दू धार्मिक पर्व ही हैं। सभी दिशाओं की शुद्धि-हेतु सभी दिशाओं में जल छिड़कने की प्रथा—जैसी सम्पूर्ण अंगीकृत प्रक्रिया प्राचीन हिन्दू पद्धति है।

इसी प्रकार का एक धार्मिक-कर्म पोप द्वारा शिशु के चरण-प्रक्षालन हैं। हर समय पैरों को मोजों और जूतों से ढके रखने की पश्चिमी परम्परा में ऐसी धार्मिक-प्रथा अविचारणीय थी, जबकि हिन्दू-प्रथाओं में अनेक धार्मिक अवसरों पर एक-दूसरे के पैर धोने का विधान है। गिरजाघरों में, पादरी के पवित्र परिधान जिस कमरे में रखे जाते हैं उसे वेश-भूषा के

द्योतक संस्कृत शब्द 'वस्त्र' के कारण 'वस्त्रि' कहते हैं। 'वस्त्रि' शब्द संस्कृत का है, जिसका अर्थ वस्त्रागार है।

पवित्र, गम्भीर, पावन गीतों, रागों अथवा पद्यों का अर्थद्योतक अंग्रेजी 'साम' (पी० एस० ए० एल० एम०) संस्कृत का 'साम' शब्द है; यथा सामवेद में।

सामवेद की स्मृति बाइबल में साम, सामोडि, सामिस्ट आदि शब्दों के रूप में सदा के लिए समा गयी है।

'ड्रइड्स' नाम से पुकारा जाने वाला यूरोपीय समुदाय प्राचीन हिन्दू द्रविड़ों की एक धार्मिक शाखा है। शब्दकोश उनको प्राचीन गौल, ब्रिटेन और आयरलैंड में एक अति प्राचीन धर्म-सम्प्रदाय के रूप में घोषित करता है। आयरिश और वैल्श वीर-गाथाओं तथा परवर्ती ईसाई-कथाओं में 'ड्रइड्स' लोग ऐंद्रजालिकों के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं, न कि हिन्दू पुरोहितों और दार्शनिकों के रूप में। यह इस बात का स्पष्ट संकेतक है कि यूरोप के 'ड्रइड्स' वैसे ही हैं जैसे भारत के द्रविड़। वे जातीय समूह नहीं हैं। वे तो पुरोहितों और दार्शनिकों के ऐसे समूह हैं जिनसे आशा की जाती थी कि वे मन्त्रों और पूजा-अर्चना के बल से चमत्कार कर सकते थे। प्रसंगवश, यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि आर्यों और द्रविड़ों को परस्पर प्रतिद्वंद्वियों के रूप में प्रस्तुत करना भी गलत है। वे तो प्राचीन हिन्दू समुदाय हैं जो हिन्दुओं की धार्मिक पूजन-पद्धति, ज्ञान-विज्ञान और वैदिक व्यवहार में परम दक्ष थे। वे तब यूरोप गये थे जब भारतीय क्षत्रियों का विश्व पर आधिपत्य था।

यहूदियों का जनक और पितरों में प्रथम अब्राहम, हिन्दू ब्रह्मा, सृष्टि-कर्ता के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। अब्राहम हिन्दू ब्रह्मा का अपभ्रंश उच्चारण-मात्र है। पिता का द्योतक स्वयं 'पैट्रिक आर्क' शब्द 'पितृ' से व्युत्पन्न है। इतालवी और लातीनी भाषाएँ संस्कृत से भरी पड़ी हैं क्योंकि प्राचीन इतालवी संस्कृत बोलते थे। उसके उदाहरण संस्कृत के श्रीमान्, श्रीमती से व्युत्पन्न सीनॉर, सिनोरीता हैं।

जैसा इसके नाम से ही प्रत्यक्ष है, वेटिकन इटली में सर्वोच्च परम्परागत हिन्दू पीठ है। यह भारत में जगद्गुरु शंकराचार्य की पदवी जैसी ही है।

पोप को हिन्दू पुरोहितों की वह शक्ति प्राप्त थी जिसकी भ्रू-भंगिमा कम्पित होते ही बड़े-बड़े सम्राट् और साम्राज्य धराशायी हो जाते थे। तथ्य तो यह है कि पोप यूरोप में हिन्दू शंकराचार्य ही था। 'पाप-हृ' (यानि पापहर्ता) संस्कृत शब्द ही 'पोप' बन गया है।

प्राचीन इतालवी न केवल वेदों का गायन और शिवलिंग की पूजा करते थे, अपितु अपने अलंकृत कलशों तथा अलंकृत फलकों पर रामायण के प्रसंगों को चित्रित किया करते थे। वे रामायण को गीत-रूप में गाते फिरते थे। मेरे पास उन एटरूस्कन चित्रों की प्रतिकृतियाँ हैं जिनमें रामायण-गाथा के प्रसंग चित्रित हैं। अगले पृष्ठों पर कुछ ऐसे चित्र दिये जा रहे हैं—जो वहाँ से प्राप्त हुए हैं। इनमें से एक चित्र में राम, सीता और लक्ष्मण एक-दूसरे के पीछे चलते हुए वन में से गुज़र रहे हैं जैसा रामायण में वर्णन किया गया है, अन्य चित्र में भरत अपने बड़े भाई श्रीराम से भेंट करने के लिए जा रहे हैं, विभीषण अपने भाई रावण को समझा रहे हैं कि वे विलाप करती हुई सीताजी को वापस लौटा दें, युवराज लव और कुश रामचन्द्र जी द्वारा अश्वमेध यज्ञ हेतु छोड़े गए अश्व को पकड़कर ले जा रहे हैं, और एक अन्य चित्र में वानर-प्रमुख सुग्रीव की पत्नी तारा पर अधिकार करने के लिए बाली और सुग्रीव परस्पर मुष्टिका युद्ध में संलग्न दिखाये गये हैं। यदि एटरूस्कन चित्रों की अति सावधानीपूर्वक छानबीन की जाये, तो आशा है कि रामायण के अन्य अनेक दृश्य भी चित्रित किये हुए प्राप्त हो जाएँ।

इसी कारण हमारा साग्रह कथन है कि यदि वेटिकन-परिसीमा में रीतिबद्ध रूप में पुरातत्त्वीय उत्खनन-कार्य किया जाये, तो निश्चित ही न केवल अनेक शिवलिंग ही, अपितु हिन्दू देवगणों में से अनेक अन्य देवमूर्तियाँ भी उपलब्ध होंगी। इस कार्य के लिए वेटिकन की भाँति अन्य प्राचीरों, भूमि के नीचे के सभी तहखानों और सभी प्राँगण को पूरी तरह खोदने की आवश्यकता होगी। यह बिल्कुल स्पष्ट बात है कि चूँकि ईसाइयत ने रोम और इटली के शेष भाग से प्राचीन हिन्दू-आस्था को निःशेष कर दिया था, अतः उन पुनीत हिन्दू वाटिका-परिसीमाओं में विद्यमान प्रचुर संख्यक देव-

प्रतिमाओं को तोड़ा और दूर फैंका गया, दीवारों में चुन दिया गया, भूमि में गाड़ दिया गया, अथवा किसी अन्य प्रकार से नष्ट कर दिया गया था।

अभी तक यही विश्वास किया जाता था कि रामायण का प्रभाव भारत से बाहर इण्डोनेशिया और इण्डोचीन प्रदेशों में ही पड़ा था, किन्तु एटरूस्कन सभ्यता की उपलब्धि इस बात की द्योतक है कि जब अति प्राचीन काल में भारतीय क्षत्रियों ने विश्व पर शासन किया था तब विश्व के उन भागों में भी रामायण का गायन हुआ था और उसके प्रसंगों को वहाँ चित्रित भी किया गया था।

आगे अन्वेषण से पूरी सम्भावना है कि पर्याप्त विलुप्त अथवा विस्मृत जानकारी प्रत्यक्ष हो जाये। इस सबसे स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन इटली-वासी हिन्दू थे, उनकी धार्मिक-वृत्ति हिन्दू थी, वे हिन्दू-देवगणों की पूजा करते थे और उनके प्रधान-पुरोहित पोप ही हिन्दू विधि-विधानों का परिपालन करते/कराते थे।
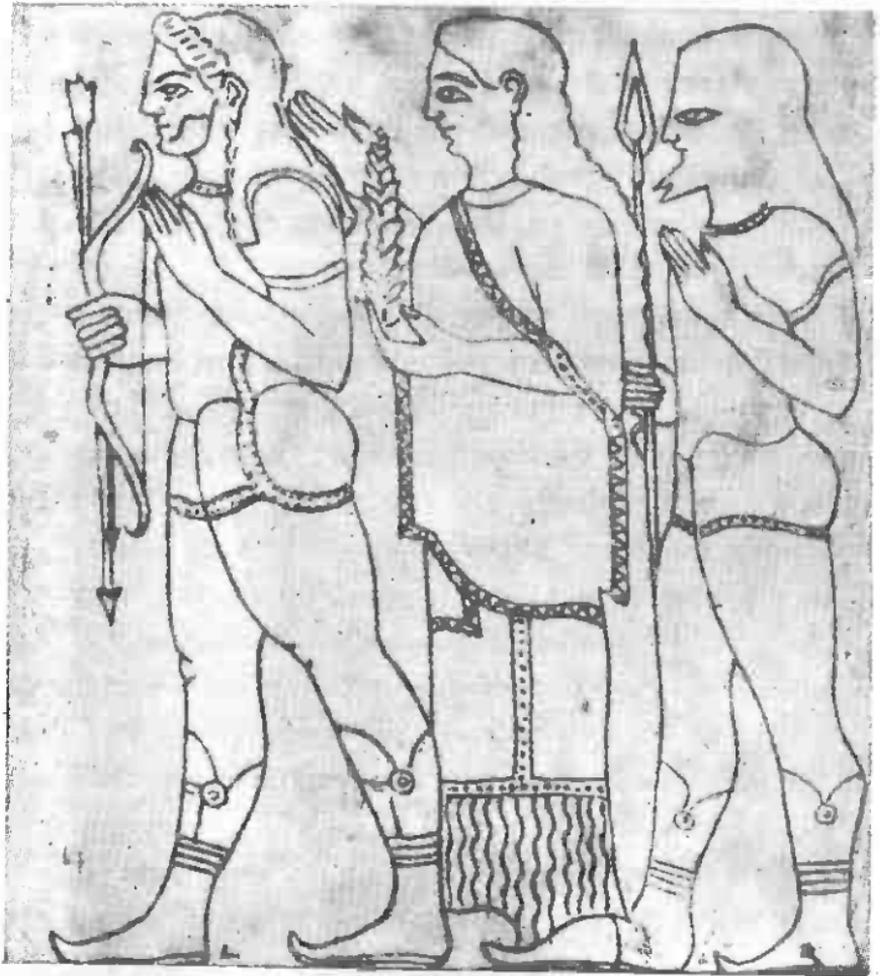
राम, सीता और लक्षमण। सीता के हाथ में पवित्र 'तुलसी' पौधे की एक छोटी टहनी स्पष्ट दिखायी दे रही है।
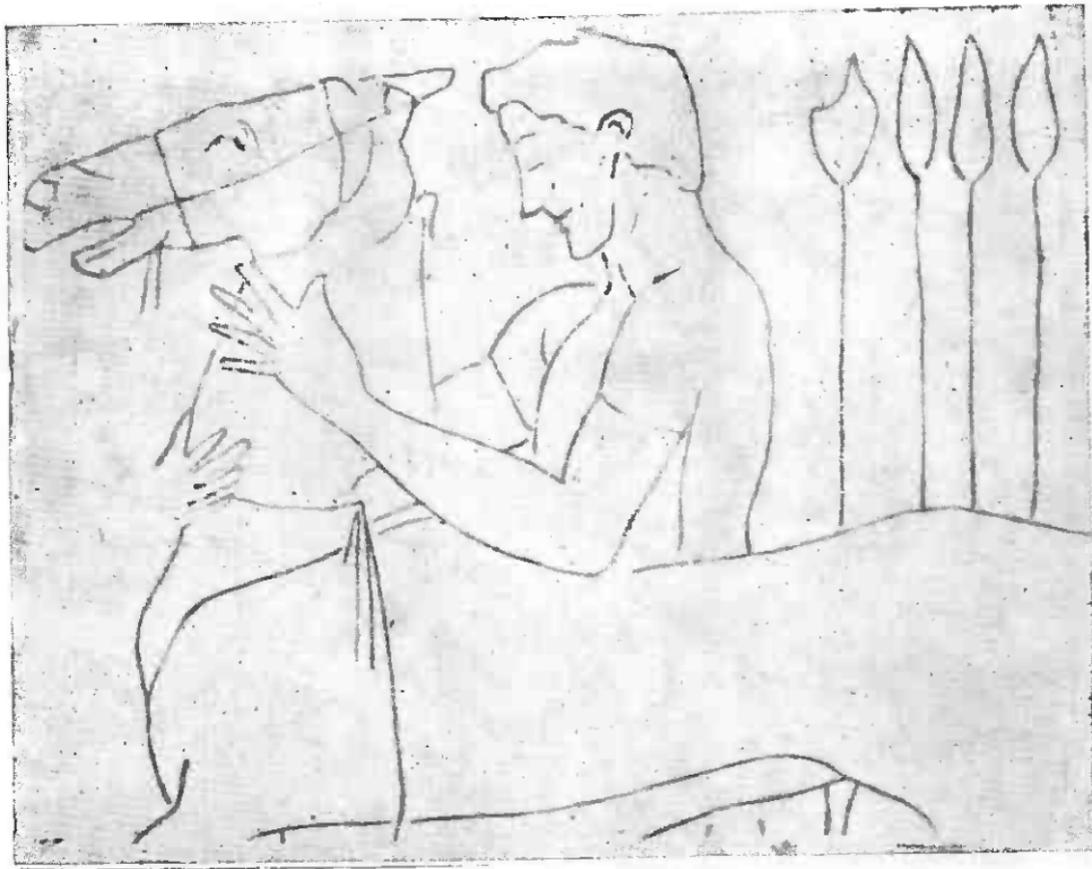
भरत राम से भेंट करने के लिए अश्वारूढ़ होकर वन में से जा रहे हैं।

सीता की मुक्ति के लिए विभीषण (भारतीय वेश-भूषा धारण किए हुए) रावण को समझा रहे हैं।
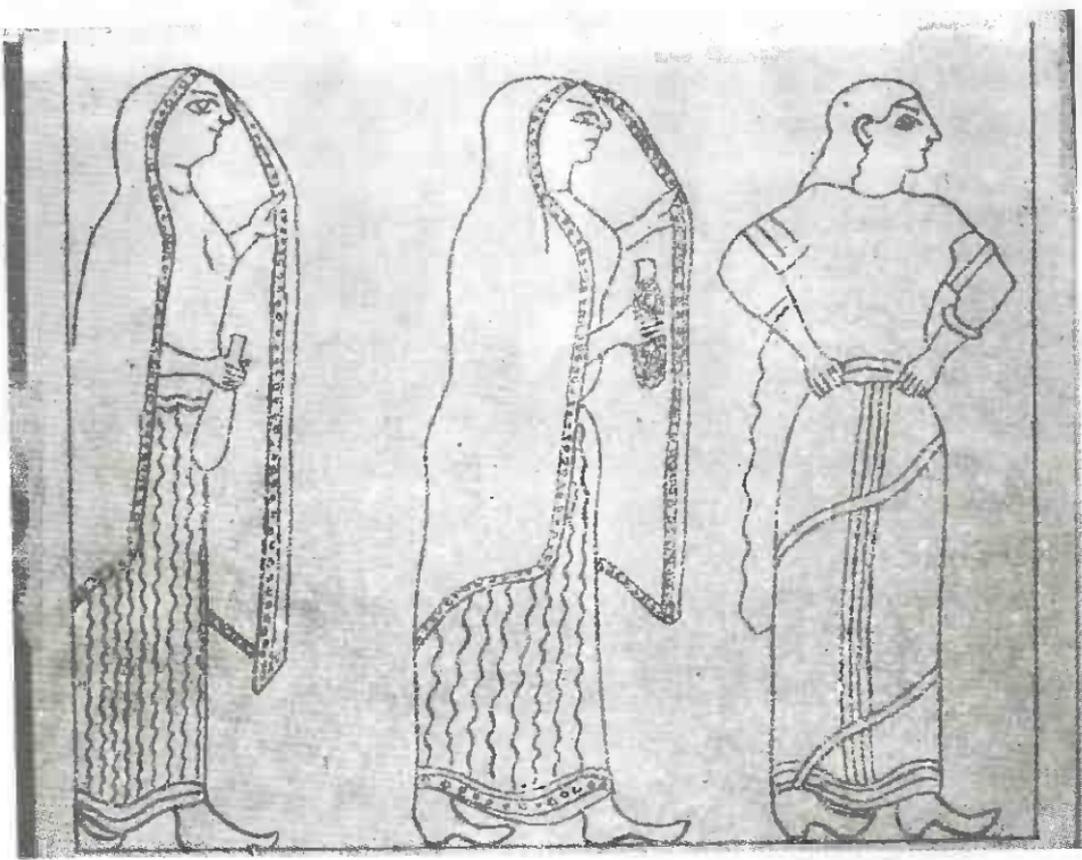
कौसल्या, राजा दशरथ की अन्य दो पत्नियों के साथ पवित्र क्षीरपान करने को उद्यत हैं।

लव और कुश अश्वमेध-यज्ञ के घोड़े को पकड़ कर दूर ले जा रहे हैं।

वानर प्रमुख बालि और सुग्रीव, तारा की प्राप्ति-हेतु झगड़ रहे हैं।

लक्ष्मण सुग्रीव को धमकाते हुए

अरेबिया, इराक, ईरान किसी समय हिन्दू-देश थे

१२००-वर्षीय विदेशी शासन के काल में भारतीय इतिहास न केवल बुरी तरह विकृत कर दिया गया है, अपितु इसे पंगु भी बनाया गया है। भारत की सांस्कृतिक, धार्मिक और सैनिक दिग्विजयों के अनेक महत्त्वपूर्ण अध्याय पूर्ण रूप में विलुप्त एवं विस्मृत हो चुके हैं।

(प्राचीन इतिहास-ग्रन्थों) भारतीय पुराणों में 'दिग्विजयों' के सन्दर्भों को पवित्र कल्पनाएँ कहकर उपेक्षित नहीं करना चाहिये, वे सब सत्य हैं क्योंकि अब कुछ साक्ष्य उपलब्ध हैं कि सम्पूर्ण पश्चिमी एशिया के साथ-साथ अरेबिया, इराक और ईरान भी किसी समय हिन्दू-धर्म के अनुयायी थे और वहाँ वेदों का गायन हुआ करता था।

प्राचीन अरबी ग्रन्थावली "सेअरूल-ओकुल के २५७वें पृष्ठ पर एक अन्य महत्त्वपूर्ण कविता है। इसका रचियता लबी बिन-ए अख्तब बिन-ए तुरफ़ा है। वह पैग़म्बर मोहम्मद से २३०० वर्ष पूर्व हुआ था। इतने समय पूर्व भी अर्थात् लगभग १८०० ई० पूर्व भी लबी ने वेदों की अनन्य, काव्य-मय प्रशंसा की है तथा प्रत्येक वेद का अलग-अलग नामोच्चार भी किया है।

वेदों की प्रशंसा में कही गई कविता उसकी अरबी में इस प्रकार है :

"अया मुबारेकल अरज युशैये नोहा मिनार हिन्दे।
व अरादकल्लाह मञ्योनज्ज़ेल ज़िकरतुन ॥१॥
वहलतजल्लीयतुन ऐनाने सहबी अरवे यतुन जिकरा।
वहाजेही योनज्जेलुर्रसूल मिनल हिन्तुन ॥२॥
यकूलूनल्लाहः या अहलल अरज़ आलमीन कुल्लहुम।
फ़त्तेबेऊ ज़िकरतुल वेद हुक्कुन मालम योनज्जेलतुन ॥३॥

वहोवा आलमुस्साम वल यजुरमिनल्लाहे तनजीलन।
फए नोमा या अरवीयो मुत्तबेअन योबसौरीयोन ज्ञातुन ॥४॥
वइसनैन हुमारिक अतर नासेहीन का-अ-खुवातुन।
व असनात अलाऊढ़न व होवा मश-ए-रतुन ॥५॥

उस पृष्ठ का सार नयी दिल्ली में रीडिंग रोड पर बने लक्ष्मीनारायण मन्दिर (जिसे बहुधा 'बिड़ला मन्दिर' कहते हैं) कि वाटिका में यज्ञशाला के लालपत्थर के खम्बे पर काली स्याही में दिया गया है, इच्छुक महानुभाव जाकर देख सकते हैं।

ऊपर की कविता का अर्थ निम्न प्रकार है—

(१) "हे भारत की पुण्य भूमि ! तू धन्य है क्योंकि ईश्वर ने अपने ज्ञान के लिए तुमको चुना है।

(२) वह ईश्वर का ज्ञान-प्रकाश, जो चार प्रकाश-स्तम्भों के सदृश सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है, यह भारतवर्ष में ऋषियों द्वारा चार रूप में प्रकट हुए।

(३) और परमात्मा समस्त संसार के मनुष्यों को आज्ञा देता है कि वेद, जो मेरे ज्ञान हैं, इनके अनुसार आचरण करो।

(४) वह ज्ञान के भण्डार साम और यजुर हैं जो ईश्वर ने प्रदान किये। इसलिये, हे मेरे भाइयो ! मानो क्योंकि ये हमें मोक्ष का मार्ग बताते हैं।

(५) और दो उनमें से रिक् अतर (ऋग्वेद और अथर्ववेद) हैं जो हमको भ्रातृत्व की शिक्षा देते हैं, और जो इनके शरण में आ गया, वह कभी अन्धकार को प्राप्त नहीं होता।

ऊपर दी गयी अरबी-कविता इस्लाम-पूर्व समय के अरेबिया में सर्वोत्तम पुरस्कार विजेता और मूल्यवान थी और काबा-देवालय के भीतर स्वर्ण-अक्षरों में उत्कीर्ण होकर टँगी थी। उस देवालय के चारों ओर वर्तमान विखण्डित स्मारक मन्दिर था जिसमें ३७० हिन्दू-देवगणों की मूर्तियाँ थीं। इस कविता में स्पष्ट रूप में दर्शाया गया है कि अरब लोगों के हृदय में भारत और वेद के प्रति और उसी के फलस्वरूप संस्कृत भाषा तथा भारतीय संस्कृति के प्रति अनन्य, अगाध श्रद्धा इस्लाम-पूर्व-काल में विद्यमान थी।

लबी भी स्पष्ट रूप से उल्लेख करता है कि मानव-सौहार्द्र एवं एकात्म भ्रातृत्व के भारतीय सिद्धान्तों में अरब लोगों को प्रेरणा भी ऋग्वेद और अथर्ववेद के अध्ययन से ही मिली थी। एक सम्माननीय प्राचीन अरब-कवि का यह कथन भी सिद्ध करता है कि भ्रातृत्व को सर्वप्रथम प्रचारित करने का इस्लामी उद्‌घोष सही नहीं है।

प्राचीन अरब-वासी लोग वैदिक परम्परा का अनुसरण करते थे—इस सम्बन्ध में अन्य साक्ष्य भी है जो सिद्ध करता है कि वे हिन्दू जीवन-पद्धति का अनुसरण करते थे।

सम्पूर्ण प्राचीन अरेबिया में हिन्दू-पूजा की विद्यामानता मख-मेदिनी के संस्कृत-नामों से और भी पुष्ट होती है। आज जिन्हें मक्का-मदीना कहा जाता हैं, वह स्थान-युग्म मख-मेदिनी है। मख का अर्थ यज्ञाग्नि है, और मेदिनी का अर्थ भूमि है। अतः मक्का-मदीना के नगर-युग्म 'यज्ञ की भूमि' अर्थात् 'अग्नि-पूजा' के स्थल हैं। और इसी विवरण के सत्य-अनुरूप हमें ऐसे वर्णन उपलब्ध होते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि पैग़म्बर मोहम्मद के युग में वैदिक पशु-बलि का प्रचलन था। उनके सम्बन्ध में सर्वप्रथम सन्दर्भ पैग़म्बर मोहम्मद के जीवन की झाँकी और स्मृतियों के सर्वप्राचीन संकलन में प्राप्त होता है। इस संकलन को इब्न इशाक़ ने तैयार किया था।

पैग़म्बर मोहम्मद कुरु परिवार से सम्बन्धित थे जो ३७० हिन्दू देव-प्रतिमाओं को संग्रह करने वाले काबा देवालय के वंशानुवंश पुरोहित थे। एन्साइक्लोपीडिया इस्लामिया में उल्लेख है कि इन प्रतिमाओं में लाट, मनाट, उज्ज़ा, शनि और चन्द्र की प्रतिमाएँ थीं। 'लाट' शब्द हिन्दू पवित्र नाम होना इसी तथ्य से परखा जा सकता है कि एक प्राचीन हिन्दू खगोल-शास्त्रीय मीमांसा के लेखक का नाम लाट-देव है। नवग्रह-पूजा में, जो भारत में आज भी प्रचलित है, शनि और चन्द्र सम्मिलित हैं। काबा में ३७० देव-प्रतिमाओं में शनि और चन्द्र के प्रति सन्दर्भ सिद्ध करता है कि नवग्रह-पूजा काबा में भी प्रचलित थी।

इस्लामिया और ब्रिटैनिका एन्साइक्लोपीडिया में 'काबा' शब्द के भूलोद्भव के सम्बन्ध में विचित्र अज्ञानता को स्वीकार किया गया है, यद्यपि जन-प्रचलित, अज्ञानी धारणा-वश 'काबा' को एक इस्लामी देवालय ही

समझा जाता है। यदि यह मौलिक रूप में इस्लामी देवालय रहा होता, तो इसकी व्युत्पत्ति अवश्य ही ज्ञात होती। किन्तु काबा एक संस्कृत शब्द से व्युत्पन्न है, और अरेबिया का सम्बन्ध संस्कृत-ज्ञान से शताब्दियों से टूटा हुआ होने के कारण उन लोगों को 'काबा' की जानकारी प्राप्त नहीं हो पाती जो इसे अन्यत्र खोजते हैं।

संस्कृत भाषा में 'गर्भ-गृह' का अर्थ सबसे भीतरी आराधना-स्थल है जहाँ देव-प्रतिमा रखी जाती है। संक्षिप्त और उच्चारण में तनिक परिवर्तित इस शब्द के दर्शन 'गाभा' के रूप में भारतीय प्राकृत भाषाओं में होते हैं। अरेबिया में, संक्षिप्त शब्द भी, इसी प्रकार 'काबा' हो गया।

अल्लाह उन देव-प्रतिमाओं में से एक था जिनकी पूजा काबा मन्दिर में होती थी। संस्कृत भाषा में अल्लाह का अर्थ 'माता' या 'देवी' है। भारत में एक अल्लोपनिषद है और अल्लादिस्तोत्र (अर्थात् देवी की स्तुति) है।

और भी बहुत सारा साक्ष्य उपलब्ध है किन्तु, आइये, हम अब अपना ध्यान ईरान और इराक की ओर भी दें। ये दोनों ही शब्द 'जल' के द्योतक संस्कृत के 'इर' शब्द से व्युत्पन्न हैं। संस्कृत भाषा में 'ईरानम्' शब्द का अर्थ 'लवणयुक्त, निर्जन-शुष्क प्रदेश' है। अतः 'ईरान' उस क्षेत्र को दिया गया वह नाम है जिसे संस्कृत भाषी भारतीय क्षत्रियों ने तब दिया था जब वे उस भू-खण्ड-समूह पर शासन करते थे।

ईरान की भाँति ही 'इराक' पुकारा जाने वाला देश-नाम भी संस्कृत 'इर्' धातु से व्युत्पन्न है। 'अलबरूनी का भारत' पुस्तक के आमुख में ३१वें पृष्ठ पर डॉक्टर एडवर्ड डी० सशाऊ का कहना है कि बल्ख में वर्तमान गाँव नौ-बहार 'नव विहार' अर्थात् 'नवीन सांस्कृतिक केन्द्र अथवा आश्रम' से व्युत्पन्न संज्ञा है। इस केन्द्र का प्रधानाचार्य, जो स्पष्ट रूप में भारतीय था, परमक कहलाता था। वह मुस्लिम बन जाने के लिए बाध्य किया गया। वह परिवार स्वयं को परमक ही कहता रहा। समय व्यतीत होते-होते वह नाम बरमक के रूप में अशुद्ध उच्चारण होने लगा, और अभी पिछले १० वर्ष पूर्व ही, यह भारतीय परिवार बरमक ही था जो इराक पर शासन करता था।

बल्ख नाम से पुकारे जाने वाले क्षेत्र का नाम भी भारतीय महाकाव्यों में उल्लेखित 'वाह्लीक' से व्युत्पन्न है। संस्कृत का 'व' बहुधा 'ब' बन जाता

है; यथा वचन—बचन और वासुदेव—बासुदेव। अत: 'वाह्लीक' क्षेत्र बल्ख नाम से पुकारा जाने लगा। यही वह क्षेत्र है जहाँ 'नव विहार' स्थित है।

डॉ० सशाऊ हमें यह भी जानकारी देते हैं कि परमक मुस्लिम हो जाने के बहुत समय पश्चात् तक भारत से अपना सम्बन्ध बनाये रहे। बरमक शासक अपने लोगों को प्रशिक्षण के लिए भारत भेजते रहे। वहाँ के शासक ने पाठशाला, कार्यालय, चिकित्सालय, खेत तथा अन्य संस्थानों को चलाने के लिए सभी उच्च-अधिकारी भारत से मँगाये हुए थे।

इराक का एक भाग कुर्दिस्थान कुर्दों से बसा हुआ है। वे भी अपने अनेक हिन्दू रीति-रिवाज़ और नामों को धारण किये हुए हैं। उनकी भाषा में भी अनेक संस्कृत शब्द हैं। इराक की राजधानी बगदाद में अभी भी एक अति प्राचीन अग्नि मन्दिर है। वह भवन तो तुलनात्मक रूप में आधुनिक-काल का हो सकता है, किन्तु वह स्थल तो निश्चय ही इस्लाम-पूर्व स्मरणातीत युग का है। जिस प्रकार सोमनाथ मन्दिर बार-बार ध्वस्त हुआ और फिर-फिर बनाया गया; उसी प्रकार यह अग्नि मन्दिर है। अभी भी विद्यमान वह अकेला हमें उन अन्य सहस्रों मन्दिरों की याद दिलाता है जो नाम-शेष कर दिये गये, जिनका आज कोई निशान नहीं मिलता अथवा जो मस्जिदों में परिवर्तित कर दिये गये।

ईरान का शाही परिवार—पहलवी हिन्दू, क्षत्रिय, भारतीय परिवार है। पहलवी नाम सर्वप्रथम रामायण में वसिष्ठ जी की कामधेनु अपहरण किये जाने के यत्न वाले प्रसंग में आता है। कामधेनु द्वारा अपनी रक्षा के निमित्त उत्पन्न किये गये योद्धा-वर्गों में पहलवी एक है। विक्रमादित्य के समय में हमें फिर यह नाम मिलता है। पल्लव लोग पहलवियों की एक उप-शाखा हैं। यही नाम महाभारत में भी मिलता है। उनका राजचिह्न—सिंह और उदीयमान सूर्य—भी भारतीय है—यह चिह्न समरकन्द में तैमूरलंग के तथाकथित मकबरे में भी पाया जाता है और वहाँ इसके संस्कृत नाम सूर-सादूल अर्थात् सूर्य-शार्दूल से ही इसे सम्बोधित भी किया जाता है। आधुनिक इस्लामी परम्परा के लिए यह नाम इतना अधिक विदेशी है कि रूसी-मार्गदर्शक, जो सभी दर्शनार्थियों को यह बताते हैं कि यह चित्र-निरूपण 'सूर-सादूल' कहलाता है, इसके अर्थ के प्रति अज्ञान को

सिर झुकाकर स्वीकार कर लेते हैं। किन्तु किसी भी भारतीय के लिए यह अर्थ बिल्कुल स्पष्ट है।

ईरान के विरुद्ध इस्लामी आक्रमणों का ताँता प्रारम्भ होने के समय सामान्य जनता का एक बहुत बड़ा भाग भारत आ गया था। वे लोग पारसी कहलाते हैं। इतिहास में यह भी उल्लेख है कि ईरान का राजपरिवार भी ईरान को छोड़ देने और भारत में आकर शरण लेने का विचार कर रहा था। सभी देशों द्वारा भारत की ओर लालायित दृष्टि लगाये रखने का स्पष्ट अर्थ है कि वे सभी देश स्वयं को भारत के सांस्कृतिक और धार्मिक-सूत्र में आबद्ध अनुभव करते थे—जहाँ वेदों का गायन होता था, अग्नि और हिन्दू-देवगणों की पूजा होती थी, तथा हिन्दू कर्मकाण्ड का पालन होता था।

यह सम्पूर्ण साक्ष्य इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि भारतीय क्षत्रियों द्वारा दिग्विजयों—विश्व-विजयों के पुराणगत सन्दर्भ मात्र कोरी कल्पनायें ही नहीं, अपितु सत्य घटनाएँ, वास्तविकताएँ हैं। दुर्भाग्यवश, पश्चिमी एशिया में भारतीय विजयों के वे अध्याय विलुप्त हैं, और फलस्वरूप विस्मृत होते जा रहे हैं। प्रचलित ऐतिहासिक पाठ्य-ग्रन्थों में उनको उचित स्थान मिलना ही चाहिये।

एक अन्य अति महत्त्वपूर्ण सूत्र पश्चिमी एशिया के क्षेत्रों को दिये गये नामों में संस्कृत प्रत्यय 'स्थान' की बारम्बार आवर्ती से प्राप्त होता है। इस शृंखला में हमें अफ़गानिस्थान, बलूचिस्थान, पख्तूनिस्थान, क़ाफ़िरिस्थान, घरूचिस्थान, ज़बूलिस्थान, कुर्दिस्थान, तुरकिस्थान (आधुनिक तुर्की), अर्बस्थान (आधुनिक अरेबिया) तथा अन्य बहुत सारे 'स्थान' प्राप्त होते हैं। इसी के साथ-साथ हम पहले ही देख चुके हैं कि ईरान, बल्ख व इराक संस्कृत नाम हैं। इसी प्रकार 'ओक्सस' नदी व 'ओक्सानिया' की व्युत्पत्ति उस क्षेत्र के प्राचीन संस्कृत नाम 'अश्वक' से है।

उन क्षेत्रों पर भारतीय शासन के इस साक्ष्य की सामर्थ्य परखने के लिए हम एक समकालीन दृष्टान्त लें। हमें अपने ही युग में ग्रीनलैंड, आइसलैंड, इंग्लैंड, बसूतोलैंड, बुखानालैंड, सोमालीलैंड जैसे शब्द मिलते हैं जो उन विभिन्न स्थानों को दिये गये हैं। इन नामों को इतिहास में स्थायी

नाम इसलिए प्राप्त हुआ कि अंग्रेज़ी-भाषी लोगों का विश्व के एक बहुत बड़े भाग पर राज्य-शासन था। अब यदि मान लें कि आज से ५,००० वर्ष बाद अन्य सभी ऐतिहासिक सूत्र धूमिल अथवा विलुप्त हो जाएँ, तो भी 'लैंड' शब्द की बारम्बार आवर्ती और व्याप्ति, सत्य रूप में किसी भावी इतिहासकार को यह निष्कर्ष निकालने का सुअवसर प्रदान करेगी कि अंग्रेज जाति किसी समय विश्व के अधिकांश भू-भाग पर राज्य-शासन करती थी। इसी प्रकार, 'स्थान' शब्द की बारम्बार आवर्ती और परिव्याप्ति से भी यही निष्कर्ष निकाला जाना चाहिये कि उन क्षेत्रों पर किसी समय संस्कृत-भाषी लोगों का राज्य-शासन था।

: २७ :

हिन्दुओं के ललाट-चिह्न

पुरातन-पन्थी हिन्दुओं की अति प्राचीन परम्परा है कि वे अपने मस्तक पर रंग अथवा भभूत के कुछ विशिष्ट चिह्न अंकित करते हैं। उनकी यह अद्भुत पद्धति अपरिचित व्यक्तियों को आश्चर्य में डाल देती है, उन्हें विक्षुब्ध कर देती है।

कदाचित् विश्व का अन्य कोई समुदाय ऐसी पद्धति का अनुसरण नहीं करता है। हिन्दुओं की यह पद्धति निराली, अद्वितीय है।

यद्यपि ये नमूने एक बिन्दु से लेकर रेखाओं, अर्द्धचन्द्र और वर्णमाला की आकृतियों तक विभिन्न रूप के होते हैं, और इसीलिए अनभ्यस्त आँखों वाले व्यक्तियों को चाहे वे अटपटे प्रतीत हों, तथापि उनका एक गूढ़ार्थ और महत्त्व है।

उन चिह्नों की व्याख्या करने में बहुत सारे गलत और भ्रामक सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया गया है। अब जो व्यक्ति उन चिह्नों को स्वयं भी धारण करते हैं, वे भी कदाचित् इनका अर्थ और माहात्म्य भूल गये हैं, और यदि उनसे कहा जाये कि वे अनजाने व्यक्ति को इनका मूलार्थ, इनका औचित्य समझा दें, तो उनको कठिनाई होगी।

हिन्दुओं में महिलाएँ और पुरुष, दोनों ही, इन चिह्नों को धारण करते हैं किन्तु विभिन्न कारणों और महत्त्व के कारण वे ऐसा करते हैं।

जबकि पुरुषों के मस्तक पर लगे हुए चिह्न आकृतियों और नमूनों में पृथक्-पृथक् प्रकार के हो सकते हैं, हिन्दू महिलाओं की एक बहुत बड़ी संख्या अपने भाल पर गोलाकार, लाल रंग की बिन्दी लगाती है।

यद्यपि हिन्दू पुरुष अपने मस्तक पर इस प्रकार के चिह्न अंकित करने अब उपेक्षा-भाव रख सकते हैं, हिन्दू महिलाएँ सामान्यत: इसे अभी भी

सुकुमार और श्रद्धा-भाव से ग्रहण करती हैं। किसी महिला के मस्तक पर लगा हुआ वह लाल ईंगुर इस तथ्य का द्योतक होता है कि या तो वह महिला कुँआरी है, अन्यथा विवाहिता होने पर उसका पति अभी तक जीवित है। हिन्दू महिला के लिए दाम्पत्य आनन्द जीवन का सबसे बड़ा सुख है। उसकी अपनी मृत्यु से पूर्व उसके पति की मृत्यु के सम्बन्ध में चर्चा का एक शब्द भी उसको असह्य होता है। अविस्मरणीय प्राचीन-युग से उसके मानस में इस धारणा की जड़ें सुदृढ़ रूप में जम जाने के कारण ही वह अपने भाल पर ईंगुर की रक्तिम बिंदिया लगाने के प्रति इतनी सचेष्ट और भावुक रहती है। इस चिह्न की अनुपस्थिति उसके वैधव्य का सुनिश्चित प्रमाण है, और उसके कारण उसके सामाजिक-स्तर और मान-सम्मान में हानि होती है। फिर उसकी जीवन-गाड़ी उस छकड़े के समान चलती है जिसका एक पहिया नष्ट हो चुका हो।

कुछ महिलाएँ माथे पर बिन्दी लगाने की बजाय ऊर्ध्वाधर अथवा पड़ी रेखाएँ लगाना पसन्द करती हैं। कोई विरली महिला ही ऐसी होगी जो काटे का निशान, प्रत्येक कोण पर बिन्दु सहित अथवा रहित, लगाना पसन्द करे। तथापि ये अपवाद ही हैं। कई बार महिलाएँ अपनी मांग में ईंगुर अथवा सिन्दूर भरती हैं। किन्तु सभी मामलों में सिन्दूर अथवा ईंगुर विवाहित अथवा विवाह-पूर्व अवस्था की सुखद घड़ी का द्योतक है।

महिला के मस्तक पर इस रक्तिम चिह्न की विशिष्ट महत्ता पर हिन्दू-समाज में बारम्बार बल दिया जाता है। कहने का अर्थ यह है कि एक पद्धति—रीति विद्यमान है जिसके अन्तर्गत जब कोई कन्या अथवा विवाहिता, सधवा (जिसका पति जीवित है) महिला अपने सम्बन्धियों अथवा मेल-मिलाप वालों के घर जाती है, तों उसके जाने से पूर्व, आतिथेयी महिला सिन्दूर अथवा ईंगुर की अपने घर से एक चुटकी लेती है और अतिथि महिला के मस्तक पर लगे हुए चिह्न को पुष्ट करती है। यह एक अनिवार्यता है और इस पद्धति के पालन में यदि कोई दोष रहा तो वह अभद्र संकट का द्योतक माना जाता है। हल्दी और कुंकुम, ये दो वस्तुएँ हैं जो सभी भारतीय धार्मिक समारोहों में बड़ी शुभ एवं पवित्र समझकर प्रयुक्त होती हैं।

महिलाओं के मस्तक पर शुभ-चिह्न अंकित करने से पृथक्, पुरुष के

ललाट पर अंकित ऐसे चिह्नों का कोई वैवाहिक महत्त्व नहीं है। इन चिह्नों का इस तथ्य से कोई सरोकार नहीं है कि उसकी पत्नी है अथवा नहीं है। किन्तु, फिर भी यह एक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य करता है।

पुरुषों के ललाट पर प्रायः चन्दन, भभूत अथवा केसर का लेपन होता है—विरले ही किसी पुरुष के भाल पर हल्दी अथवा कुंकुम लगा हुआ मिले। तथापि इनकी मनाही नहीं है।

ललाट के मध्य में 'V' आकृति के अक्षर की प्रतिकृति भगवान् विष्णु के शृंगार का एक अंश है, और इसीलिए ऐसा 'तिलक' भगवान् विष्णु के भक्त लगाते हैं। जिनके मस्तक पर तीन अण्डवृत्त अथवा सीधी, पड़ी रेखाएँ होती हैं, वे शिवजी के भक्त, अनुयायी माने जाते हैं। किन्तु इन दोनों वर्गों के मध्य जिस पारस्परिक कटुता की चर्चा की जाती है, वह थोड़ी-धर्मान्ध-संख्या तक ही सीमित है। ये दोनों चिह्न इसलिए तो नहीं बने थे कि वे किसी वर्ण या पंथ-भेद के द्योतक हों। कोई भी व्यक्ति एक दिन भगवान् विष्णु का चिह्न लगा सकता था, और दूसरे दिन भगवान् शिव का त्रिपुण्ड धारण कर सकता था। कोई निषेध नहीं, कोई हठवाद नहीं। तथ्य तो यह है कि हिन्दू जीवन-दर्शन में ईश्वर को एक ही माना गया है। ईश्वर के विभिन्न प्रतिरूप तो दिव्यांश के विभिन्न रूपों और उनकी पृथक्-पृथक् मुद्राओं का प्रतिफलन है जिस प्रकार कोई व्यक्ति एक ही समय पिता, भ्राता, पुत्र, नियोक्ता और कर्मचारी भी हो सकता है, उसी प्रकार ईश्वर भी सृजनकर्ता, संरक्षक, न्यायाधीश, पुरस्कार प्रदानकर्ता, दण्ड-दाता और संहारक है। हिन्दू देवताओं के प्रत्यक्ष बहुरूप अ-हिन्दुओं के लिए भ्रमोत्पादक हो सकते हैं, तथापि एक हिन्दू के लिए तो वे एक ही दिव्य-प्रभु के विभिन्न रूप हैं। इस तथ्य का सर्वोत्तम दृष्टान्त ब्रह्मा, विष्णु और महेश के त्रिदेव-रूप पर दृष्टिपात कर हृदयंगम किया जा सकता है। तीनों मुखाकृतियाँ एक-सी हैं। वे तीनों मिलकर एक ही देव-रूप हैं। अतः शैव और वैष्णवों के मध्य का वैर-भाव बाद की उत्पत्ति है, और इधर-उधर किसी इक्के-दुक्के अति सूक्ष्म दल में ही विद्यमान है। हिन्दू देवगणों में सभी देवता साथ-साथ, सह-अस्तित्त्व की भावना से प्रत्येक व्यक्ति को छूट दे रखी है कि वह स्वतन्त्र है कि किसी देवता को पूजे या न पूजे अथवा किसी ग्रह की अथवा भगवान्

के महान् शक्तिमान सहायक हनुमान की अथवा सभी की इकट्ठी प्रार्थना करें अथवा न करे। यह व्यक्ति की अपनी इच्छा-अनिच्छा है। वे, हिन्दू-मन्दिरों में न केवल एक-साथ विराजते हैं, अपितु एक परिपूर्ण दिव्य-भाव को प्रस्तुत करने में एक-दूसरे के पूरक समझे जाते हैं।

इस बात का ऐतिहासिक प्रमाण भी है। लखनऊ-संग्रहालय में सन् ११५५ ई० का सम्राट् परमर्दि देव का एक शिलालेख रखा हुआ है। उसमें उल्लेख है कि सम्राट् ने अपने राजप्रासाद में भगवान् विष्णु की प्रतिमा स्थापित करायी थी, और साथ-ही-साथ आगरे में अथवा उसके निकट ही भगवान् शिव का स्फटिक-श्वेत मन्दिर भी बनवाया था।

पुरुषों के ललाट पर दर्शनीय चिह्नों का सम्पूर्ण विचार इस प्रकार का प्रमाण, संकेत अथवा छाप प्रदर्शित करना था कि वह व्यक्ति उस दिन के वैयक्तिक स्वस्थता-दायित्वों को निभा चुका था। कहने का भाव यह है कि वह चिह्न अपने सभी साथियों को स्पष्ट सूचित कर देता था कि उस छाप को धारण किये हुए व्यक्ति ने अपने नित्य-कर्मों की अवहेलना नहीं की थी, उसने शुद्धिकारक प्रातःकालीन स्नान किया था, भगवत्भजन किया था, शारीरिक योगाभ्यास किया था, और उस प्रमाण-संकेत के कारण, अपने सभी कर्तव्यों की ईमानदारी से पूर्ति करने हेतु शारीरिक और मानसिक, दोनों ही दृष्टि से योग्य था। वह समाज में भलीभाँति विचरण कर सकता था और अपने सभी दैनिक-कर्मों में दत्तचित्त हो सकता था।

ऐसे ललाट-स्थित चिह्न के किसी नमूने का कोई माहात्म्य नहीं था। कोई भी नमूना वैयक्तिक चयन, पसन्द, पारिवारिक रुचि-सम्पन्नता अथवा परम्परा की बात थी। जिस व्यक्ति की कोई विशेष रुचि अथवा पूर्वोदाहरण नहीं थे, वह व्यक्ति जिस देव-दर्शन को जाता था, उसी के अनुरूप तिलक, त्रिपुण्ड आदि अंकित कर लेता था।

पुरातन-रूढ़िवादी हिन्दू शरीर और मन को स्वस्थ रखने वाला दृढ़-पक्षपोषक और कर्तव्य का पालन करने में अपनी आस्था रखता था—इस तथ्य को अन्य अनेक प्रमाणों से परखा जा सकता है। उदाहरण के लिए, पुरातन पंथी हिन्दू लघुशंका अथवा शौच-निवृत्ति के समय अपने कान पर यज्ञोपवीत (जनेऊ) चढ़ाता है। वह एक ऐसा चिह्न है जो स्वयं उसी के लिए

तथा अन्य सभी के लिए भी इस बात की सावधानी-सूचक चेतावनी है कि वह व्यक्ति इस समय अस्वच्छ-स्थिति में है। वह व्यक्ति उस यज्ञोपवीत को कान से केवल तभी नीचे उतारता है, जब भलीभाँति स्वच्छ हो चुकता है। स्वाधीन भारत के प्रथम राष्ट्रपति स्वर्गीय डॉक्टर राजेन्द्र प्रसाद ने, जो स्वयं पुरातन-पन्थी, रूढ़िवादी हिन्दू थे, अपनी मृत्यु-शैया पर करवट ले ली थी और पास में उपस्थित अपने मित्र से बोले थे कि यज्ञोपवीत उनके कान पर टाँग दिया जाय। इससे स्पष्ट होगा कि एक पुरातन-पंथी, रूढ़िवादी हिन्दू के नाते वे उस जर्जर अवस्था में भी सचेत थे कि उनका शरीर धीरे-धीरे मृत्यु की ओर अग्रसर हो रहा था। चूँकि मृत्यु किसी रोग का परिणाम होती है, और मृत-पिण्ड सड़ता है, इसलिए कान पर लटके हुए यज्ञोपवीत ने सभी सम्बन्धित व्यक्तियों को चेतावनी देने का कार्य किया और समाज-स्वस्थता के हेतु सावधानी बरतने के लिए स्वयं पर स्वैच्छिक संसर्गरोध नियन्त्रित कर लिया।

इसी प्रकार जब किसी घर में कोई मृत्यु हो जाती है, तब मृतक के सम्बन्धियों को अपने ऊपर अस्पृश्यता का एक आत्म-प्रतिबन्ध लगाना होता है—यह समाज की ओर से भी है—जिसकी अवधि २४ घंटे से लेकर १० दिन तक की हो सकती है। यह इस धारणा पर आधारित होती है कि मृतक से जितना निकट का सम्बन्ध किसी व्यक्ति का रहा होगा, वह मृतक की सेवा-सुश्रूषा करता हुआ उतना ही अधिक रोगाणुओं के सम्पर्क में आया होगा क्योंकि मृत्यु किसी-न-किसी घृणित रोग के कारण ही होती है। मृतक की सेवा-सुश्रूषा करते समय शारीरिक निकटता के कारण रोगाणु-संसर्ग की पूरी-पूरी आशंका रहती है। और, इसीलिए हिन्दू-समाज ने शोक-संतप्त परिवार के लिए यह अनिवार्य दायित्व निर्धारित कर दिया कि वह कुछ दिनों के लिए स्वैच्छिक रूप में एकान्तवास करे, जिससे यदि किसी प्रकार का रोग-संसर्ग हुआ हो, तो वह सहज, स्वाभाविक रूप में ही नष्ट हो जाये। इसी प्रकार का एकान्तवास प्रत्येक प्रसूति-कार्य के बाद भी प्रत्येक निकटस्थ सम्बन्धी के लिए विहित था क्योंकि प्रसूति-कार्य अत्यधिक संक्रामक है, पुरातन प्रथानुसार हिन्दुओं में प्रसूति का प्रबन्ध घर में ही किया जाता है (न कि अस्पतालों में)।

मृतक-परिवार के पुरुष-सदस्यों को अपनी दाढ़ी-मूछें व सिर भी मुड़-वाने पड़ते थे। श्मशान तक मृतक के पिण्ड के साथ-साथ जाने वाले व्यक्तियों को भी उनके घरों के भीतर तबतक प्रवेश नहीं मिलता था, जबतक वे घर से बाहर ही स्नान न कर लें और अपने वस्त्रादि न धो लें। प्राचीन हिन्दुओं के वैयक्तिक और सामाजिक आरोग्य के सम्बन्ध में इस प्रकार के सिद्धान्त विश्व के किसी भी भाग्य में अद्वितीय, अनुपम, असमान हैं।

पुरातनपन्थी हिन्दू पाकशाला से सम्बन्धित पुरुषों को भी अनिवार्यतः अपने सिर और दाढ़ी-मूछें बिल्कुल सफ़ाचट कराने पड़ते थे।

भोजन पकाने अथवा खाने से पूर्व स्नान करना ज़रूरी था। स्नान कर लेने से पूर्व इनकी अनुमति नहीं थी। पाकशाला अथवा भोजन-कक्ष में प्रवेश करने के लिए पुरुषों को बिना सिली रंगीन रेशमी धोती पहनना, और महिलाओं को साड़ी व ब्लाउज़—पूर्णतया रेशमी वस्त्र धारण करना अनि-वार्य था। पाकशाला अथवा भोजन-सामग्री से सम्बन्धित किसी भी कार्य अथवा वस्तु के सम्बन्ध में 'आरोग्य'-विनियमादि इतने कठोर थे कि यदि किसी बच्चे को भी तुरन्त सहायता की आवश्यकता होती, तो भी महिला उसे नहीं छूती; और यदि उसे छूना ही पड़ जाए, तो वह महिला पुनः पाकशाला अथवा भोजनकक्ष का कार्य तभी प्रारम्भ कर सकती थी जबकि एक बार पुनः स्नान कर ले और पुनः नवीन (शुद्ध) वस्त्र धारण कर ले।

आज के युग में भी कुछ जैन (हिन्दू) साधु अपने मुख पर पतली कपड़े की पट्टी बाँधकर रखते हैं। इसी बात से अनुमान लगाया जा सकता है कि हिन्दू लोग दैनन्दिन शुद्धता के सम्बन्ध में अपने विचारों को आधुनिक योरोपीय शल्य-चिकित्सा के अति सूक्ष्म कीर्तिमानों तक पहुँचा चुके थे।

दो विशिष्टताओं का उल्लेख करके यह दर्शाया जा सकता है कि मस्तक पर शुभ चिह्न अंकित करना हिन्दू घरों और सामाजिक जीवन में कठोर नियमपूर्वक बनाये रखने वाले आरोग्य का ही एक अंश था। वह व्यक्ति यह शुभ चिह्न अंकित नहीं करता था जो स्नान न करले। बिना स्नान किये इसके लेपन का विधान नहीं था। इस प्रकार, यदि कोई रोगी स्नान नहीं करता था, तो वह उस दिन चन्दन, रोली आदि का लेपन नहीं करता था।

हर्ष के अवसरों पर जब विवाह अथवा सामूहिक भोज प्रारम्भ होते हैं,

तब पत्तल सम्मुख रखे और लकड़ी के पट्टों पर बैठे भोजनार्थ आगन्तुकों के मस्तक पर, आतिथेयी अपने एक सहायक के साथ, चन्दन अथवा केसर का टीका लगाता है जो इस भाव का द्योतक होता है कि अतिथि स्वच्छ है अर्थात् उसने स्नान कर लिया है और निर्धारित वेषभूषा धारण कर रखी है। सहायक व्यक्ति के हाथ में प्रायः चाँदी की कटोरी होती थी जिसमें जल में धुली हुई केसर अथवा चन्दन-लेप होता था। आतिथेयी अथवा उसकी ओर से कोई व्यक्ति एक हल्की-सी दुहेरी चाँदी की जंजीर लिये रहता है। वह उस जंजीर को लेप में डुबोकर प्रत्येक भोजनार्थ आगन्तुक के मस्तक पर आड़ी या पड़ी रेखाएँ अंकित कर देता है। भोजन ग्रहण करने का कार्य, अन्य बातों के अतिरिक्त, इस शोधक-प्रमाणन रीति की समाप्ति हो जाने के बाद ही, प्रारम्भ होता है।

यहाँ इस तथ्य का पुनः उल्लेख कर दिया जाता है कि जैसा कई बार भ्रान्ति-वश समझा जाता है, इस प्रकार, या उस प्रकार तिलक-धारण का अर्थ अपरिवर्तनीय या वैर-भाव गत वर्ग-भेद नहीं था। इस तथ्य को 'हरिहर' नामोल्लेख द्वारा और भी अधिक स्पष्ट दर्शाया जा सकता है क्योंकि 'हरिहर' का अर्थ संयुक्त भगवान् विष्णु और शिव है। यह नाम भारत में जन-सामान्य है। मत-मतान्तरों के समान ही, वर्ण भी निर्बाध-रूप में परिवर्तनीय थे। इसका सर्वोत्तम उदाहरण 'भगवद्गीता' में स्वयं भगवान् कृष्ण के वचनामृत हैं। उन्होंने कहा—

"चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः"

अर्थात् संसार में मनुष्यों का विभाजन, मैंने उनके गुण-कर्मों के अनुसार चार वर्णों में किया है।

यहाँ भी ध्यान रखने की बात है कि उपर्युक्त पंक्ति में किसी भी प्रकार परम्परागत रूप में वर्ण ग्रहण करने का उल्लेख नहीं है।

मत-मतान्तर और जाति-वर्ण आदि का मटियामेट मात्र उस समय हुआ जब भारत को १००० वर्ष की मुस्लिम आक्रमणों और अत्याचारों की भयावह स्थिति में से गुज़रना पड़ा। उससे पूर्व, वे परस्पर परिवर्तनीय, ग्राह्य थे। व्यक्ति की अपनी पसन्द के अनुसार मत-मतान्तरों में सहज अदला-बदली की जा सकती थी। जहाँ तक वर्ण-व्यवस्था का प्रश्न है, वह

तो कुछ कठोर निर्धारित शर्तों, योग्यताओं के अनुसार समाज का वर्गीकरण था। वे सभी, जिनके चरित्र और स्वभाव अज्ञात थे, निम्नतम अर्थात् शूद्र-स्तर से प्रारम्भ होते थे। वे लोग, जो शारीरिक और मानसिक शुद्धता के अनुसार तो परिष्कृत हो सकते थे किन्तु साधारण गृहस्थ की अवस्था से स्वयं को उन्नत नहीं कर सकते थे, वैश्य स्तर से सम्बन्धित थे। वे लोग क्षत्रिय थे जो युद्ध-विद्या और प्रशासन-कार्य में निपुणता प्राप्त करने के इच्छुक तथा देश-हित के लिए युद्ध करने व सर्वस्व बलिदान करने के लिए तैयार थे। ब्राह्मण लोग वे थे जिन्होंने पहले तीनों वर्णों के कर्तव्यों और गुणों में निपुणता प्राप्त करने के बाद भी, मितव्ययता और परित्याग का जीवन व्यतीत करने की तैयारी की थी, जिन्होंने अपने पास कोई सम्पत्ति नहीं रखी, जो सभी प्रकार की विषमतम परिस्थितियों में भी अपना चित्त स्थिर रख सकते थे और आरोग्य-सहायता, शिक्षण, प्रशासन व समाज-कल्याण के कार्य में नि:शुल्क सेवा करने को सदैव उद्यत थे। आवश्यक सामाजिक-परीक्षाओं को उत्तीर्ण कर लेने के बाद व्यक्ति अनुवर्ती वर्ण, श्रेणी में प्रविष्ट हो सकता था। व्यक्ति जितना ऊँचा उठता था, उतनी अधिक उसकी निष्ठा, परित्याग, आत्म-बलिदान और विचार तथा आचरण की शुद्धता होती थी। वह प्राचीन वैदिक परम्परा आज की मान्यताएँ और आदर्शों के बिल्कुल विपरीत थी। आज व्यक्ति जितने उच्च पद पर होता है, उतना ही अधिक उसको पुरस्कार-स्वरूप राशि प्राप्त होती है। शिक्षा अधिक होने से अधिक प्राप्ति होती है। वह तो वास्तविकता में सामाजिक जोंक हो जाता है। इसके विपरीत, हिन्दुओं की आशा-आकांक्षा थी कि व्यक्ति को सामाजिक प्रतिष्ठा जितनी अधिक प्राप्त होगी, वह उतना ही अधिक परहितवादी, आत्म-बलिदानी और निष्ठावान होगा। यही कारण था कि किसी राजगुरु का तनिक-सा विरोधी होना पर्याप्त था कि बड़े-से-बड़ा, शक्तिशाली सम्राट् बिना किसी प्रकार का नू-नच किये राज-सिंहासन परित्याग कर देता था। राज्य की भलाई और व्यक्ति की मुक्ति के लिए प्राचीन हिन्दू जीवन-पद्धति ने अति-परिश्रम और सतर्कतापूर्वक जो मानसिक और शारीरिक शुद्धता का विधान किया था, उसका यह चरमोत्कर्ष थी, उसकी यह परिपूर्णता थी। □□□

हिन्दी साहित्य सदन

2 बी.डी. चैम्बर्स, 10/54, डी.बी. गुप्ता रोड
करोल बाग, नई दिल्ली-110005
दूरभाष : 23553624, फैक्स : 25412417
e-mail : indiabooks@rediffmail.com